प्राक्कथन

लोकनायक श्री राम के पक्षधरों में पर्वतशिखर के समान ऊँचाई तथा कमल केसर के समान सोने के रंग की रूपकान्ति युक्त रणदुर्दभ युवराज अंगद, पवनपुत्र हनुमान तथा वानरराज सुग्रीव के पश्चात् सर्वाधिक लोकप्रिय पात्र हैं। वानरेन्द्र वाली की अन्तिम इच्छा के रूप में अशरण–शरणदाता राघवेन्द्र द्वारा विशेष रूप से रक्षित (तोरेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः) वानर–साम्राज्ञी तारा के इस महाबली पुत्र की वाक्–विदग्धता भी विचक्षण थी। लंका के महासमर में वज्रदंष्ट्र, कुम्भहनु, रावणपुत्र नरान्तक, कम्पन, प्रजंघ तथा महापार्श्व जैसे दुर्दान्त राक्षसों को अपनी क्रोधाग्नि में भस्म करने वाले इस पराक्रमपुञ्ज ने अपनी कुशल वक्तृता से कुम्भकर्ण के आतंक से पलायमान हतमनोबल वानर–योद्धाओं को दुस्साहसपूर्ण वापसी के लिए कटिबद्ध कर दिया था। इन्द्रजित् की गदा छीन उसी के प्रहार से राक्षययुवराज के सारथि, रथ एवं अश्वों को विनष्ट (वा.रा. युद्ध. 43.19) करने तथा अपनी भीषण मारक–क्षमता से कुम्भकर्ण जैसे महाबली को थप्पड़ की मार मात्र से मूर्च्छित कर देने वाला (वही. युद्ध. 67.48) शक्रनप्ता वालिकुमार राजनीति, धर्मनीति, लोकनीति एवं अर्थनीति में भी समानरूपेण निष्णात् था।

समसायिक भू–गोल के अद्भुत ज्ञाता वानरेन्द्र सुग्रीव युवराज अंगद की क्षमता और पराक्रम पर विश्वास कर ही वानरसेना के सर्वश्रेष्ठ एवं मान्य महावीरों–नील, हनुमान, जाम्बन्त, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण, वृषभ, मैन्द, द्विविद, सुषेण (वालि के श्वसुर वैद्यराज तीसरे सुषेण से भिन्न), गन्धमादन, उल्कामुख, अनंग (असंग) को उसके नेतृत्व में देवी सीता की खोज में सर्वाधिक संवेदनशील दक्षिण दिशा तथा रावण के राज्य की ओर भेजा था। उल्लेखनीय है कि लंका के महासगर अपने अप्रतिम शौर्य का परिचय देने वाले इन वानर प्रमुखों के साथ–साथ योद्धाओं की संख्या वानर योद्धाओं की संख्या का सबसे बड़ा भाग बनाती थी।

रामकथा पर आधारित कृतियों में आदिकवि वाल्मीकि का 'आदि–रामायण' अथवा 'वाल्मीकीय–रामायण' प्राचीनतम विवादरहित, बहुश्रुत, बहुपठित एवं सर्वाधिक लोकप्रिय है। रामायण में वालिकुमार अथवा तारापुत्र अंगद का प्रथम उल्लेख तारा द्वारा वालि को सुग्रीव से दूसरी बार युद्ध से विरत करने के प्रसंग में होता है, जहाँ तारा वन में गये अंगद को गुप्तचरों से प्राप्त समाचार से अपने स्वामी को अवगत कराती है। अयोध्यापति (दशरथ) के दो समर दुर्जय पराक्रमी धनुर्धर पुत्रों के सुग्रीव से मित्रता का उल्लेख करती हुई वह वाली को श्री राम के साथ वैर को त्यागने का असफल अनुरोध करती है। रामायण के पाठकों को वालिपुत्र का प्रत्यक्ष दर्शन उस दारुण स्थिति में होता है जब वालिन् सीतापति द्वारा छिप कर किये बाण–प्रहार से मरणासन्न अवस्था में होते हुए भी आर्य राम को उनके कपटाचार के लिए खरी–खोटी सुनाता है। अन्य रानियों के साथ क्रन्दन करती महारानी तारा कभी रघुबर के प्रति रोष प्रकट करती है तो कभी पतिवियाग में पति के साथ सहमरण का दृढ़निश्चय प्रकट करती है। अपने पिता के हत्यारे के प्रति किसी भी भावना के अभिव्यक्ति के स्थान पर अंगद पिता के चरणों को पकड़ विलाप मात्र करता है। किन्तु सामान्य पाठक भी उस विषम एवं दारुण परिस्थिति में अपने पिता के वधकर्ता के प्रति एकमात्र वानर राजकुमार की मनःस्थिति का अनुमान सरलता से लगा सकता है। मरने से पूर्व अपने लाड़ले को श्रीराम के शरण में सौंपने की अन्तिम इच्छा के सम्मान में अंगद ने राघवेन्द्र श्री राम के प्रति अपने रोष अथवा द्वैधीभाव का प्रकटीकरण कभी भी भले ही न किया हो उसके मानसिक द्वन्द्व का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। देवी सीता ने अनुसन्धान के लिए समुद्र–सन्तरण का प्रश्न उठने पर सफलतापूर्वक समुद्र–लंघन का उद्घोष करने वाला वानर युवराज सफल वापसी में सन्देह प्रकट करता है। तुलसी दास ने भी 'रामचरित मानस' में अंगद के मुख से ''जिय संसय कछु फिरति बारा'' कहकर इसी कथन की पुनरुक्ति किया है।

परवर्ती 'हनुमन्नाटक' अथवा 'महानाटक' (10वीं से 14वीं शती ई0 सन् के मध्य की रचना) में अंगद का राम–विरोध अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष उजागर हुआ है। (अंक 8 तथा 3)। 'रामचन्द्रिका' (प्रकाश 26 एवं 38) इसका समर्थन करती है। महानाटक (अंक 8) में तो स्पष्ट उल्लेख है कि अपने दौत्यकर्म के समय अंगद ने रावण का घोर अपमान रावण को क्रोधित कर राम के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रवृत्त करने के उद्देश्य से ही किया था। इसके 14वें अंक में रावण–वध के पश्चात् अंगद राम तथा उनकी सेना को युद्ध के लिए ललकारता है किन्तु कृष्णावतार के समय व्याध के रूप में कृष्ण–वध (रामवध) की आकाशवाणी से वह शान्त हो जाता है।

यह कृति उपन्यास नहीं है। यह कल्पना–प्रसूत गल्प–कथा भी नहीं है। इस ग्रन्थ का प्रमुख आधार यद्यपि वाल्मीकीय रामयण है तथापि इसके लेखन में परवर्ती साहित्यिक कृतियों का उदारतापूर्वक उपयाग किया गया है। हाँ इतना ध्यान अवश्य रखा गया है कि युगों–युगों से चली आ रही मान्यताओं के प्रतिकूल किसी गन्थ विशेष में उल्लिखित तथ्यों का समवेश इस रचना में न किया जाय। रामायण के अतिरिक्त महाभारत, अग्नि, कालिका, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, विष्णु, भागवत, वायु, हरिवंश आदि पुराणों में अंकित सम्बन्धित सामग्री का यथोचित उपयोग किया गया है। रघुवंश, जानकीहरण, राम–लिंगामृत आदि महाकाव्यों एवं महावीरचरित, उत्तरामचरित, वालरामायण, हनुमन्नाटक नाटकों के परिशीलन के साथ जैनग्रन्थों का भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त सामायिक विषय पर लिखे गए विभिन्न सहायक ग्रन्थों में प्रदत्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सामरिक एवं भौगोलिक सामग्री भी आवश्यकतानुसार सहायिका बनी है। सन्दर्भ–सूची के अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में मौलिक एवं सहायक ग्रन्थ के रूप में सम्बन्धित सूची साभार दी गई है।

प्रणति

अंगद की आत्मकथा अन्ततः पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस विषय पर लिखने का आग्रह सर्वप्रथम मित्रवर अरुणेश 'नीरन' ने किया था। उन दिनों मैं जनपद देवरिया (उ0प्र0) का पुलिस–प्रमुख था (1989–92)। महाभारत के पुरुष पात्रों पर आधारित रचना ''साक्षी है महासमर'' के प्रथम खण्ड का लेखन तभी समाप्त हुआ था और मैं महाभारत के नारी पात्रों पर लिखने में व्यस्त था। मेरा प्रयास 'साक्षी है महासगर' को तीन खण्डों में पूर्ण करने का था। प्रथम खण्ड पुरुष पात्रों (धृतराष्ट्र, भीष्म, कर्ण, शल्य, शकुनि आदि) पर पूर्ण हो चुका था। दूसरा नारी–पात्रों (नागकन्या उलुपी, उत्तरा, सुभद्रा, गान्धारी, कुन्ती आदि) पर लिखा जा रहा था। तीसरा खण्ड महाभारत के गाण्डीव (अर्जुन का धनुष) गदा (भीम की गदा) सहदेव की असि, सुप्रतीक (हाथी), शैव्य–सुग्रीव–बालाहक अश्व आदि मानवेतर पात्रों पर लिखा जाना था। मेरी पाण्डुलिपियों तथा मेरे द्वारा एकत्रित सामग्री के नियमित अध्ययनकर्त्ता–पाठक मित्रवर 'नीरन' तथा श्रद्धेय गुरुवर डॉ0 विजय बहादुर राव, प्राचार्य प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर थे। उनको मित्रवर नीरन द्वारा वालिकुमार अंगद पर लिखने का सुझाव इतना अधिक अच्छा लगा कि उन्होंने तारापुत्र पर लिखने का एक प्रकार से अन्तिम आदेश दे डाला। यह मेरा परम दुर्भाग्य है कि आज अंगद की आत्मकथा के प्रकाशन के समय गुरुवर हमारे बीच नहीं हैं। स्व. डॉ. राव न केवल मेरे परमादरणीय गुरु वरन् मेरे लिए सगे अग्रज भाई, परमसुहृद तथ मेरे मार्गदर्शक थे। शैक्षिक–साहित्यिक क्षेत्र में मेरी यात्किञ्चित् उपलब्धि है वह श्रद्धास्पद गुरुदेव काकृपा–प्रसाद मात्र है। 'तुझको तेरा अर्पण का लागे मोरा' की भावना से अपनी यह कृति मैं परम श्रद्धेय डॉ0 विजय बहादुर राव, पूर्व प्राचार्य, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर की पावन स्मृति को हार्दिक सम्मान के साथ श्रद्धा–सुमन के रूप में प्रस्तुत करता हूँ।

दस्तावेज के यशस्वी सम्पादक बन्धुवर विश्वनाथ जी ने 'आत्मकथा' के कुछ अंशों का प्रकाशन कर पूर्व की भाँति इस बार भी मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। ग्रन्थ–रचना के प्रेरक बन्धुवर 'नीरन' तथा मित्रवर विश्वनाथ जी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। डॉ. रामलखन विश्वकर्मा, उपाचार्य संयोजक एवं डीन, शिक्षा संकाय, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई, डॉ. योगेश कुमार गुप्त, उपाचार्य शिक्षा संकाय, हिन्दू कालेज, मुरादाबाद, तथा डॉ0 श्री निवास शुक्ल, उपाचार्य मनोविज्ञान विभाग, महारानी लाल कुँवरि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलरामपुर जैसे मित्रों एवं परमसुहृदय डॉ. राजवन्त रॉव, उपाचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ने अपने बहुमूल्य सुझावों के प्रोत्साहन से लेखन के प्रति मेरी रुझान बनाये रखने में मेरी सहायता की है। इनकी अप्रसन्नता की चिन्ता किये बिना उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ग्राम तेईया जनपद बाँदा (उ0प्र0) के श्री प्रताप नारायण तिवारी ने एक सुधी एवं सहृदय पाठक के रूप में मेरे पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों के पात्रों के सम्बन्ध में अपनी विद्वतापूर्व समालोचनात्मक टिप्पणियों से मुझे बार–बार चौंकाया। बहुत बाद में पता चला कि मेरे ग्रन्थ उनके पास उनके सहोदर अनुज, उरई निवासी मेरे अभियन्ता मित्र श्री आर0 बी0 तिवारी के माध्यम से पहुँचते रहे है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री आर0 बी0 तिवारी की गहरी रुचि के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। मेरे प्रति पुत्रवत् सम्मान का भाव रखने वाले प्रियवर डी0 पी0. सिंह (दिनेश प्रताप सिंह) वरिष्ठ प्रबन्धक, उ0प्र0 पर्यटन, 'होटल इलावर्त्त' एवं 'त्रिवेणीदर्शन' इलाहाबाद ने प्रारम्भ से ही इस कृति के पूर्ण होने में गहरी एवं सक्रिय रुचि का प्रदर्शन किया है। एतदर्थ उनको हार्दिक साधुवाद। उ0प्र0 पुलिस के वरिष्ठतम् अधिकारियों में से एक आदरणीय बन्धुवर विनोद कुमार सिंह (विशेष डी0 जी0 पी0) ने अंगद की आत्मकथा की प्रगति के सम्बन्ध में निरन्तर प्रगति–विषयक जानकारी प्राप्त कर मेरा जो उत्साहवर्द्धन किया है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् प्रो0 शि0 ना0 पाण्डेय औरेया (उ0प्र0) का स्नेहिल प्रोत्साहन मेरे लिए सदैव प्रेरणादायी रहा है। उनको साभार नमस्कार है।

मेरी प्रियपुत्री डॉ0 सुमन लता सिंह, उपाचार्य शिक्षा संकाय, खुनखुन जी महिला महाविद्यालय, लखनऊ ने विभिन्न पुस्तकालयों से आवश्यक सन्दर्भ–सामग्री के एकत्रीकरण में मेरा उल्लेखनीय सहयोग दिया है। मेरी दोनों पौत्रियाँ कुमारी प्रज्ञा एवं कुमारी प्रियांशी तथा दोनों पौत्रों चिरंजीव अनुजित एवं आयुष्मत् आदित्य ने मेरे निजी पुस्तकालय के ग्रन्थों से वाञ्छित् सन्दर्भ तत्परतापूर्वक प्रस्तुत कर मेरे समय और श्रम को बँचाने का सराहनीय कार्य किया है। इन सभी को बारम्बार हार्दिक आशीर्वाद।

'ज्ञानायनी' के यशस्वी सम्पादक आदरणीय बन्धुवर, प्रो0 शिशिर कुमार जी पाण्डेय ने इस कृति की पाण्डुलिपि का अध्ययन का प्रारम्भ से इस ग्रन्थ की समाप्ति तक अपना जो बहुमूल्य मार्गदर्शन दिया है, इसकी भूमिका लेखन से लेकर प्रकाशन तक में जो योगदान दिया है उसके लिए उनका सदैव आभारी रहूँगा। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के यथासंभव शुद्ध एवं शीघ्र टंकण हेतु बन्धुवर काशीनाथ जी, संस्कृत संस्थान, लखनऊ का हृदय से आभारी हूँ। इस कृति के प्रकाशन में . .....द्वारा ली गई विशेष रुचि के लिए मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

जिन कृतियों अथवा ग्रन्थों का अध्ययन इस रचना को जन्म देने में विशेष सहायक रहा है उनका उल्लेख अन्त में समाविष्ट है। मैं उनके रचनाकारों/कृतिकारों के प्रति हार्दिक सम्मान प्रदर्शित करता हूँ।

अन्त में सुधी एवं प्रबुद्ध पाठकों से बारम्बार अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ के अध्ययन के उपरान्त अपने विचारों से अवगत कराने की महती अनुकम्पा करें। उनके विचार मेरे लिए सर्वथा ग्राह्य होगें।

विदुषां विधेयः

डॉ0 अजित कुमार सिंह
गिरिजा–सदन, 2/132, विजय खण्ड,
गोमती नगर, लखनऊ (उत्तरप्रदेश)
दूरभाष : 09415004166

संकेत–सारिणी

अग्नि0 पु0	–	अग्निपुराण
अथर्व0	–	अर्थववेद
अर्थ0	–	अर्थशास्त्र
अध्यात्म0	–	अध्यात्म रामायण
एते0 ब्रा0	–	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋग्वेद0 या ऋ0 वेद0	–	ऋग्वेद
छान्दोग्य0 या छा0 उ0	–	छान्दोग्य उपनिषद्
तैत्ति0 ब्र0 या तै0 ब्रा0	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण
चरक0	–	चरक संहिता
पु0	–	पुराण
पदम पु0 या प0 पु0	–	पद्मपुराण
भगावत0	–	भागवतपुराण
ब्रह्माण्ड0	–	ब्रह्माण्डपुराण
महा0 या म0पु0	–	महापुराण
महाभा0 या महाभारत0	–	महाभारत

(आदि0 – आदि पर्व, सभा0 – सभापर्व, वन0 – वनपर्व, विराट0 –विराट पर्व, भीष्म0 – भीष्मपर्व, द्रोण0 – द्रोणपर्व आदि– प्रथमार्द्ध के बाद पर्व के लिए 0 अंकित है।)

यतुर्0 या यजुर्वे0	–	यजुर्वेद
विष्णु0 या विष्णु पु0	–	विष्णुपुराण
वा0 रा0	–	विष्णुपुराण
वा0 रा0	–	श्रीमद्वाल्मीकय रामायण अथवा वाल्मीकीय रामायण

(बाल0 या 1 – बालकाण्ड; अयो0 या 2. – अयोध्याकाण्ड; अरण्ड0. या 3 –अरण्यकाण्ड; किष्कि0. या 4– किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दर0. या 5– सुन्दरकाण्ड; युद्ध0. या 6– युद्धकाण्ड एवं उत्तर0 या 7– उत्तरकाण्ड)।

स्कन्द0 या स्कन्द0पु0	–	स्कन्दपुराण
सुश्रुत0	–	सुश्रुत–संहिता
हरिवंश	–	हरिवंशपुराण

• • • •

अनुक्रम

1 प्रत्यय

2 प्रयाण

3 प्रत्यक्ष

4 प्रयोग

5 प्रतिष्ठा

6 प्रवेश

7 प्रत्यावर्तन

8 प्रवास

9 प्रणम्य

10 प्रोक्ति

11 प्रस्थान

12 प्रशस्ति

प्रकीर्ण : परिशिष्ट

सन्दर्भग्रन्थ (आधारग्रन्थ) सूची

अनुक्रमार्थ :–

1. **प्रत्यय**– विश्वास, विश्वा, शपथ, ज्ञान, सहकारी, प्रतीति
2. **प्रयाण**– प्रस्थान, गमन, युद्ध के लिए प्रयाण
3. **प्रत्यक्ष**– चाक्षुष, आमने–सामने, अपरोक्ष
4. **प्रहार** – आघात
5. **प्रतिष्ठा**– गौरव
6. **प्रवेश**– अन्दर आना, निर्गम का विलोम
   आगम–अन्दर–प्रवेश, ''निर्गमे–प्रवेश च''
   कामन्दकीयनीतिसार 7/39 (7/39)
7. **प्रत्यावर्तन**– वापसी
8. **प्रवास**– विदेश में रहना, मूलभूमि को छोड़कर अन्यत्र रहना
9. **प्रणम्य**– साष्टांग अभिवादनीय (जिनको साष्टांग नमन अथवा प्रणाम किया जाता है)।
10. **प्रोक्ति**– विशेष कथन
11. **प्रस्थान**– वानर वीरों की अयोध्या में वापसी
12. **प्रशस्ति**– प्रशंसा, सम्मान
13. **प्रकीर्ण** – परिशिष्ट
14. **lUnHkxUFk**– (आधारग्रन्थ) सूची

– 1 –

प्रत्यय

मैं अंगद हूँ..... युवराज अंगद..... परमशक्तिशाली तपोपूत वानरेन्द्र श्री बाली का एकमात्र पुत्र एवं उत्तराधिकारी.....। मेरा यह परम सौभाग्य है कि रघुकुलतिलक प्रभु श्रीराम के अनुज तथा प्राणप्रिय भैया लक्ष्मण ने अपनी उपस्थिति में वानरः अधिराज्य के युवराज पद पर मेरा विधिवत् अभिषेक कराया है। विधाता की मुझ पर असीम् कृपा की फलश्रुति है यह कि यशस्वी वानरकुल में उत्पन्न जम्बूद्वीप के सर्वश्रेष्ठ भिषगाचार्य सुषेण मेरे पूजनीय मातामह तथा समकालीन मल्लयोद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ द्विविद और रणदुर्दम पूर्व वानर सेनाधिपति मैन्द मेरे आदरणीय मातुल हैं। आर्यसंस्कारों में पितृगृह में पली–बढ़ी बहुभाषा विशारदा, शकुन–विचारण में प्रवीण मंगलमूर्ति देवी तारा के गर्भ से जन्म लेना ईश्वर के असीम अनुकम्पा के बिना संभव नहीं है। अदृश्य की प्रेरणा से अपनी आत्मकथा के संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण का मेरा निश्चय भी उसी की अनुकम्पा के कारण संभव हो पा रहा है। वाक् देवी से प्रार्थना है मेरे आत्मकथन को सुपाठ्य, सुग्राह्यय एवं संग्रहणीय होने का आशीर्वाद प्रदान करें।

मैं अंगद हूँ। यशस्वी वानर–अधिराज अतुल पराक्रम वाली तथा परम विदुषी, वानर–महिषी माँ तारा का जन्मना भाग्यशाली किन्तु पितृहीनता के कारण अभागा पुत्र... किष्किन्धा–महापुरी के वानर अमात्यों, बहुसंख्यक यूथपों, यूथप–यूथपों तथा लगभग सम्पूर्ण वानर प्रजा की भविष्य की आशा का एक मात्र आश्रयस्थल उनका भावी सम्राट... सर्वप्रिय अंगद। मैं साक्षी हूँ प्रारम्भ में परस्पर विश्वास की अखण्डित मूर्ति रहे दो सहोदर वानर भाईयों के अगाध प्रेम तथा अनुरक्ति का.....। मैं साक्षी हूँ एक–दूसरे पर अपने प्राणों को न्यौछावर

करने को सतत उद्यत् दो परम स्नेही भाइयों को एक दूसरे का परम शत्रु बनते देखने का....। मैं साक्षी हूँ उस दारुण दुर्घटना का जो घटती है– एक शत्रु बने अनुज की अपने स्नेहशील अग्रज की हत्या के रूप में। ..... मैं साक्षी हूँ खर, दूषण एवं त्रिशिरा जैसे शक्तिशाली राक्षस सेनानियों का ससैन्य एकाकी विनाश करने वाले तथा विराध तथा कबन्ध जैसे आततायियों को यमसदन पहुँचाने वाले धर्मधुरीण(?) आर्य श्री राम के द्वारा बधिक की भाँति छिप कर अपने पराक्रमपुञ्ज पिताश्री के कपटवध का....।

मैंने अनुभव किया है पितृवध की परम दारुण घटना से अन्तस् में उत्पन्न मनोभावों के द्वन्द्व के भयंकर झंझावात का। मैंने अनुभव किया है पितृहन्ता सीतापति के प्रति अपने मन में उमड़ते–उबलते रोष के भयंकर विषधर के दाहक फुँफकार का। ....मैंने अनुभव किया है परमोदार श्री राम तथा स्नेहमूर्ति भैया लक्ष्मण के अपने प्रति घोर अपनत्व, प्रगाढ़ स्नेह, असीम दुलार, अगाध विश्वास की निरन्तर ऊष्मा से पिघल कर तीव्रगति से बाहर निकलते मन की घृणा तथा रोष के लावा का। मैंने प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया है राघवेन्द्र के कुछ दिनों के सान्निध्य में रहने से उत्पन्न आशुकोपी पितृव्य सुग्रीव के व्यवहार में आये चमत्कारी परिवर्तन से उत्पन्न अपने प्रति पश्चातापजनित उनके निश्च्छल स्नेह तथा वात्सल्य के प्रभञ्जन–प्रबाह का। मैंने साश्चर्य देखा है मुझ पर मातृवत् स्नेह करने वाली माता जानकी ने किस प्रकार मेरी माँ देवी तारा को अपनी प्रियसखी का सम्मानित सम्बोधन तथा अपने समकक्ष स्थान प्रदान किया है।...भैया लक्ष्मण तथा भाभी माँ देवी उर्मिला ने तो अपने ज्येष्ठपुत्र को मेरा नाम ''अंगद'' प्रदान कर जन्म–जन्मान्तरों के लिए मुझको इक्ष्वाकु कुल का क्रीत दास बना लिया है। .....अपने उतार–चढ़ाव भरे जीवन में मैंने यह भी अनुभव किया है कि मानव मन में उपजे घृणा, रोष एवं अविश्वास के शिलाखण्डों के गलते ही उनके स्थान पर किस प्रकार श्रद्धा और भक्ति का हिमवान जन्म लेता है।

समझ में नहीं आता अपना आत्मकथन कहाँ से प्रारम्भ करूँ..... किस प्रकार इसका श्री गणेश करूँ..... कहाँ इसकी इति हो? किसी भी व्यक्ति क लिए, चाहे वह कितना बड़ा विद्वान तथा निष्पक्ष क्यों न हो, अपने जीवन के समस्त अनुभवों, अर्जित ज्ञान तथा अनुभूत तथ्यों का पुनर्प्रस्तुतीकरण दुष्कर होता है...विशेषरूप से ऐसे आत्मानुभवों का जो श्री विष्णु के अंशावतार के रूप में पूजित हो रहे मर्यादा पुरुषोत्तम के सान्निध्य में प्राप्त हों।..... पुनरपि अपनी आत्मकथा को संक्षेप में प्रस्तुत करने का साहस कर रहा हूँ भावनाओं के अतिरेक में यदि कहीं पुनरुक्ति दोष आ जाय अथवा तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में किञ्चित् विरोधाभास अथवा व्यतिक्रम परिलक्षित हो, सुधी पाठक मेरी वानर–बुद्धि की चञ्चलता समझ मुझे क्षमा कर देंगे, –ऐसा मुझको पूर्ण विश्वास है।

देवों, आर्यों, असुरों, राक्षसों, गन्धर्वों किन्नरों, यक्षों, दैत्यों, दानवों, नागों, गृद्धों, शबरों आदि विभिन्न मानव समूहों की भाँति हम वानर भी बुद्धिसम्पन्न सुव्यवस्थित शासनतंत्रयुक्त, वस्त्राभूषण प्रेमी एवं विशिष्ट भाषाभाषी पृथक् मानव समूह हैं। देवों, दैत्यों, राक्षसों, असुरों, आर्यों आदि की भाँति हमारा इतिहास भी अतिपुरातन तथा गौरवशाली रहा है।

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी के भृगु, अंगिरस, मरीच, अत्रि, वसिष्ठ, ऋतु, पुलस्त्य एवं पुलह नामक आठ मानस पुत्रों में से एक पुलह का विवाह अन्य की भाँति दक्ष प्रजापति की कन्या प्रीति के साथ हुआ था। दक्षप्रजापति द्वारा अपने पति भगवान शंकर के अपमान से कुपित दक्षकन्या एवं शिव–पत्नी सती के आत्मदाह से अप्रसन्न शूलपाणि के गणों द्वारा दक्षा के उपरांकित दसों जमाताओं का वध हुआ। पुलह ऋषि की हरिभद्रा आदि अनेक पत्नियों में से एक हरिभद्रा के गर्भ से उत्पन्न वानर, गोलांगूल, नील, मार्जार, किन्नर, द्वीपिन आदि संततियों को सामूहिक रूप से 'हरि' अथवा 'हरिगण' सम्बोधन प्राप्त हुआ। कालक्रम से सिमटते–सिकुड़ते हम वानरों की

ऋक्ष, सुग्रीव, केसरी, अग्नि तथा शरभ ये पाँच शाखायें ही वर्तमान में बहुश्रुत एवं सुख्यात रह गई हैं।

कतिपय पुरा शास्त्री प्रतीक चिह्नों को धारण करने अथवा 'टोटमवाद' के आधार पर वानरों की ऋक्ष, गोलांगूल तथा वानर तीन प्रमुख शाखायें मानते हैं। किन्तु श्री राम तथा रावण के मध्य हुए लोमहर्षक संघर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के पश्चात् वानरों के ऋक्ष, सुग्रीव आदि ऊपर वर्णित पाँच शाखायें ही सुख्यात् हो रही हैं। ऋक्ष शाखा में वानरराज ऋक्षराज तथा प्रजापति की पुत्री चारुहासिनी के पुत्र महेन्द्र एवं उनके पुत्रगण महाराज बाली एवं सुग्रीव की गणना की जाती है। ऋक्षराज के नाम से सुख्यात् जाम्बवन्त जी इसी वंश के हैं।[1] सुग्रीव–शाखा वस्तुतः कोई स्वतंत्र शाखा न होकर ऋक्ष शाखा की ही है, किन्तु लंकायुद्ध के उपरान्त मेरी, मेरे पुत्र, मातुल मैन्द की पत्नी से उत्पन्न ध्रुव तथा पितृवया रुमा देवी से उत्पन्न अंग आदि की गणना अब सुग्रीव शाखा के नाम पर होने लगी है। त्रिभुवन–ख्यात रामभक्त हनुमान जी के कारण उनके पिता के नाम पर केसरी शाखा अस्तित्व में आई है। देवी अञ्जना के गर्भ से उत्पन्न श्रुतिमान, केतुमान, मणिमान तथा धृतिमान नामक हनुमान जी के चारों अनुजों की गणना इस शाखा में की जाती है। अग्नि शाखा में मातामह सुषेण, गन्धमादन, गवय, नल,नील आदि आते हैं।[2] अभी हाल ही में जाम्बन्त के पुत्र महाबली शरभ के नाम पर पृथक् शरभ–शाखा अस्तित्व में आई है।[3]

कतिपय अभ्यासकों के अनुसार ऋक्ष या रीछ शाखा के वानर अपने ध्वज पर ऋक्ष का चिह्न धारण करते हैं तथा इसी शखा में जाम्बवान जी सहित कतिपय महावीर ध्वज–चिह्न के अतिरिक्त ऋक्ष (रीछ) का मुखौटा भी धारण करते हैं। कुछ वानर 'गोलांगूल' गाय की पूँछ के समान पुच्छ धारण करते हैं। गोलांगूल कृष्णा वर्ण तथा भयंकर रूपाकृति के अत्यन्त बलशाली होते हैं।[4] अन्य वानर शाखा के लोग अपनी ध्वजा पर वानर चिन्हांकन के साथ ही पूंछ भी

धारण करते हैं। अन्य मानवसमूहों से अत्यन्त दूरी बनाये रखने के कारण हम 'वनवासी' अथवा 'वनेचर' वानरों के सम्बन्ध में आर्यों सहित अन्य मानवसमूहों में हमारे विषय में अनेक दन्तकथायें अस्तित्व में आ गई हैं। हमारे सम्बन्ध में अल्प जानकारी के कारण अनेक पढ़े–लिखे आर्यजन भी हम वानरों को वृक्षों पर रहने वाले 'शाखामृग'' (बन्दरों) से अभिन्न मानते हैं।

वस्तुतः आकार–प्रकार अथ्वा रूपाकृति में आर्यों, राक्षसों, वानरों, यक्षों, नागों, गीधों, सिद्धों, चारणों आदि में कोई मौलिक भेद नहीं है। इतना अवश्य है कि तपस्या एवं साधना, योग एवं निरनतर अभ्यास के बलपर आर्येत्तर वर्ग के लोगों में कुछ ने इच्छानुसार रूप धारण करने, अदृश्य और प्रकट होने, आकाशचारी होने, प्रसन्न होने पर इच्छित वरदान करने, रुष्ट होने पर अहित करने की शक्तियाँ प्राप्त कर लिया है। जब कभी किसी कारण विशेष से दो वर्गों के लोगों का चिरकालिक मिलन होता है अपेक्षाकृत कठोर अथवा रुढ़ संस्कृति के कम प्रभावशाली लोग, शक्तिसम्पन्न, प्रभावशाली एवं विस्तारवादी संस्कृति द्वारा उदरस्थ कर लिए जाते हैं। कालचक्र ने आज यक्ष, गन्धर्व, दैत्य, दानव संस्कृति को पुराकथाओं का विषय बना दिया है। नाग एवं गीध भी आज निष्प्रभावी हो चुके हैं। आज की राक्षस तथा वानर संस्कृतियाँ भी आर्यसंस्कृति के प्रभाव के समक्ष नतमस्तक हो चुकी हैं। यदि यही स्थिति बनी रही तो वे दिन दूर नहीं है जब राक्षस तथा वानर सभ्यतायें भी आर्यसंस्कृति में निमज्जित हो पुराण कथाओं की विषय–वस्तु बन जावेगीं।

अब मैं पुनः अपने पूर्वजों की ओर लौटता हूँ। वानरोपासना अथवा वानर चिन्हांकित ध्वजा को धारण करने के कारण कालान्तर में 'हरिगण' वानर नाम से सुख्यात् हुए। हम वानरों में प्रारम्भ में गणतंत्रात्मक प्रणाली थी। वानर जनता अपने प्रतिनिधि 'राजा' का चयन करती थी। ये राजागण मिल कर राजप्रमुख का चुनाव करते थे जो राजाओं की अमात्य–परिषद की सलाह से शासन–तंत्र का

संचालन किया करता था। पश्चात्वर्ती युगों में राक्षसों, आर्यों तथा अन्य मानव समूहों में राजा को विशेषाधिकार मिलने के साथ ही राज–पद आनुवंशिक होने लगा। इससे वानर समाज भी अछूता न रह सका। कालान्तर में अमात्य–परिषद के लोग भी सामान्य जनता में सचिव अथवा मंत्री के साथ ही साथ 'राजा' विरुद् से भी सम्बोधित होने लगे।

हमारे पुराकथाकार वानरों के प्रमुख राजाओं अथवा राजप्रमुखों में अतीन्द्र, श्रीकंठ, वज्रकंठ, वज्रप्रभ, इन्द्रमत, मेरु, मन्दर, समीरण, गति, रविप्रभ, अमरप्रभ कपिकेत, प्रतिबल, गगनानन्द, खेचरानन्द, प्रतिचन्द्र, किष्किन्ध, अन्धकरुढ़ि, सूर्यरज तथा ऋक्षरज की गणना करते हैं। कहते हैं कि राजा श्री कंठ ने लंका के निकटस्थ वानर द्वीप में किष्कुपुर की स्थापना की थी। यक्षों एवं असुरों के साथ सम्बन्धों में दरार के कारण हमारे प्रपितामह वानरेन्द्र किष्किन्ध ने 'तुंगभद्रा' के तट पर' किष्किन्धनगर' को बसाया। पूज्य पिता श्री के राजत्वकाल में 'किष्किन्ध' को परिवर्द्धित एवं सम्बर्द्धित कर किष्किन्धा महानगरी बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

वानर–चारणों के अनुसार वानरों का लंका से निकट–सम्बन्ध चिरपुरातन है। इन पौराणिकों के अनुसार लंका पर वरिष्ठता क्रम से राक्षसों, यक्षों तथा दानवों के अधिकार के बहुत पहिले लंका के किसी प्राचीन वंश के राजा कीर्तिधवल ने अपने साले वानरराज श्रीकंठ को अपने द्वीप के सन्निकट राज्य करने हेतु एक अति रमणीय तथा सुरक्षित द्वीप प्रदान किया था। वानरों के कारण उक्त द्वीप 'वानर–द्वीप' के नाम से सुख्यात हुआ। कालान्तर में लंका तथा वानरद्वीप पर असुरों तथा दानवों के बढ़ते आधिपत्य ने श्री कंठ के नेतृत्व में वानरों को इस द्वीप का परित्याग कर समुद्रपार कर भरतक्षेत्र के विजयार्द्ध पर्वत (ऋष्यमूक पर्वत) पर बसने को विवश किया। वानर द्वीप से आत्मनिर्वासन को विवश वानरों ने, कालान्तर में ऋषामूल तथा दण्डकवन के विस्तृत भू–भाग पर विभिन्न क्षेत्रों में अपना वर्चस्व

स्थापित किया।[5] ऋष्यमूक पर्वत उनकी शीर्ष–सत्ता का प्रमुख केन्द्र बना तथा महाराज किष्किन्ध के समय किष्किन्धापुरी उनकी राजधानी।

कुछ व्यक्ति किसी इतिहास–प्रसिद्ध महान कुल में उत्पन्न होने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं तो कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको घटनायें महान् बना देती हैं चाहे वह किसी अतिसामान्य अथवा अल्पख्यात् कुल में ही क्यों न उत्पन्न हुए हों। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी सुख्याति में दोनों का योगदान होता है। श्री राघवबन्धु के साथ यही हुआ। जम्बूद्वीप के सर्वज्ञात् महान इक्ष्वाकुकुल में श्री राम तथा उनके अभिन्न सहयोगी अनुज श्री लक्ष्मण का जन्म हुआ। शास्त्र एवं शस्त्र विद्याओं पर समान अधिकार रखने वाले महर्षि कौशिक विश्वामित्र के सान्निध्य में अल्पवय में ही किये गये उनके महान क्रियाकलापों ने उन दोनों को वैश्विक ख्याति दी। वनवास–अवधि में भी तापस–वेषधारी युगल– बन्धुओं ने अपनी अकल्पनीय क्षमता के बल पर आर्य तथा आर्येतर वनवासियों को समान रूप से आततायियों के आतंक से मुक्ति दिलाई। ऐसे यशस्वी सेनाधिपति श्री राम के अधीन, त्रैकोक्यविजयी रावण की दिव्यास्त्रों से युक्त मायावी राक्षसी–सेना के साथ हम वानरों का सफलतापूर्वक युद्ध सर्वथा मंगलकारी सुखद सुयोग रहा। इस अकल्पनीय लगने वाली सफलता ने हम वानरों को न केवल अन्तर्राष्ट्रीय सुख्याति दी वरन् हमें अर्द्धसभ्य एवं अतिपिछड़ा मानने वाले आर्यों को वानरों में देवताओं का अंश स्थापित कर हमें सम्पूजित करने को विवश किया। ज्येष्ठ राघव तथा उनके अनुज श्री लक्ष्मण का अगाध विश्वास तथा अखण्डित प्रेम हमने प्रस्रवणगिरि से लंका युद्ध तक देखा और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किया। अपने अयोध्या प्रवास की अवधि में हमको श्री राम तथा श्री लक्ष्मण के साथ ही साथ श्री भरत एवं श्री शत्रुघ्न के अद्‌भुत स्नेह बन्धन को निकट से देखने एवं जानने का अवसर मिला। हम वानरों ने पहली बार देखा कि किस प्रकार चारों भाईयों ने अयोध्या की अधिसत्ता को अति तुच्छ मानते हुए उसको ठुकराते हुए परस्पर सम्बन्धों को महनीय माना था।

इस घटना ने तो पितृव्य सुग्रीव महाराज के व्यवहार में चमत्कारी परिवर्तन को जन्म दिया। परिवर्तित हृदय पितृत्य ने अपने अग्रजवध के निमित्त बनने के प्रायश्चित स्वरूप सम्पूर्ण वानरसत्ता मुझे सौंप स्वयं को प्रभु श्री राम की भक्ति में लीन कर लिया। आयु में मुझसे बड़ा होते हुए भी सुख्यात् यूथप पनस की पुत्री पितृव्या रुमा देवी के पुत्र अंग को अपने अनुजों सहित मेरा अनुगामी बनाने में पितृव्य के मेरे प्रति सर्वथा परिवर्तित व्यवहार का प्रमुख हाथ रहा है।

संगठित जीवन हमारी शक्ति तथा विकास का प्रमुख कारण रहा है। दक्षिण दिशा की ओर से सत्ता लोभी, सर्वभक्षी, नारीलुष्ठक राक्षसों के बढ़ते दबाव के समक्ष हमारे स्वातंत्र्य–प्रेम तथा हमारी एकजुटता ने हमारी आत्मरक्षा की भावना को सबलता तथा सुदृढ़ता प्रदान किया। हमारे कुलबृद्धों, सेनानियों, यूथपतियों ने बचपन से ही हमें सिखलाया–पढ़ाया कि सामूहिक शक्ति, वैयक्तिक शक्ति की तुलना में सर्वथा अजेय और अभेद्य होती है। क्षिप्रता अथवा चलपता एवं अतिभावुकता हमारे प्राकृतिक गुण हैं। किन्तु हमारे यही गुण उस समय हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता बन जाते हैं जब परिस्थितिवश हमको अपनी उपस्थिति छिपाने की आवश्यकता होती है। इसी भाँति न तो हम अपना हर्ष ही छिपा पाते हैं न ही विषाद के क्षणों में पर्याप्त संयम रख पाते हैं। हमारे आचार्य एवं कुलबृद्ध हमको ''संघे शक्ति युगे–युगे'' का उपदेश बार–बार देते रहते हैं। यही कारण है कि ऋक्षराज जाम्बवान जी जैसे वयोवृद्ध तथा अनुभवी वानर–प्रमुख ने देवी सीता की खोज में गये खोजी दल को किसी भी स्थिति में विशृंखलित न होने का सुझाव दिया था। यह सत्य है कि यदि हम समूह के स्थान पर अलग–अलग एकाकी फैलकर देवी सीता का अनुसंधान करते तो महाराज सुग्रीव द्वारा अनुसंधान कार्यहेतु निध ार्रित एक मास की अवधि व्यतीत न हुई होती, किन्तु यह भी ध्रुवसत्य है कि समूह में रहने, सामूहिक निर्णय के अनुसार अनुसंधान–कार्य करने के कारण ही हम अपना एक भी साथी खोये बिना अपनी

सुरक्षित एवं सफल वापसी को मूर्त रूप दे सके थे। अपने नेता के नेतृत्व में पूर्ण आस्था हम वानरों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण जन्मजात गुण है।

वानर जाति विभिन्न समूहों में विभक्त है, जिनको 'यूथ' कहा जाता है। दुर्धर, केसरी, गवाक्ष, कुमुद जैसे वानर–वीर ऐसे ही यूथपों में हैं। कई यूथों को मिलाकर एक 'वृहद् यूथ' गठित होता है जिसका प्रभारी 'यूथप–यूथप' कहलाता है। सन्नादन तथा जाम्बवानजी जैसे वयोवृद्ध वानर महावीर इस श्रेणी में गिने जाते हैं। भावी राजा अथवा युवराज की सामाजिक–प्रशासनिक स्थिति ''महायूथप–यूथप'' से श्रेष्ठतर होती है। प्रमुख सेनापति नील इस समय वानरों का ''महायूथप–यूथप'' है। वानरों की सर्वोच्च सत्ता–शक्ति वानरेन्द्र अथवा वानरराज में सन्निहित होती है। विभिन्न यूथों के कुलबृद्ध, यूथप अथवा उनके प्रतिनिधि किष्किन्धा की वानरराज की राजसभा के नियमित सदस्य होते हैं। आवश्यकता होने पर वानरराज की आज्ञा से प्रमुख सेनापति अथवा ''महायूथप–यूथप'' विभिन्न वानर–राज्यों में राजाज्ञायें भेजता है। रावण के विरुद्ध प्रयाण की राजाज्ञा पर विभिन्न राज्यों से वानर सेनायें अपने साथ पर्याप्त मात्रा में भोजनसामग्री, कन्दमूल, फल तथा मधु लेकर अपनी राजनगरी किष्किन्धा में आई थीं।

वानर अथवा 'कपिराज्य'[6] का संचालन वानरेन्द्र अपनी अमात्यपरिषद की सहायता से करता है। बिना अमात्य के राजा के अस्तित्व तक की कल्पना वानरों में नहीं है। यही कारण है कि निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे वनवासी पितृव्य को भी उनकी आवश्यकता पड़ी थी। जाम्बवान जी, हनुमान, नल तथा नील उनके चार प्रमुख अमात्य थे। आर्यों तथा राक्षसों की भाँति वानरों में भी राजा की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाया जाता है। राजा के अपुत्रक होने की स्थिति में अमात्यपरिषद राजा के छोटे भाई को उत्तराधिकारी घोषित करती है। यही कारण है कि पितामह की मृत्यु के पश्चात् पुत्रहीन पिता श्री को वानरराज तथा

पितृव्य सुग्रीव को युवराज घोषित किया गया था। पिता श्री का पितृव्य पर पुत्रवत् स्नेह उनके जीवन के अन्तिम वर्षों तक दोनों में मतभेद उग्र होने तक बना रहा। यही कारण है कि उन्होंने अपने अनुज के राज्यनिष्कासन के पश्चात् भी उनके निकट सम्बन्धियों का अहित नहीं किया था। यही नहीं पिताश्री ने सक्षम होते हुए भी दो–दो बार द्वन्द्व–युद्ध की स्थिति में अपने अनुज का वध नहीं किया।

कृतज्ञता तथा स्वामिभक्ति हम वानरों के प्रमुख प्राकृतिक गुण हैं। इसी लिये देवी सीता के अनुसंधान में विलम्ब से कुपित सौमित्र को अपने मधुर व्यवहार तथा प्रियवचनों से शान्त करते हुए माता तारा ने कहा था, ''महाराज सुग्रीव श्री राम के कार्य के लिए रुमा, मेरा, सम्पूर्ण राजकोष, अन्न भण्डार तथा पशुधन का त्याग करने में तनिक भी संकोच नहीं करेगें।[7]

वानरों को फलाहार तथा कन्द–मूल का सेवन अतिप्रिय है, किन्तु हम विभिन्न प्रकार के खाद्यान्नों से भी भली–भाँति परिचित हैं। वानरों के राजकीय खाद्यान्न भण्डार में विभिन्न प्रकार के अन्न फलों, कन्दमूलों एवं मधु तथा पेयों का संरक्षण किया जाता है। वानरराज का पारिवारिक राजभाण्डार भी विभिन्न प्रकार के फलों, कन्दमूलों, पेयों तथा विभिन्न प्रकार के अन्नों से सर्वथा परिपूर्ण है। गोधन की दृष्टि से भी वानर राज्य सम्पन्न है। मधुप्रेमी वानरों में शहद को दूध तथा दधि में मिलाकर पान करने की विधि बहुप्रचलित है। कन्दमूलों, फलों तथा अनाज से निर्मित विभिन्न प्रकार की सुरा के निर्माण से वानर सुपरिचित हैं, किन्तु सामान्य वानरों में मद्यपान को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

वस्त्रालंकरण धारण करने में वानर, राक्षसों तथा आर्यों से बहुत पीछे नहीं है। दक्षिण समुद्र के निवासी राक्षसों तथा मध्य एवं उत्तर देश के निवासी आर्यों के मध्य अपने बाहुबल से शक्तिसम्पन्न, स्वतंत्र वानर–राज्य के संस्थापक पिताश्री की राजधानी भौतिक–आर्थिक सम्पन्नता में लंका तथा अयोध्या से कम सम्पन्न नहीं रही है। किष्किन्धा

के राजप्रासाद में रत्नजटित स्वर्ण आसनों, स्वर्ण–रजत निर्मित पर्यंकों तथा अन्तःपुर की भव्यता और समृद्धि देख श्री रामानुज की आँखें चौंधियाँ गई थीं। पलंगों पर पड़े शयन–आस्तरणों (विस्तरों) पर विभिन्न प्रकार की रंगीन चादरों (कृमिराग–परिस्तोम)[8] को बिछाने का प्रचलन वानरों में है। प्रायः सभी वानर स्त्री–पुरुष एक अधोवस्त्र तथा एक उपरिवस्त्र अथवा उत्तरीय अवश्य धारण करते हैं। योद्धागण कमर में 'कच्छा' धारण करते हैं। सम्पन्न परिवारों तथा राज परिवारों में रत्नजटित क्षौम तथा कौशेय वस्त्र धारण किये जाते हैं। स्त्री–पुरुष दोनों रत्नजटित कुण्डल कानों में धारण करते हैं। तप्तकाञ्चनकुण्डलों की लोकप्रियता विवाद रहित है। स्त्री–पुरुष गले में 'हार' 'ग्रेवेयक' 'माला' अथवा 'निष्क' धारा करते हैं। स्त्री–पुरुष समान रूप से 'अंगुलीयक' अथवा अंगूठी धारण करते हैं। सम्पन्न वानर महिलायें हाथों में 'पारिहार्य' (चूड़ियाँ) तथा रत्नवलय (कंगन) धारण करती हैं। सुन्दर एवं प्रभावशाली दीखने के लिए स्त्री–पुरुष दोनों ''प्रतिकर्म'' पर समान रूप से ध्यान देते हैं।

पुरुष वानरों में दाढ़ी तथा मूँछ रखने का प्रचलन है किन्तु अनेक ऐसे भी हैं,जो दाढ़ी नहीं रखते हैं। 'कुञ्चितकेश' तथा ''सुकेश'' वानरों में लोकप्रिय हैं। क्षौर कर्म के लिए निपुण नापितों की व्यवस्था है। अयोध्या में तो नापितों को 'श्मश्रुवर्द्धक' एवं ''सुखहस्त'' भी कहा जाता है। वहाँ के नापित पुरुष केशों को मनचाहे ढंग से संवारने में सक्षम हैं। अयोध्या की भाँति किष्किन्धा के स्त्री–पुरुष भी 'गन्ध–शास्त्र' से सुपरिचित हैं। ''रक्त'–'चन्दन', 'अगुरु', 'अंगराग', 'पद्मनिःश्वास' के सम्यक् प्रयोग में वे निपुण हैं।

आकार में राक्षसों की लंका तथा इक्ष्वाकु–नगरी अयोध्या की अपेक्षा लघु होते हुए भी वानरों की राजनगरी किष्किन्धा समृद्धि एवं स्थापत्य में अत्यन्त आकर्षक हैं। महापुरी के रूप में सुख्यात् किष्किन्धा के श्वेत–शुभ्र भव्यभवनों की पंक्तिबद्ध कतारें चन्द्रमा के निर्मल प्रकाश में इनके रजत–सौध होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं। बहुखण्डीय

भवनों की पंक्तियों में अनेक भवन ऊँचाई में सप्तखण्डीय हैं। भवनों के द्वार, अम्लान एवं सुगन्धित श्वेत पुष्पमालाओं से सज्जित हैं। बाहर से देखने से ही इन भवनों की भौतिक सम्पदा, प्रचुर अन्न, फल, कन्दमूलादि से परिपूर्णता तथा इनमें रहने वाले पुरुषों तथा सुन्दरियों की सुरुचि–सम्पन्नता का सहज अनुमान हो जाता है। जहाँ तक राजभवन अथवा राजप्रासाद का प्रश्न है विस्तृत भू–भाग को घेर कर निर्मित श्वेत एवं ऊँची प्राचीर के अन्दर प्रवेश करने पर ही उसकी भव्यता तथा समृद्धि का पता चल जाता है। ऊँची तथा सुदृढ़ रक्षा–प्राचीर के अन्दर सानुमति प्रवेश कर्ता को स्फटिक प्रस्तर–खण्डों से निर्मित भव्य बहुखण्डीय शुभ्र प्ररसाद दिखलाई पड़ता है। इस राजप्रासाद के सातवें खण्ड में राजनिवास है। भव्यता में इसकी तुलना अमरावती के इन्द्र–भवन तथा ऊँचाई में बर्फ से आच्छादित कैलाश से की जाती है। यों तो सम्पूर्ण राजनगरी ही अहर्निश सशस्त्र रक्षकों से रक्षित है किन्तु सात ड्योढ़ियों के पार स्थित अन्तःपुर की सुरक्षा तो सर्वथा अभेद्य है। राजप्रसाद में स्थित विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों तथा सुस्वादु फलों से आच्छादित राजवाटिका किष्किन्धा के बाहर स्थित मधुबन नामक राज–उद्यानका संक्षिप्त संस्करण प्रतीत होती है। वृक्षों पर स्थान–स्थान पर लटकते मधुमक्खियों के छत्ते, राजोद्यान की गरिमा में वृद्धि करते हैं। इस राजवाटिका में सशस्त्र रक्षकों के साथ–साथ वृक्षों तथा लताओं को उपचारित तथा सिञ्चित् करने वाले राजपुरुष भी नियुक्त हैं।

विश्व विजयी रह चुके रावण की लंका तथा इक्ष्वाकुओं के प्रथम पुरुष राज–राजेश्वर मनु द्वारा स्थापित अयोध्या के प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् भी अपनी राजधानी विषयक मेरी उक्त धारणा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। भयंकर हिंसक पशुओं से भरपूर घोर वनाच्छादित यह महानगर दुर्लघ्य पर्वत शृंखलाओं के कारण शत्रु–सेनाओं के लिए सर्वथा अभेद्य है। रावण के गुप्तचर–प्रमुख शुक ने इस गिरिदुर्ग को घोर जंगलों के मध्य बसा रहने के कारण शत्रुओं के लिए सर्वथा अगम्य बताया था।

रावण की राजनगरी लंका सर्वप्रथम पवनपुत्र एवं युद्ध के समय कई बार वानर सेनाओं द्वारा दग्ध होने के कारण गतगौरव तथा श्री हीन हो चुकी है। शत्रुओं से सुरक्षित रहने के कारण ''अ–युद्धिया'' (युद्ध के सर्वथ अयोग्य) नाम सार्थक करने वाली अति प्राचीन नगरी अयोध्या का समय–समय पर सम्बर्द्धन एवं सौन्दर्यीकरण होता रहा है। अयोध्या–प्रवास के समय भगवान श्रीराम की इस नगरी में हम वानरों ने पाया कि वहाँ पर नागरिकों की बहुसंख्या शान्तिप्रिय, दानी, अतिथिसेवी, धर्मपरायण तथा अमलात्मा है। प्रभु श्री राम के प्रति अनन्य प्रेम के कारण आज कल अयोध्या 'रामपुरी' के नाम से भी लोकप्रिय हो चुकी है। नगर में अहर्निशि गूँजती शंखध्वनि, धर्मघोष तथा बटुकों के वेदपाठ की ध्वनियाँ शत्रुओं के मन में इस नगरी के वीरों से रिक्त होने का भ्रम न उत्पन्न कर दे उसके निराकरण के निमित्त नगर के चतुर्दिक निर्मित सशक्त प्राचीर पर सैकड़ों स्थानों पर अचूक लक्ष्य भेद करने वालों की नियुक्ति सहित शतन्धियाँ लगाई गईं हैं। इसके अतिरिक्त नगर में विभिन्न स्थानों पर बिना किसी व्यतिक्रम के लक्ष्यभेद की साप्ताहिक प्रतियोगितायें आयोजित होती रहती हैं। अचूक लक्ष्यभेद करने वालों को राजकोष से पुरस्कार दिया जाता है। प्रतियोगिता के प्रति नये धनुर्धरों का रुझान बनाये रखने के उद्देश्य से तीन बार से अधिक अचूक लक्ष्य–भेद करने वालों को प्रतियोगिता से बाहर रखकर विशिष्ट धनुर्धर का सम्मान दिया जाता हैं यहाँ पर नियमित रूप से आयोजित शास्त्रार्थ प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिए भरतखण्ड के विभिन्न आश्रमों के कुलपतियों तथा आचार्यों के आगमन का प्रमुख केन्द्र बन चुकी है भगवान श्री राम की अयोध्या। इसके अतिरिक्त गुरुदक्षिणा तथा आश्रम की आर्थिक स्थिति सुधारने के लए जम्बूद्वीप के दूरस्थ आश्रमों से दानार्थी शिष्यों अथ्वा अन्तेवासियों का आवागमन लगा रहता है। इस प्रकार प्रभु श्रीराम की यह नगरी सम्प्रति बौद्धिक–सांस्कृतिक सम्पदा की दृष्टि से समस्त भूमण्डल में अद्वितीय है।

वानर स्वभाव से ही चपल एवं वाचाल होते हैं। प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द विचरण एवं लालन–पालन उनके आचरण में उन्मुक्तता का समावेश करता है। दीर्घकाल तक अपने बच्चों, परिजनों तथा आवास से दूरी भी उनके उत्साह पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। उनके नेता अथवा दलनायक को बार–बार उनमें उत्साह का नव–संचार करना पड़ता है। यही कारण है कि महाप्राज्ञ हनुमान, मुझको इस दिशा में यथावसर निरन्तर सावधान रहने की सलाह दिया करते थे।[8]

शिक्षा, चिन्तन एवं कला पर किसी जाति अथ्वा वर्ग–विशेष का एकाधिकार समाज एवं राज्य के हित में नहीं होता है। इस तथ्य को अब वानरों ने भी गम्भीरतापूर्वक लेना स्वीकार कर लिया है। इसी लिए गत कई दशकों में वानरों में शिक्षा तथा कला के प्रति ललक बढ़ी है। इसी शिक्षा एवं अध्यवसाय का परिणाम है कि आजका वानर–समाज अपने समय के सर्वश्रेष्ठ प्राणाचार्य (चिकित्सा शास्त्री) वैद्यराज सुषेण तथा वास्तुविद् (अभियन्ता) नल की उपस्थिति पर वास्तविक गर्व कर सकता है। वानर स्त्रियाँ भी पीछे नहीं हैं। मेरी आदरणीय माँ देवी तारा ने पितृगृह में ही मातामह के यहाँ विभिन्न राज्यों से चिकित्सा–शिक्षा प्राप्त करने आये शिष्यों के माध्यम से संस्कृत, राक्षसी भाषा, पैशाची, नागभाषा आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पिता श्री बाली, वेद, वेदांग एवं संस्कृत साहित्य तथा राजनीति के पण्डित थे। अञ्जनीकुमार हनुमान तो वेद, वेदांग, राजनय, भाषा तथा व्याकरण के श्रेष्ठ ज्ञाता है। स्वयं प्रभु श्री राम हनुमान जी को ऋक्, यजुर् तथा साम वेदों का ज्ञाता एवं बहुशास्त्रज्ञ मानते हैं।[9] महाराज सुग्रीव ने देशनिष्कासन की अवधि में हनुमान जी के साथ देश–विदेश का भ्रमण कर दूरस्थ राज्यों तक का दुर्लभ भौगोलिक ज्ञान प्राप्त किया है तथा वायुकुमार से देश–विदेश की विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों का परिचय प्राप्त किया है।

केसरीनन्दन हनुमान न केवल अद्भुत शारीरिक बल के स्वामी हैं, वरन् शिक्षा की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के वरद पुत्र भी

हैं। किसी भी देश अथवा समाज के किसी व्यक्ति से उसी की भाषा अथवा बोली में बात–चीत करने में वह पूर्णतया सक्षम हैं। तपस्वी वेषधारी राघव–बन्धुओं से जहाँ उन्होंने संस्कृत में बात–चीत की थी वहीं अशोक वाटिका में देवी जानकी के साथ अयोध्या तथा जनकपुर में प्रचलित प्राकृतभाषा में वार्तालाप किया था। सुमित्रानन्दन भैया लक्ष्मण ने यों ही नहीं हनुमान जी को विद्वानों का सिर–मौर माना था।[10] काकाश्री सुग्रीव को वानरराज्य का राजसिंहासन दिलाने का एकमात्र श्रेय हनुमान जी को ही जाता है। उन्होंने ही श्री राम तथा भैया लक्ष्मण के साथ निर्वासित पितृव्य की मैत्री कराई थी।

वानरों में अब स्थायी कृषि–कर्म के प्रति रुचि जागृत हुई है। प्रारम्भ में घूमंत्तू प्रवृत्ति के कई वानर यूथ 'झूम–कृषि' (प्रति फसल के लिए नये स्थान का चयन कर कृषि) करते थे किन्तु आर्यसंस्कृति के बढ़ते प्रभाव ने उनके दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। तुंगभद्रा नदी की तलहटी में धान के लहलहाते खेत इसका प्रमाण है। सिंचाई का प्रमुख साधन वर्षा से प्राप्त जलराशि है। तुंगभद्रा के जल का उपयोग भी यथोचित मात्रा में होता है।

वानरों का प्रकृति–प्रेम प्रशंसनीय है। प्राकृतिक वातावरण के प्रति अपने जन्मजात लगाव के कारण ही वानरों को अन्य मानव समूहों से दूर वनप्रान्तर में गुहाओं अथवा पर्वत–शृंखलाओं की उपत्यकाओं के मध्य निर्मित बस्तियों में रहना अच्छा लगता है। किसी वानरेतर मानव समूह के व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को हम अपने समूह के आस–पास तभी स्वीकार करते हैं जब उसके निरापद होने के विषय में हम अपने चरों के माध्यम से पूर्ण आश्वस्त हो जाते हैं। हमें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं है कि आर्यजन हमको वनगोचर कान्तारकोविद, वनकोविद[11] वनौकस काननौकस[12] तथा वनवासी, वनचर, वनचारी[13] आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं। अपनी इस एकान्तप्रियता की नीति को हमने स्वयं को राक्षसों तथा आर्यों की विस्तारवादी नीति से सुरक्षित रखने के लिए व्यवहृत किया है। मनुष्य

को मनुष्य का दास अथवा अधीनस्थ बनाने की कल्पना मात्र से ही हमको घृणा है। यही कारण है कि वानर–अधिराज श्री वाली ने बुरी तरह पराजित दशानन के आजीवन मैत्री के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। रावण हम वानरों के स्वभाव से भली–भाँति परिचित था। यही कारण है कि राक्षसराज को 'प्राकृत' वानरों की सुविशाल वाहिनी का 'मानुष' श्री राम के नेतृत्व में प्रयाण की सूचना पर सहसा विश्वास नहीं हुआ था।[14] स्वयं काका श्री महाराज सुग्रीव भी तथाकथित सभ्य आर्यों से 'प्राकृत' वानरों को भिन्न मानते रहे।[15]

भारतीय प्रायद्वीप पर वर्चस्व को लेकर आर्यों तथा राक्षसों के मध्य संघर्ष का इतिहास चिरपुरातन है। आर्य संस्कृति के विकास में उनके राजाओं तथा योद्धाओं के अतिरिक्त शस्त्र एवं शास्त्र में समान रूप से पारंगत ऋणियों ने भी समान भूमिका का निर्वाह किया है। कहा जाता है कि महर्षि अगस्त्य ने पहली बार विंध्य पर्वतमाला की सीमाओं को लाँघकर गोदावरी नदी के तटवर्ती क्षेत्र में आर्य–बस्तियों की स्थापना की थी। यह स्थान राक्षसों का उपनिवेश बन चुके जनस्थान के निकट था। महामुनि अगस्त्य से प्रेरणा ले अन्य आर्य ऋषि–मुनियों तथा कुलपतियों ने दण्डक वन में आर्य आश्रमों का जाल सा बिछा दिया। इनके कतिपय अतिप्रसिद्ध आश्रमों यथा– अगस्त्याश्रम, सुतीक्ष्ण–आश्रम, शरभंग–आश्रम, मतंग–आश्रत आदि की अग्र–गणना की जा सकती है। रावण के समय राक्षसों का आतंक अत्यधिक व्यापक हुआ। उसने खर, दूषण तथा त्रिशिरा को जनस्थान को केन्द्र बना सुदूर उत्तर तक राक्षस–संस्कृति के विस्तार का दायित्व सौंपा था। रावण के उकसाने पर मारीच, सुबाहु तथा उनकी माँ ताटका का आतंक सुदूर उत्तर में गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों तक जा पहुँचा। गंगा–सरयू का संगम स्थल भी उनके आतंक की परिधि में आ गया। बगीसर (बक्सर) के निकट स्थित महर्षि कौशिक विश्वामित्र का सिद्धाश्रम तक पूर्णतया असुरक्षित हो उठा। गंगा–यमुना–सरस्वती के संगमस्थल प्रयांग में स्थित महर्षि भारद्वाज

के आश्रम तक राक्षसों की गतिविधियों की सूचनायें पहुँचने लगी थीं। यही कारण है कि भारद्वाज आश्रम से श्री राम, भैया लक्ष्मण तथा देवी सीता के प्रस्थान के समय उनको चित्रकूट पर्वत पर वनवास–अवधि व्यतीत करने की सलाह देते समय भारद्वाज मुनि ने चित्रकूट में वानरों और राक्षसों की उपस्थिति के प्रति सचेत किया था।[16] प्रभु श्री राम ने भी चित्रकूट पर ही वनवास अवधि व्यतीत करने का निश्चय किया था, किन्तु राजकुमार भरत की चित्रकूट यात्रा के पश्चात् अयोध्यावासियों की संभावित भीड़ से बचने के दृढ़ निश्चय ने प्रभु श्री राम को दक्षिणवर्ती सघन वन में जाने को विवश किया था।

वानर–महिषी पूजनीया माता श्री न केवल शकुन–विचारण में पारंगत हैं, वरन् उनकी ज्योतिष के प्रति भी गहरी रुचि है। देवगुरु बृहस्पति तथा असुराचार्य शुक्र के राजनीतिक सिद्धान्तों का उन्होंने अत्यन्त गहराई से मनन– चिन्तन किया है। पिता श्री स्वयं वेदपारंगत, धर्मशास्त्रों के अध्येता तथा राजनय–प्रवीण थे, किन्तु वह भी आदरणीया जननी के राजनीतिक आकलन तथा समस्याओं के समाधान में निपुणता के गुणों के प्रशंसक थे। मुझको स्वयं भी अपनी माँ की विलक्षण प्रतिभा पर अटूट विश्वास रहा है। दशरथनन्दन श्री राम तथा उनके अनुज के सम्बन्ध में चरों के माध्यम से ज्ञात सूचनाओं का सविस्तार विवरण प्रस्तुत करते हुए मैंने अपनी माँ से कहा था– ''हे माँ ! बिना किसी सहायक अथवा सैनिक सहायता के मात्र अपने बल पर एकाकी ताटका, सुबाहु, विराध, कबन्ध, खर, दूषण, त्रिशिरा, वज्रवेग जैसे मायावी राक्षसों तथा उनकी चौदहसहस्र राक्षसी सेना का विनाश करने वाले दाशरथि राम कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं। उनका अनुज भी कम शक्तिशाली धनुर्धर नहीं है। कहा जाता है कि विश्वामित्र एवं अगस्त्य जैसे महर्षियों ने दोनों भाईयों को न केवल अचूक एवं अकाट्य दिव्यास्त्रों से सन्नद्ध किया है, वरन् उनके धारण, प्रहारण एवं प्रत्यावर्तन मंत्रों को भी सिद्ध कराया है। अब तक की उनकी गतिविधियों से यह पता चल चुका है दोनों भाई धर्मपरायण,

नीतिनिपुण, ब्राह्मणों, ऋषि–मुनियों, वनवासियों, दीनजनों तथा शरणागतों के रक्षक तथा परदुःखकातर हैं। अनाचारियों तथा आततायी राक्षसों के वे घोर विरोधी हैं। दोनों इस समय ऋष्यमूक पर हैं। उनके आने का प्रमुख कारण ज्येष्ठ की पत्नी जानकी तथा उसके अपहर्ता का पता लगाना तथा सक्षम सहायक की खोज है। यदि किसी प्रकार उनकी मैत्री, पिता श्री से हो जाय तो यह न केवल मानवता के हित में होगा वरन् इससे पिताश्री के वानर–अधिराज्य का स्थायित्व भी बढ़ेगा तथा उनको अक्षय–कीर्ति भी मिलेगी। कुछ क्षणों के मौन तथा चिन्तन के उपरान्त माता ने गहरी सॉस लेकर कहा था, ''पुत्र! दो राज्यों, राजाओं अथवा व्यक्तियों के मध्य परस्पर संधि तभी सम्पन्न होती है जब उसके लिए बाध्यकारी कारण अथवा परिस्थितियाँ विद्यमान हो। राघव–बन्धुओं को अब तक पता चल चुका होगा कि तुम्हारे पिता श्री तथा लंकेश रावण के बीच यावज्जीवन मैत्री–संधि अब भी प्रभावी है। तुम्हारे पिता के पास उक्त संधि के विच्छेद का कोई समुचित कारण भी नहीं है। मैत्री–संधि समान लोगों में ही चिरस्थायित्व पाती है। इस समय तुम्हारे पितृव्य तथा राघव बन्धुओं को परस्पर सहायता की समान रूप से आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में हमको ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि तुम्हारे पिता तथा वानर राज्य का मंगल हो। कुछ क्षण रुक कर उन्होंने पुनः कहा था, ''तुम सत्य कह रहे हो पुत्र! वरञ्च तुम्हारे मुख से परम सत्य उच्चारित हो रहा है, किन्तु अब बहुत विलम्ब हो चुका है। जिन सूचनाओं के आकलन के पश्चात् दोनों इक्ष्वाकु कुमारों ने सुग्रीव से मिलने का निर्णय लिया है, उनके लिए वही (सुग्रीव) वरेण्य है।..... नियति द्वारा पूर्वनिर्धारित प्रतीत होता है यह सब।'' माँ के स्वर में छिपे विषाद को भाँप मैं मन ही मन काँप उठा था।

मैंने देखा माँ के नेत्रों में अश्रुबिन्दु छलक आये थे। भींगे स्वर में वह पुनः कह उठी थीं ''राक्षसराज रावण के साथ की गई आजीवन–मैत्री की संधि ने तुम्हारे पिता को विलासप्रिय बना दिया

है। इस संधि का लाभ उठा रावण, जहाँ अपने निकटतम शक्तिशाली पड़ोसी वानरों की ओर से निश्चित हो दिग्ग–दिग्गन्त में अपनी विजय–पताका फहराता घूम रहा है, वहीं हतभाग्य! वानराज को व्यायाम, शास्त्रास्त्र–अभ्यास, संन्ध्या, जाप के स्थान पर नृत्य, गायन, मद्य एवं शयन प्रिय लगने लगे हैं। राजकार्य के प्रति उनकी विरक्ति उनके व्यवहार में आई रुक्षता ने जाम्बवन्त, हनुमान तथा नल और नील जैसे प्रभावशाली वानरों को सुग्रीव का प्रत्यक्ष सहायक बना दिया है। राजकार्य के प्रति उनकी उदासीनता ने अन्य वानर–प्रमुखों के मन में भी सुग्रीव के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है। ज्येष्ठ राघव स्वयं भी देवगुरु के समान प्रज्ञावान हैं। अनेक तपोपूत साधकों का मार्गदर्शन उनको प्राप्त है। ''दोनों भाईयां को यह भली–भाँति ज्ञात है कि तुम्हारे पिता रावण के विरुद्ध उनकी ससैन्य सहायता स्यात् ही करेगें। श्री राम को अब तक भली–भाँति ज्ञात हो चुका होगा कि अग्रज के प्रति प्रतिशोध की ज्वाला में दग्ध हो रहे सुग्रीव को अपना अनुगत मित्र बनाना सरल होगा।''

वानरों के दक्ष गुप्तचर अपनी स्थिति को छिपाते हुए किसी संदिग्ध व्यक्ति अथवा महत्त्वपूर्ण घटना की सूचना अपने स्वामी को उपलब्ध कराने की कला में निपुण होते हैं। धनुष, निषंगद्वय, खड्ग तथा कवच धारण किये दो तापसों के ऋष्यमूक पर्वत की ओर बढ़ने की सूचना चरों के माध्यम से पितृव्य सुग्रीव को भी प्राप्त हो चुकी थी। पिता श्री से भयभीत उनको इस घटना में भी वानर–राज बाली महाराज के हाथ होने की आशंका हुई। यद्यपि गुप्तचरों द्वारा राघव बन्धुओं के विषय में दी गई सूचनाओं से उन दोनों धनुर्धरों के महाराज बाली से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जुड़ पा रहा था तथापि अपने अग्रज के प्रति अत्यधिक भय ने काका को अनिष्ट के प्रति अत्यधिक शंकालु बना दिया था। राघव धनुर्धरों के प्रस्रवरण गिरि की ओर बढ़ते कदमों ने पितृव्य को भयार्त कर दिया था। वयोवृद्ध जाम्बवान जी तथा पवनपुत्र हनुमान जी भारी प्रयास कर भी

भयातुर सुग्रीव को सन्तुष्ट नहीं कर सके। अन्ततः हनुमान जी ने इस प्रकरण में स्वयं गुप्तचर का दायित्व निभाने का निर्णय लिया। उन्होंने सूर्यपुत्र (सुग्रीव) को समझाया कि दोनों धनुर्धरों के प्रति युक्तियुक्त सन्देह की स्थिति में वह वानरभाषा में उच्च स्वर में चेतावनी देगें जिसके सुनते ही सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल तथा नील एक साथ गुप्त स्थान को पलायन कर जावेगें।

आर्यों, राक्षसों तथा वानरों के भोजन की रुचि तथ प्रिय भोज्य पदार्थों में पर्याप्त भिन्नता है। आर्य शाकाहार के साथ ही कतिपय पशु–पक्षियों एवं मत्स्य का माँस भी समान रुचि के साथ ग्रहण कर लेते हैं। सर्वग्रासी तथा घोर माँसाहारी राक्षस नरमांस–भक्षण में भी संकोच नहीं करते हैं। वे समान रुचि के साथ कच्चा माँस का भक्षण तथा रक्तपान करते हैं। आर्य ऋषियों के आश्रमों तक में राजकीय तथा विशिष्ट अतिथियों को माँसाहार परोसा जाता है। श्री राम को मनाने जा रहे भरतकुमार तथा उनके सैकड़ों सैनिकों को प्रयाग के भारद्वाज–आश्रम में माँसाहारी तथा शाकाहारी भोजन के साथ मद्य भी पेय के रूप में परोसा गया था (वा. रा. अयोध्या. 91. 52) । वानर स्वभाव से प्रायः शाकाहारी हैं।

शाकाहारी होने के कारण अधिकांश वानर सामिष भोजन के स्वाद से आज भी अपरिचित हैं। अयोध्या–प्रवास के दिनोंमें कुछ वानर छाग (बकरा), हिरन, शशक, हंस, कुक्कुट, मयूर, क्रौञ्च आदि के माँस के स्वाद से पहली बार परिचित हुए। आधुनिक पीढ़ी के वानरों में माँस तथ मत्स्य भक्षण की प्रवृत्ति में वृद्धि परिलक्षित हो रही है।

देवताओं, राक्षसों, यक्षों तथा सिद्धों की भाँति हम वानर भी इच्छानुसार वेषधारण (कामरुपिणः) करने में कुशल हैं।[17] अपरिमित बल के स्वामी कतिपय वानर महावीर रूपाकृति तथा शारीरिक सुविशालता में राक्षसों की भाँति ही महाकाय तथा भयंकर हैं। राक्षसों को द्वंद्वयुद्ध में धूल चटाने वाले वानर महावीरों ने अपने अतुल

पराक्रम से शत्रुओं को भयाक्रान्त कर दिया था। महाराज सुग्रीव, मुझ बालिपुत्र अंगद, वायुपुत्र हनुमान, ऋक्षराज जाम्बवान, उनके पुत्र शरभ, सेनापति नील, भातुलद्वय मैन्द एवं द्विविद, गन्धमादन, कुमुद, गवाक्ष जैसे वानर महावीरों की समर भूमि में उपस्थिति मात्र से ही राक्षस योद्धा भयभीत हो जाया करते थे।

अपने पति के शौर्य पराक्रम तथा रणभूमि में बलिदान पर वानर स्त्रियाँ गर्व करती रही हैं। अपने 'जनसंसद' में अपनी वीरता तथा अपने पूर्वजों के पराक्रम का बखान वानरों की भावी पीढ़ी को आत्म–बलिदान तथा अपलायन की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि भूधराकार कुम्भकर्ण के समक्ष पलायनमान् कतिपय वानरों को ललकारते हुए मैंने उनको जनसंसद में की गई घोषणाओं का स्मरण दिलाया था। ऐसे वानरों को ललकारते हुए मैं कह उठा था, ''ऐ निर्लज्ज वानरों! तुम्हारा यह पलायन तुमको अपनी पत्नियों के समक्ष लज्जा का पात्र तो बनायेगा ही साथ ही तुम जीवन पर्यन्त अपनी जनसंसद में अपने पूर्वजों की अक्षर कीर्ति का घोष नहीं कर पाओगे।''[18] इतना सुनते ही वानर वीरों में नये उत्साह का, नई चेतना का संचार हुआ था तथा उन्होंने दुगुने वेग से कुम्भकर्ण पर प्रत्याक्रमण कर दिया था।

वानरों की आभूषणप्रियता का उल्लेख मैं पहिले भी कर चूका हूँ। अपनी ग्रीवा में बहुमूल्य रत्नजटित दिव्य स्वर्णमाला धारण करने के कारण लोग पिता श्री को बाली के स्थान पर ''हेममाली''।[19] कहने लगे थे। पितृव्य सुग्रीव द्वारा धारण की जाने वाली रत्नखचित स्वर्णमाला इतनी अधिक लम्बी थी कि जब कभी वह प्रभु श्री राम के चरणों में प्रणति को झुकते थे उक्त माला धरती पर लोटने लगती थी।[20] समस्त वानर स्त्री–पुरुष अपनी सामर्थ्य तथा रुचि के अनुसार आभूषण धारण करते हैं। भैया लक्ष्मण तक किष्किन्धा में पितृव्य से भेंट के समय वस्त्राभरणों से सज्जित सुग्रीव तथा उनके साथ की सुन्दरियों को कुछ क्षणों तक देखते ही रह गये थे। संभवतः उनको वानर–स्त्री–पुरुषों के वस्त्रालंकार धारण करने के प्रति सुरुचि का

पूर्वानुमान नहीं था। अथवा आर्यों की दृष्टि में अर्द्धसभ्य माने जाने वाले हम वानरों की सुरुचि–सम्पन्नता उनको आश्चर्यजनक लगी हो।

आर्यों की भाँति वानरों में भी इन्द्र, सूर्य, वरुण, वायु, अग्नि, चन्द्र, अश्विन् एवं मरुत् आदि देवताओं की पूजा अर्चना की जाती है। भगवान शिव ''विरुपाक्ष'' अधिकांश वानरों के अराध्य देव हैं। बहुसंख्यक वानर 'त्रिसनध्या' श्राद्ध, जाप, होम आदि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं पितृत्व सुग्रीव के राज्यारोहण के अवसर पर अनेक विद्वान् एवं संस्कार–पारंगत ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया गया था।[21] सुख, समृद्धि एवं युद्ध तथा मंगल के लिए पूजन–अर्चन की परम्परा वानरों में पहिले से चली आ रही है। समुद्रसन्तरण हेतु पवनात्मज हनुमान जी के प्रस्थान के समय उनकी सफलता की कामना से हम वानरों ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अपने–अपने आराध्यों की अर्चना की थी।[22]

आज का मानव समाज चाहे वह आर्यों, राक्षसों, नागों गन्धर्वों या वानरों का ही क्यों न हो पुरुष प्रधान है। नारी की प्रतिष्ठा का मूल उसके पति में निहित है। यही कारण है कि तात श्री के वध के अवसर पर विलाप करते हुए माँ तारा देवी ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि, ''एक नारी के पास चाहे अगाध सम्पत्ति, अकूत खाद्यान्न तथा पुत्र आदि भले ही हों पति की मृत्यु के पश्चात् 'विधवा' सम्बोधन से उसको कोई नहीं बचा सकता है।[23] राक्षस राज रावण की पट्टमहिषी मन्दोदरी ने भी पति–वध पर विलाप करते हुए कहा था ''आपके न रहने की स्थिति में मैं मनचाहा उत्सव, रथ अथवा वाहन, सभी प्रकार की सम्पत्ति से रहित दुःखी जीवन ही व्यतीत कर सकूँगी। जैसा कि अयोध्यावासियों से मुझे पता चला था महाराज दशरथ की मृत्यु के पश्चात् राजमाता कौशल्या ने भी सहमरण का निश्चय कर लिया था। किन्तु वसिष्ठ आदि के बारम्बार समझाने पर प्रभु श्रीराम, देवी सीता एवं भैया लक्ष्मण की वापसी की आशा में ही किसी प्रकार वह अपना हठ छोड़ सकी थीं।

प्राचीन भारतीय आर्यों में नारी की सामाजिक स्थिति उच्चकोटि की थी। गार्गी, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला जैसी नारियाँ वैदिक मंत्रों की स्रष्टा हो सकती थीं। पति के मृत्यु की स्थिति में अपने देवर से विवाह कर सकती थी वैदिक नारी। यही नहीं प्राचीन आर्य–समाज ''कुमारीपुत्र'' को अपनाने की उदारता दिखला सकता था।[24] हतभाग्य कालान्तर में उसी आर्यसमाज में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय बना दी गई। पति को पत्नी के परित्याग का अधिकार प्राप्त हो गया। आर्यों के प्रतिकूल राक्षसों तथा वानरों में नारी की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से श्रेष्ठतर बनी रही। दोनों समाजों ने पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा को पुनर्विवाह की स्वीकृति प्रदान किया। दुःख तो इस बात का है कि गौतम–पत्नी अहल्या को आर्यसमाज में मैं पुनः प्रतिष्ठा दिलाने वाले, माता तारा तथा रावण–पत्नी मन्दोदरी जैसी विधवाओं का पुनर्विवाह कराने वाले प्रभु श्री राम अपनी बलपूर्वक हरण की गई पत्नी देवी सीता की मर्यादा की रक्षा के प्रति क्यों नहीं उतनी प्रतिबद्धता दिखला सके?

मेरा बचपन किष्किन्धा के राजभवन तथ मातामह सुषेण के चिकित्सीय परिवेश से प्रभावित आवास में व्यतीत हुआ। किशोरावस्था समवयस्क वानरों के साथ किष्किन्धा के चतुर्दिक स्थित महाकानतार पार्श्ववर्ती पर्वत–शृंखलाओं तथा तुंगभद्रा के तटवर्ती क्षेत्रों में क्रीड़ा, भ्रमण तथा आखेट में व्यतीत हुई। बचपन में मेरी माँ मुझे मेरे पूर्वजों तथा केसरीनन्दन हनुमान के बचपन की शौर्य गाथाओं को अत्यन्त मनोयोग से सुनाया करती थीं। बालपन में आर्य–ऋषियों के साथ छेड़छाड़ करने वाले हनुमान जी किस प्रकार सूर्य को फल समझ खाने को उद्यत हो गये थे तथा इन्द्र के वज्र से आहत अञ्जनीकुमार को किस प्रकार ब्रह्मा सहित विभिन्न देवताओं का वरदान मिला सुनकर मैं रोमाञ्चित हो जाया करता था। माताश्री बताया करती थी कि ज्ञानपिपासु मारुति ने जम्बूद्वीप के विभिन्न ऋषि–आश्रमों, प्रतिष्ठित आचार्यों तथा अन्य राज्यों में स्थित दूरवर्ती क्षेत्रों का भ्रमण कर

शास्त्रीय–व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त किया तथा विभिन्न प्रकार की भाषायें तथा बोलियों में हुए। आञ्जनेय की गाथाओं से अभिभूत मैंने बचपन में ही हनुमान को अपना आदर्श मान लिया था।

भ्रमणशीलता वानरों का स्वाभाविक गुण है। अपने इसी प्रवृत्ति के कारण किशोरावस्था में ही मैं ऋष्यमूक पर्वत तथा आस पास के महावनों में स्थित ऋषि–आश्रमों, गिरिगह्वरों, जलप्रपातों, सरोवरों, नदियों, प्रसिद्ध वनौषधियों से भली–भाँति परिचित हो गया था। भगवान विरुपाक्ष (शिव) वानरों के अराध्य तथा इष्टदेव रहे हैं। मेरे पूर्वजों की राजनगरी किष्किन्धा में उनके द्वारा भगवान ''विरुपाक्ष'' के भव्य मन्दिर का निर्माण कराया गया था। समय–समय पर अन्य वानर राजाओं ने उस मंदिर को परिवर्द्धित, सुसज्ज तथा समलंकृत कराने का कार्य किया था। राजधानी के लगभग मध्यभाग में स्थित इस देवालय से लगभग आधे योजन की दूरी पर स्थित माल्यवान् पर्वत की छवि अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी है। यहाँ का वातावरण शान्त तथा जन–रव रहित है। वानराधिपति की हत्या के पश्चात् श्री राम ने सानुज वर्षावास के लिए इसी स्थल का चयन किया था। माल्यवान पर्वत के ही एक भाग में स्थित प्रस्रवणगिरि के निकट स्थित स्फटिक शिला का पार्श्ववर्ती क्षेत्र बचपन में हमारा प्रमुख क्रीड़ास्थल रहा है, वहाँ से खेलते–खेलते हम कपि–किशोर किष्किन्धा को वृताकार घेर कर बहने वाली तुंगभद्रा अथवा तुंगवेणी नदी तक पहुँच जाते थे तथा जलक्रीड़ा किया करते थे। तुंगभद्रा द्वारा चक्रवत घिराव के कारण यह स्थान 'चक्रतीर्थ' के रूप में प्रतिश्रुत होने लगा हैं। इसी प्रकार तीनों लोकों के आतंक का पर्याय बन चुके रावण तथा उसके अनाचारी अनुयायियों के विनाश के निमित्त सानुज श्री रघुनाथ एवं वानर सेना के प्रयाणस्थल होने के कारण गिरिप्रसवण तथा पार्श्ववर्ती क्षेत्र भी भावी पीढ़ियों के लिए पवित्र तीर्थ के रूप में मान्यता प्राप्त करने लगा है।

देव–देवेश्वर भगवान विरुपाक्ष के मन्दिर से लगभग दो कोस अथवा आधायोजन पश्चिम में स्थित घोर वनाच्छादित क्षेत्र में पंपासरोवर की स्थिति हैं। सरोवर के निकट ही अपने क्रोधी स्वभाव के लिए कुख्यात् मतंग मुनि ने आश्रम की स्थापना की थी, जो उनके जीवन काल में ही देवी शबरी के आश्रम के रूप में स्थानीय लोगों में सुख्यात् हो गया था। अस्पृश्य समझी जाने वाली शबर जाति में उत्पन्न साधिका शबरी की भक्तिभावना से प्रभावित हो मतंग ऋषि ने उसको अपने आश्रम में रहने की अनुमति दे दी थी। अपने कुलपति के शबर प्रेम का वहाँ रह रहे ब्राह्मण मुनियों तथा अन्तेवासियों ने विरोध किया था। क्रोधित हो मतंग ऋषि ने न केवल ऐसे जातिवादियों को अपने आश्रम से निष्कासित कर दिया था, वरन् पम्पा के जल के प्रदूषित होने का शाप भी दे दिया था। मतंग मुनि के पश्चात् उनकी आज्ञा से शबरी माता दोनों दशरथ कुमारों श्री राम तथा श्री लक्ष्मण की प्रतीक्षा में वहीं रह गई थी। दुन्दुभिवध के पश्चात् पिता जी द्वारा घुमाकर फेंका गया दुन्दुभि का रक्तरञ्जित शव ऋषि–आश्रम में जा गिरा था। क्रोधावेश में मतंग ऋषि ने पिताश्री के लिए उक्त आश्रम को सर्वथा अगम्य घोषित कर दिया। आर्य ऋषियों के प्रति श्रद्धा एवं अन्धविश्वास के कारण पिता श्री ने उक्त स्थल को वानरों के लिए 'निषिद्ध–क्षेत्र' घोषित कर दिया था। प्रभु श्री राम द्वारा माता शबरी को अतिथिसत्कार का अवसर दे सम्मानित करने की घटना के पश्चात् माता शबरी का आश्रम अब पुनः सर्वसाधारण के लिए गमनीय तीर्थस्थल बन गया है।

वैद्यराज, मातामह सुषेण के दोनों पुत्र मातुल द्वय मैन्द एवं द्विविद अपने शारीरिक बल तथा मल्लयुद्ध में अपनी श्रेष्ठता के कारण सम्पूर्ण वानरराज्य में सुख्यात् हैं। मातुल द्विविद यदि मल्ल–विद्या में अद्वितीय हैं तो मामा मैन्द का रणचातुर्य एवं व्यूहरचना का ज्ञान अतुलनीय है। यही कारण है कि पिता श्री ने मामा मैन्द को वानरसेनाओं का प्रमुख सेनापति नियुक्त किया था। वानरराज सुग्रीव

ने बाद में अपने विश्वस्त सचिव नील को वानर सेनाओं का प्रमुख सेनापति बनाया। मल्ल तथा गदायुद्ध का प्रशिक्षण मैंने मामा द्विविद से प्राप्त किया है। अपने शरीर का सम्पूर्ण बल अपने हाथों, पैरों अथवा सिर में केन्द्रित करने की विशिष्ट कला मैंने उन्हीं से सीखा है। अपने दैनिक प्रशिक्षण के अन्त में वह यह दुहराना नहीं भूलते थे कि शत्रु पर अन्तिम प्रहार शरीर की सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित कर इतना सटीक होना चाहिए कि वह किसी भी प्रकार से प्रतिवार्य (निवारण योग्य अथवा व्यर्थ करने योग्य) न हो।

वानर–राज्य की राजमर्हिषी देवी तारा आदर्श पत्नी, वात्सल्यमयी माँ, करुणामयी महारानी तथा वानरराज्य के कल्याण के प्रति निरनतर जागरुक रही हैं। जड़ी, बूट, वनौषधियों के अद्‌भुत ज्ञाता उनके पिता अपने समय के सर्वश्रेष्ठ भिषगाचार्य हैं, अपने व्यक्तिगत प्रयास से उन्होंने किष्किन्धापुरी में एक आधुनिकतम चिकित्सालय बना रखा है। इस चिकित्सालय में काय–चिकित्सा तथा शल्य– चिकित्सा के अलग–अलग खण्ड हैं, जिनमें विशेषज्ञ चिकित्सकों की नियुक्ति की गई है। चिकित्सालय के निकट संरक्षित वनस्पति–उद्‌यान में दुर्लभ जड़ी–बूटियों का अद्‌भुत संग्रह है। वानरों का यह मान्यता–प्राप्त राजकीय चिकित्सालय आधुनिकतम् संयंत्रों तथा उपकरणों से सुसज्ज है। इस चिकित्सालय में कार्यरत चिकित्सकों, विभिन्न देशों से आये शिष्यों के सान्निध्य में माता तारा ने चिकित्सा–विज्ञान के साथ विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों का ज्ञान प्राप्त किया है। आर्य ऋषियों से उन्होंने संध्या–पूजन, देवाचर्न, शकुन–विचारण एवं तर्क शास्त्र की शिक्षा प्राप्त किया है। अपने समय की सर्वश्रेष्ठ वानर सुन्दरी के सौन्दर्य तथा प्रतिभा का संज्ञान लेकर ही पिताश्री ने उनका चयन अपनी महारानी पद के लिए किया था। पिता सुषेण के गृह में आर्य–ऋषियों तथा विद्वान कार्मकाण्डियों की उपस्थिति वेदमंत्रों के उच्चारण के मध्य युवराज बाली का विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ था।

अपने अद्वितीय पति–प्रेम, मधुर–व्यवहार, सेवाभाव तथा बौद्धिक प्रतिभा के बल पर सुषेण–दुहिता शीघ्र ही सम्पूर्ण राजपरिवार की प्रिय बन गईं। उनके आकर्षक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं सद्व्यवहार के कारण पितृव्य सुग्रीव तथा काकी रुमा शीघ्र ही उनके प्रशंसक अनुगत बन गये। अमात्यों की पत्नियों की समवयस्का उनकी प्रिय सखी बन गई तो वयकनिष्ठों की आदरणीया दीदी। प्रारम्भ में मेरे प्रति पितृव्य सुग्रीव का व्यवहार अत्यन्त स्नेहिल तथा लगावपूर्ण रहा किन्तु कालान्तर में मुझे लगने लगा कि मेरी बढ़ती लोकप्रियता से पितृव्व को हार्दिक प्रसन्नता नहीं हो रही है। संभवतः उनको लगने लगा था कि कहीं उनके अग्रज महाराज वाली उनका युवराज–पद छीन मुझ अंगद को अपना युवराज तथा उत्तराधिकारी न घोषित कर दें। दुन्दुभि के साथ पिताश्री के गुहा–युद्ध ने पितृव्य को अपना वास्तविक मन्तव्य प्रकट करने का अवसर अनायास ही दे दिया। अपने अग्रज के अपार शारीरिक–बल से सुपरिचित होते हुए भी उन्होंने बिना किसी सत्यापन के उनको मृत समझ लिया तथा गुहा का द्वार बन्द कर किष्किन्धा लौट आये। अमात्य–परिषद को पिता श्री के बध की आधारहीन सूचना देकर वह राजसिंहासन पर जा बैठे। मेरे प्रति उनका वास्तविक मनोभाव अब प्रकट हुआ। स्वयं राजा बनने के उपरान्त भी उन्होंने मुझको युवराज घोषित नहीं किया। मेरी सुरक्षा के प्रति चिन्तित माता श्री चुपचाप यह सब कुछ देखते रहने को विवश थीं।

माता श्री में उनके सम्पर्क में कुछ क्षणों के लिए भी आये व्यक्ति के आन्तरिक मनोभावों को पढ़ लेने की अद्भुत क्षमता है। अपने देवर की सत्तालोलुपता से वह पूर्ण परिचित हो चुकी थीं। वानर राज्य में फूट की आशंका से उन्होंने पिताश्री को सुग्रीव के प्रति मृदु बनाने का असफल प्रयास किया था। वह यह भली–भाँति जानती थीं कि उनका देवर उनके पति को प्रत्यक्ष चुनौती देने की स्थिति में नहीं था। वह इतने से ही सन्तुष्ट थीं कि उनके शक्तिशाली पति के अन्तस्

से अनुज के प्रति स्नेह का निर्मूलन नहीं हुआ है। वह इसी बात पर प्रसन्न थीं, कि कपीश्वर ने अपने अनुज को बानर राजधानी के निकट स्थित ऋष्यमूक से भगाने का कोई प्रयास नहीं किया। अपने अपार शारीरिक बल तथा वानर प्रजा के अपने प्रति लगाव पर कपीन्द्र वाली को इतना अधिक विश्वास था कि अपने सत्तालोभी अनुज से किसी प्रकार के षड़यन्त्र के प्रति वह पूर्णतया निश्चिन्त थे। किन्तु राजनय–निपुण माता श्री की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने सुग्रीव की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने के निमित्त गुप्तचरों को नियुक्त कर रखा था। माता को उनके गुप्तचरों ने धनुर्धर राघव बन्धुओं के सुग्रीव के साथ मिलने का पता चल चुका था। श्री राम द्वारा पितृव्य को वानर राजसिंहासन पर बैठाने, रुमा को वापस दिलाने की राघव की प्रतिज्ञा की सूचना माता श्री को मैंने स्वयं दी थी।

इस सूचना से माता श्री गहन चिन्ता से ग्रसित हो उठी थीं। उन्होंने पिताश्री को बार–बार सुग्रीव को क्षमादान दे वापस बुलाने का सुझाव दिया था, किन्तु हतभाग्य माता के सुझावों को पिता श्री ने कोई महत्त्व नहीं दिया। पितृत्य ने किष्किन्धा के नगर द्वार पर आकर जब पहली बार द्वंद्वयुद्ध के लिए वानराधिप को ललकारा तो पिताश्री ने अनुज की चुनौती को उसकी मूर्खतापूर्ण ढिठाई समझा था। किन्तु माता श्री इस चुनौती पर अन्दर से सिहर उठी थीं। उनकी सहज बुद्धि ने इस चुनौती के पीछे छिपी अदृश्य शक्ति का अनुमान लगा लिया था। उन्होंने पिताश्री को चुनौती स्वीकार करने के स्थान पर अपने छोटे भाई को बुलाकर समझाने का सुझाव दिया था। इस बार भी पिता श्री का हृदय नहीं पसीजा। पहले द्वन्द्वयुद्ध मैं मार खाकर पलायित सुग्रीव की दूसरी चुनौती पर माता श्री को अनिष्ठ की पूर्ण आशंका हो गई थी। मेरी उपस्थिति में विशेष बल देकर एक बार पुनः उन्होंने पुनः सुग्रीव तथा श्री राम के साथ पिता श्री से मैत्री– सन्धि के लिए बारम्बर मनुहार किया था। पिताश्री ने जब दूसरी बार भी

पितृव्य की युद्ध–चुनौती को स्वीकार कर लिया तब माँ ने बलपूर्वक पिता श्री को कुछ क्षणों के लिए रोक कर ''स्वस्त्ययन'' (मंगलवचन) के पश्चात् ही भरे मन से विदा किया था।

पिता श्री ने माता श्री के सुझावों को भले ही अस्वीकार कर दिया हो, जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने इस सुझाव की गम्भीरता तथा महत्ता को स्वयं स्वीकार किया था। कहा जाता है कि जीवन के अन्तिम क्षणों में मरणासन्न व्यक्ति के मन के समस्त विकार एवं पूर्वाग्रह नष्ट हो जाते हैं। सत्य का साक्षात्कार करने के कारण अन्तिम समय में उसके मुख से सत्य और केवल सत्य ही उच्चारित होता है। अनुज के साथ युद्धरत पिता श्री बिना सावधान किये व्याध की भाँति छिप कर छोड़े गये बाण के वक्षस्थल में प्रवेश से मृत्युमुख में जा पहुँचे थे। पिता श्री ने अपने अनुज को इस घोर विश्वास–घात के बाद भी क्षमा करते हुए पूर्वस्नेह का स्मरण दिलाते हुए सबके सामने उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा था, ''इस तारा में सामयिक निर्णय लेने की विलक्षण प्रतिभा है। शकुन–विचार में वह नितान्त निपुण है। वह जो कुछ भी करती है अत्यन्त चतुराई के साथ करती है। जिस कार्य का वह अनुमोदन करे उसको आँख मूद करना क्योंकि उसकी गणना, उसका आकलन स्यात् ही मिथ्या सिद्ध होता है।'[25]

भैया लक्ष्मण माता श्री के गुणों के घोर प्रशंसक हैं। जब कभी वह मुझसे माता श्री का उल्लेख करते हैं उनकी आँखों में तथा चेहरे पर श्रद्धा एवं सम्मान के भाव उभर आते हैं। वह कह उठते हैं, ''मित्र अंगद! देवी तारा न केवल वेद–वेदांग–निपुणा, पुराणपरायणा, लोकाचारविवर्द्धिनी तथा अद्‌भुत वाकपटुता की स्वामिनी हैं, उनकी वाणी की सम्मोहिनी शक्ति, यक्ष, देव, दानव आदि किसी को भी वशवर्ती बना सकती है। तुम को संभवतः ज्ञात नहीं तुम्हारा भैया लक्ष्मण बचपन से चारों भाईयों में अपने क्रोध के लिए कुख्यात् रहा है। उसके क्रोध का शमन मात्र बड़े भैया (श्री राम) ही कर सकते रहे है। किष्किन्धा में कोपाकुल इस लक्ष्मण के क्रोध को शान्त करा

उन्होंने क्षमायाची सुग्रीव से सीता भाभी के अनुसन्धान के लिए वानर यूथपों के लिए तत्काल राजाज्ञा निर्गत करा मुझे अपना आभारी बना लिया। कुछ क्षण रुक कर मुझ पर दृष्टि गड़ा उन्होंने पुनः कहा था, ''युवराज तुम धन्य हो जो ऐसे महान नारी के गर्भ से जन्म लेने का सुकृत तुम्हें मिला है।''

उर्मिलानाथ भैया लक्ष्मण नारी–जाति के प्रति हृदय से अत्यन्त उदार हैं। इसका श्रेय वह अपनी त्यागमूर्ति पत्नी उर्मिला को देते हैं। सम्पूर्ण वानर सेना में मैं ही एक मात्र व्यक्ति थ जिससे भैया सुमित्रानन्दन अपने मन की आन्तरिक भावनाओं की चर्चा किया करते थे। उर्मिला भाभी का उदाहरण देते हुए वह मुझसे कहा करते थे, ''सृहृद् अंगद! नारी को अबला मानने वाले व्यक्ति कल्पनालोक के वासी हैं। अपने पति, पुत्र एवं परिजनों के लिए नारी जो त्याग कर सकती है पुरुष उसके पासंग में भी नहीं आ सकता है। देवी उर्मिला का उदाहरण हमारे सामने हैं। उनके अनुसार नारी की प्रतिष्ठा की रक्षा के प्रति सजग मतंग मुनि अपने समय के सर्वश्रेष्ठ समाजसुधारक तथा मानवता के अग्र ध्वजवाहक थे। राक्षसों द्वारा बार–बार आश्रम उजाड़ने पर भी उन्होंने आश्रम के अनरवत पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का त्याग नहीं किया। अपने शिष्यों तथा सहयोगियों को अपने आश्रम में बनाये रखने में वह सफल रहे। किन्तु जब उन्हीं के शिष्यों ने दलित वर्ग की साधिका शबर कन्या की आश्रम में स्वीकार्यता का विरोध किया तब उनसे नीं रहा गया। उन्होंने ऊँच–नीच का भेद करने वाले जातिवादियों का परित्याग करना श्रेयस्कर समझा किन्तु भक्ति एवं साधना की प्रतिमूर्ति दलित कन्या शाबरी का त्याग नहीं किया। अपनी कठोर साधना तथा अतुलनीय भक्तिभावना से शबर कन्या ने अपने गुरु के उजड़े आश्रम को पुनः बसा अपनी अपूर्व गुरुभक्ति का प्रतिमान स्थापित कर दिया है। आर्यों द्वारा अस्पृश्य समझे जाने वाले शबर जाति के वनवासी मूलतः आखेट जीवी हैं। वन्य पशुओं के आखेट के पश्चात् माँसाहारी शबर पशुचर्म, वनौषधियों, हाथीदाँत, व्याघ्र–नख–दत्त

एवं शहद आदि का विनियम अन्न, वस्त्र एवं आभूषण तथा पेयपदाथों के साथ किया करते हैं। सार्थवाह उनके साथ व्यवसाय करते हैं। शबर जाति के लोग उत्तर हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण सागर के निकटवर्ती वनक्षेत्रों में बसे हुए हैं। शबर, किरात, गीध, भील जाति के भोले–भाले राक्षसों के उत्पीड़न से संत्रस्त जीवन बिताने को बाध्य हैं। शबरी ने ही हम राघव बन्धुओं को निर्वासित वानर–राज सुग्रीव कापता दिया था। उसी ने बताया था कि सुग्रीव तथा उसके प्रमुख सहायक वायुनन्दन हनुमान, ऋक्षराज जाम्बवन्त, वानर अभियन्ता नल तथा व्यूह विशारद नील श्री राम की सीता–अनुसन्धान तथा उनकी पुनः प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। भैया लक्ष्मण के अनुसार शबरी द्वारा आतिथ्य में प्रस्तुत आश्रम के फल तथा कन्दमूल किसी भी राजप्रसाद के विविध प्रकार के व्यञ्जनों की तुलना में अधिक सुस्वादु लगे थे। उसके द्वारा नवधा–भक्ति के उपदेश से हमारी आत्मा तृप्त हो उठी थी।

वानरों में आर्यों के प्रतिकूल शिथिलाचार की विद्यमानता के पश्चात् भी पिता श्री के चरित्र पर अंगुलिपात यथार्थरहित है। अनुज पत्नी रुमा को किष्किन्धा में रोकने के पीछे उनके मन में पितृव्या के प्रति किसी प्रकार दुर्भाव कदापि नहीं था। वह चाहते थे कि पितृव्य के कदाचरण का दण्ड उनकी निर्दोष पत्नी को न भुगतना पड़े। वह यह नहीं चाहते थे कि राजकुमार अंग की माँ अपने संततियों के साथ राजसदन से बाहर वन–वन भटकने को विवश हो। यही नहीं सुग्रीव के साथ स्वेच्छया आत्मनिर्वासन भुगत रहे जाम्बवान, हनुमान, नल तथा नील के परिजन भी निश्चिन्ततापूर्वक किष्किन्धा में रहते रहे। पिता श्री ने उनके परिजनों की गतिविधियों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया था। सुग्रीव तथा उनके आत्मनिर्वासित सचिवों के परिजन अपनी इच्छानुसार उनसे मिलने को स्वतंत्र थे। चाची रोमा तथा किसी अन्य की पत्नी के प्रति पिताश्री के तथाकथित आसक्ति का एक भी उदाहरण किसी के पास उपलब्ध नहीं है।

पत्नी–वियोग से दुःखी सीतापति पर मनोवैज्ञानिक दबाव डालने के उद्देश्य से ही सुग्रीव ने उनसे अपनी पत्नी के बलपूर्वक हरण की चर्चा बार–बार की थी। पिताश्री के चरित्र पर आक्षेप करने का साहस रावण, दुन्दुभि, मायावी जैसे असुर अथवा कोपाविष्ट मतंग ऋषि भी नहीं कर सके थे। वानर–राजरानी माँ तारा को अपने पति के निर्मल आचरण पर अगाध विश्वास था। यही कारण है कि पिताश्री के कपट–वध के अवसर पर ज्येष्ठ दशरथनन्दन को सम्बोधित कर वह कह उठीं थीं, ''स्वर्ग में चतुर्दिक दृष्टिपात करने पर मुझे वहाँ न देख उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा। विभिन्न प्रकार के सुगन्धित तथा सुन्दर पुष्पों से विभूषित तथा विभिन्न रत्नादि से अलंकृत अप्सराओं की ओर वह देखना भी पसन्द नहीं करेगें। स्वर्ग में मेरी अनुपस्थिति से शोकसन्तप्त स्वामी की कान्ति मद्धिम पड़ जायेगी। मेरे वियोग में वह उसी प्रकार दुःखी रहेगें, जिस प्रकार सीता–वियोग में आप दुःखी हैं।''[26]

तातश्री के वध के पश्चात् जाम्बवन्त सहित अन्य वानरों द्वारा मुझ एकमात्र पुत्र के जीवित रहने हेतु समझाने पर मेरी माँ ने करुण–क्रन्दन करते हुए कहा था, ''पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धनधान्य से सुसम्पन्न हो लोग उसको विधवा ही कहते हैं।'' वानरों को उत्तर देते हुए उन्होंने पुनः कहा था, ''जब मेरे पति कपिसिंह महाभाग वाली ही नहीं रहे तब मुझको पुत्र से, राज्य से तथा अपने जीवन से क्या प्रयोजन रह गया है। मैं अपने पति का अनुगमन करूँगी।''

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ममतामयी माँ के हृदय में मेरे प्रति स्नेह और वात्सल्य का लेशमात्र भी अभाव हो गया था। बचपन से ही वह मेरी शिक्षा तथा सुरक्षा के प्रति निरन्तर सचेष्ट रहीं। आर्यों तथा राक्षसों की भाँति वानरों में भी राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी होता है। मेरे पिता श्री, वानर वंश के महानतम् नरेश थे। ऐसे महान् पिता का उत्तराधिकारी बुद्धि तथा

बल में अपने पिता से पीछे न रह जाय इसके प्रति वह सदैव सजग रहीं। अपने देवर की आशुकुपिता तथा राजलुब्धता से वह भलीभाँति परिचित थीं। वह यह भी जानती थीं कि महाराज वाली के रहते हुए भी उनके एकाकी पुत्र के प्रति किसी प्रकारका षड्यन्त्र संभव था। यही कारण है कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत पर्यवेक्षण में मेरी बौद्धिक तथा शारीरिक शिक्षा के लिए जहाँ श्रेष्ठ वानर तथा वानरेतर आचार्यों की व्यवस्था कराई थी, युद्ध सम्बन्धी ज्ञान तथा शारीरिक पुष्टता के प्रशिक्षण के लिए अपने अनुजद्वय वानर सेनापति मैन्द तथा मल्लविद्या विशारद द्विविद को उत्तरदायी बनाया था। पिता श्री के वध के उपरान्त यदि श्री राम तथा श्री लक्ष्मण के बार–बार समझाने पर वह अन्ततः यदि पितृव्य की पत्नी बनने को सहमत हुई तो उसका एक मात्र कारण मैं ही था।

माता श्री धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व की साक्षात् प्रतिमा हैं। राजमहिषी का गौरवशाली पद तथा वानरराज्य के एकमात्र उत्तराधिकारी की जननी होने का सौभाग्य भी उनमें अहंकार की भावना को जन्म नहीं दे सका। वानर अधिराज्य के लोकप्रिय राज–राजेश्वर की हत्या के पश्चात् भी वानर राज्य की अमात्यपरिषद, सेनाओं अथवा प्रजा में अन्तर्द्वन्द्व अथवा मतभेद न आने देने का एक मात्र श्रेय वानरों की राजरानी माता तारा को ही जाता है।

जैसा कि बता चुका हूँ वानरराज महिषी का राजनीतिक आकलन सर्वथा निर्दोष एवं त्रुटिहीन हुआ करता है। पिताश्री ने पहली बार अपनी राजरानी के सुझावों को अस्वीकार करने की भूल की थी। वही भूल कपिकेहरी महाराज वाली के जीवन की अन्तिम भूल सिद्ध हुई। काका के स्वार्थी स्वभाव से सुपरिचित वानर राज–राजेश्वरी यह समझ गई थी कि सुग्रीव ने बिना ठोंक–पीट किये तथा लाभ के पूर्ण विश्वास के प्रति आश्वस्ति के श्री राम सन्धि नहीं किया होगा। पितृव्य के दूसरी युद्ध–ललकार से चिन्तित माताश्री के कानों में गूँजते शब्दों को किञ्चित् पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना ज्यों का

त्यों प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनका प्रयोग उन्होंने अनुज से युद्ध को तत्पर पिता श्री से किया था–

''आप अमर्ष तथा क्रोध का सम्यक् शमन कर गहराई से सोच–विचार के पश्चात् ही सुग्रीव के साथ युद्ध का निर्णय लें। सुग्रीव ने पहली बार जब आपको युद्ध के लिए ललकारा था तब उसकी रोषपूर्ण लकार में आत्मविश्वास की कमी थी। आपने उसकी ललकार पर नगर से बाहर निकल उसकी पिटाई की थी और वह तत्क्षण मतंग–आश्रम की ओर भाग चला था। आज पराजित, अपमानित, मार खाया आपका पीड़ित अनुज आपको पुनः युद्ध के लिए ललकार रहा है। इस समय उसकी ललकार में मुझको जो दर्प तथा उसकी गर्जना में आत्म विश्वास की जो झलक परिलक्षित हो रही है, वह मेरे मन में घोर आशंका उत्पन्न कर रही है। इस दर्प तथा आत्मविश्वास का कोई विशेष कारण अवश्य हैं। आप भी अपने अनुज के स्वभाव को भली भाँति जानते हैं। वह किसी ऐसे सहायक पर विश्वास नहीं करेगा जिसके तेज और पराक्रम की उसने सम्यक् परीक्षा न कर ली हो। आप स्वयं भी तापस वेषधारी राघव धनुर्धरों के शौर्य–गाथाओं से परिचित हो चुके हैं। बिना किसी सैन्य सहायता के दोनों भाइयों ने अपने व्यक्तिगत पराक्रम तथा हस्तलाघव के बल पर ताड़का, सुबाहु, खर, दूषण, त्रिशिरा, कबन्ध, मारीच, विराध जैसे दुर्दान्त शत्रुओं का अन्त कर एक नया इतिहास रच दिया है। ऐसे अतिमानवीय कार्यों के सम्पादक धनुर्धर भाईयों को अपने विरुद्ध युद्ध–रत होने का अवसर देना उचित नहीं है। कुछ भी हो सुग्रीव आपका सहोदर होने के कारण आपके स्नेह का अधिकरी है। आप दान, मान, स्नेह तथा सत्कार के बल पर उसको पुनः अपना अनुगत बना लीजिए। इस समय भ्रातृप्रेम के आश्रय के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प शेष नहीं रह गया है।''[27] माता श्री के सुझावों को न मानने का दुष्परिणाम पिताश्री के कपट–वध के रूप में सामने आया।

नीति एवं न्याय के प्रति माता श्री की अनुरक्ति अद्वितीय रही है। तात श्री द्वारा काकी रोमा को उनके पति से पृथक् करने के कृत्य का वह कभी समर्थन नहीं कर सकीं। उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि पत्नी के लिए पति का सान्निध्य ही श्लाघनीय है। राजसी सुखों को छोड़ पति के साथ वन–वन भटकने वाली देवी सीता के आचरण को वह पतिव्रत–धर्म का आदर्श उदाहरण मानती हैं। वानरराज के कपट–वध के लिए उन्होंने उनके द्वारा पितृव्य सुग्रीव तथा काकी रुमा को बलपूर्वक अलग रखने के कुकृत्य को उत्तरदायी ठहराया था।

प्रेम, क्रोध एवं घृणा का आवेग विवेक तथा मर्यादा के तटबन्धों को ध्वस्त कर देता है। मुझको भली–भाँति स्मरण है युद्धभूमि में तात के पतन की सूचना पर रोती, कलपती, सिर धुनती, छाती पीटती माँ अमात्य–पत्नियों के साथ मुझको भी ले अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक घटनास्थल पर पहुँची थीं। पति के रक्तरंजित शरीर के साथ लिपट कर रोने के कुछ क्षणों पश्चात् सहसा उनकी दृष्टि पास ही में सिर झुकाये काष्टवत् खड़े धनुर्धर राम पर पड़ी थी। कुपित सिंहनी की भाँति आँखों में रोष की ज्वाला लिए राघव की ओर मुँह उठा कर वह गरज उठी थीं– ''आर्यसंस्कृति के ध्वजवाहक तपस्वी के छद्मवेश में अपने पाखण्ड को छिपाने वाले राम ! मेरी दृष्टि में आप मानव नहीं साक्षात् यमराज हो। किसी अन्य के साथ युद्धरत शत्रु पर बिना उसको सावधान किये आघात करना कहाँ की आर्यनीति है? वस्तुतः यह किसी भी वीर योद्धा के लिए घोर निन्दनीय कार्य है। मेरे प्रिय स्वामी से आपका कोई पूर्व वैर नहीं था। मेरे स्वामी उनको चुनौती देने वाले अपने सजातीय से युद्धरत थे। उनको निर्मम व्याध की भाँति छिप कर वाण–प्रहार से मारने जैसे कुत्सित कार्य करने के बाद भी आप निर्लज्ज की भाँति खड़े हैं?''

अपने लोकप्रिय तथा प्रजापालक स्वामी अथवा स्वामिनी को शोक, रोष अथवा हर्ष में देख उसके स्वामिभक्त अनुगत अनायास

उसका अनुसरण करने लगते हैं। यही किष्किन्धा के राजभक्त अमात्यों तथा वहाँ एकत्रित प्रजाजनों के साथ हुआ। अपनी महारानी को शोकसंतप्त एवं कुपित देख उनके हृदय में रोष का ज्वालामुखी धध ाक उठा। घटनास्थल पर अपराधी भाव से खड़े राघव राम तथा राज्यलोभी सुग्रीव की उपस्थिति की चिन्ता किये बिना अपनी प्रिय राजमाता को सम्बोधित कर समवेत स्वर में वे गर्जना कर बैठे! –''हे देवि! हम किष्किन्धावासी आशुकोपी एवं लोभी प्रवृत्ति के कायर सुग्रीव से भलीभाँति परिचित है। सत्तालोभी सुग्रीव के बहकावे में आकर राम रूपी यमराज ने कपट का आश्रय ले वानराधिपति महाराज बाली का प्राणहरण किया है। अब आप वानर वीरों की सहायता से नगर की रखा करें तथा किष्किन्धा के राजसिंहासन पर अपने मेधावी और पराक्रमी पुत्र अंगद का अभिषेक करें अन्यथा राजसुख से वञ्चित्, सुग्रीव तथा उसके पक्षधर किष्किन्धा में प्रवेश कर यहाँ की बहुसंख्यक राजभक्त प्रजा के लिए महान भय उत्पन्न करेंगें।''[28]

मैंने पहली बार किसी को मरते हुए देखा था। यह मेरा दुर्भाग्य था कि जिस व्यक्ति को मैंने पहली बार मृत्यु–मुख में जाते देख रहा था वह मेरे नितान्त अपने थे– मेरे परम स्नेही पूज्य पिता श्री। मुझे आज भली–भाँति समरण है अन्तिम समय में मेरे पिता का मुख रक्तिम तथा नेत्र रक्ताभ हो उठे थे। पता नहीं ऐसा उनके आन्तरिक रोष के कारण ऐसा हुआ था अथवा प्राणान्तक बाण–प्रहार का दुष्प्रभाव था वह। किन्तु पिता का स्वर अब भी नितान्त गुरु–गम्भीर था। किसी भी प्रकार की दीनता से सर्वथा रहित। उन्होंने सीतापति को सम्बोधित करते हुए कहा था, ''हे राम ! स्वार्थी व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है। आप अपनी पत्नी सीता की खोज का स्वार्थ लेकर सुग्रीव के पास पहुँचे थे। व्यक्तिगत स्वार्थ सग्रीव का भी था और व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित मित्रता अथवा संधि में धर्म और नीति के लिए कोई स्थान नहीं होता है। आपने मेरा कपट–वध कर जो शास्त्र एवं धर्म–विरुद्ध कुकृत्य किया है उसका शूल आप को आजीवन चुभता रहेगा।''

बात की दिशा अपनी ओर करते हुए केसरीनन्दन हनुमान ने तात श्री का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने हेतु उनको सम्बोधित कर कहा था, ''हे वानरेनद्र! आपकी व्यथा बढ़ रही है। अब जीवन की अन्तिम घड़ी में कृपया अपने क्रोध पर नियन्त्रय करें।'' अञ्जनीकुमार का स्वर सुन पिता श्री ने तब हनुमान जी की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा था, ''हे पवनसुत! मैं तो अब चला। तुम सुग्रीव के परम सखा और सुहृद् हो, इस लिए तुमसे अनुरोध है तुम मेरे बाद मेरी तारा तथा मेरे अंगद को अनाथ और निराश्रित न होने देना। मेरी अनुपस्थिति में तुम वही करना जिससे वानरराज्य की एकता बनी रहे और उसका चतुर्दिक विकास तथा कल्याण हो।'' अन्ततः उनका ध्यान मौन क्रन्दन कर रहे सुग्रीव की ओर गया था। अपने स्वर को यथा संभव मृदु बनाते हुए वह कह उठे ''हे सुग्रीव! तुम तारा का ध्यान रखना और अंगद का पुत्रवत् संरक्षण करना। श्री राम को दिये गये वचन का प्राणपण से पालन करना।'' इतना कह कर वह मौन हो गये। कुछ पलों के पश्चात् उन्होंने हाथ जोड़ किसी अदृश्य शक्ति को प्रणाम किया और उनके अदृश्य प्राण चल पड़े किसी अदृश्य यात्रा पथ पर। वस्तुतः देवराज महेन्द्र का यशस्वी पुत्र वानरों का इन्द्र अपने युग का महानतम् योद्धा कपीश्वर वाली इस जगत को छोड़ चल पड़ा था इन्द्रलोक के अनन्त यात्रा पथ पर....।

मेरी लिए तो यह घटना किसी वज्र प्रहार से कम न थी। आँखों से अविरल बहती अश्रुधार अब शुष्क हो चली थी। पत्थर की मूर्ति की भाँति मैं मानों पथरायी आँखों वाला निष्प्राण सा खड़ा था। उधर शोक एवं कोप का आवेग कम होते ही माता श्री का ध्यान लौकिक कर्मो की ओर गया। पास में कठपुतली की भाँति खड़े मुझको झकझोरती हुई मेरी माँ मुझसे बोल पड़ी थी, ''हे पुत्र! प्रातः कालीन सूर्य के समान अरुणाम तथा गौरांग तुम्हारे यशस्वी पिता अब यमलोक जा चुके हैं। वह तुमको हृदय से चाहते थे। इनके चरणों में प्रणाम करो।''[29] माँ के शब्दों ने मुझको यथार्थ के धरातल पर ला

पटका। पिता श्री ! आपका प्राणप्रिय पुत्र आपके चरणों में प्रणति निवेदन करता है'' कहता हुआ मैं धड़ाम से पिता के शव के चरणों में गिर पड़ा तथा दहाड़ मार कर रोने लगा। मुझे इस प्रकार विलखते देख माता श्री भी पुनः फूट–फूटकर रो पड़ीं थीं।

सहसा मुझको अपनी शक्तिहीनता तथा निरीहता पर आत्मग्लानि की तीव्र अनुभूति हुई। मेरे हृदय में एक तीव्र टीस उत्पन्न हुई। पिता का वधिक मेरी आँखों के सामने मौन खड़ा था न्यस्तशस्त्र और मैं चुपचाप देखते रहने के अतिरिक्त कुछ भी कर सकने में पूर्णतया असमर्थ था। क्षणभर के लिए मेरे मन में आया कि क्यों न पिता श्री के शव के पास पड़ी उनकी विशाल गदा को उठा लूँ तथा दौड़कर पितृहन्ता के सिर पर दे मारूँ। पितृहन्ता अपराध–बोध से ग्रसित, ग्लानि में डूबा उत्साहहीन लग रहा था। किन्तु तभी मैंने देखा ज्येष्ठ के निकट खड़ा कनिष्ठ अपनी सतर्क दृष्टि से आस–पास के लोगों के मनोभावों, उनकी गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन कर रहा था। किसी भी प्रकार की संभावित प्रक्रिया से निपटने को पूर्ण तत्पर दीख रहा था वह। पिता श्री के शव के पास खड़े हनुमान तथ जाम्बवान भी हमारी गतिविधियों का सतर्क निरीक्षण कर रहे थे। अग्रज के शव के पास खड़े सुग्रीव के नेत्रों से अब अनवरत अश्रुपात हो रहा था। उनका यह अश्रुपात मुझको सर्वथा कृमिम लगा। मन में घृणा का आवेग पुनः उपजा। मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि भविष्य में अवसर मिलते ही मैं पितृहन्ता राम तथा सत्तालोभी सुग्रीव से प्रतिशोध ा लूँगा.... भयानक प्रतिशोध। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों मेरा सम्पूर्ण शरीर भयंकर दाहक पावक कुण्ड का मूर्तिमान स्वरूप बन चुका हो। मैं चाह कर भी अपने प्रज्वलित नेत्रयुगल को बन्द नहीं कर पा रहा था। स्वयं को मैं प्रयासपूर्वक खड़ा रख सकने में समर्थ कर पा रहा था। ...किन्तु अन्ततः मैंने स्वयं को रोक पाने में असमर्थ पाया। मेरी चेतना सहसा विलुप्त हो उठी, मैं धड़ाम से गिरने को हुआ कि लगा जैसे किसी ने मुझे अपनी भुजाओं में भर सहसा किसी हिम–कुण्ड में

फेंक दिया हो। उस हिमकुण्ड ने क्षण भर में ही मेरा सम्पूर्ण ताप हर लिया था। जब मेरी आँखें खुलीं मैंने स्वयं को रघुनाथ की बाँहों में पाया। ज्येष्ठ राघव की आँखों में करुणा का महासिन्धु मानों हिलोरें ले रहा था। बिना कुछ बाले ही मानों वह कह रहे थे, ''पुत्र! क्षमा करना मैं वचनबद्ध था।''..... ''तुम्हारा संरक्षण अब मेरा दायित्व बन गया है।'' एक क्षण के लिए लगा मैं अपने पिता के स्नेहिल आक्रोड़ में हूँ। प्रभु की स्नेहपूर्ण थपकियों से मैं वास्तविक जगत में लौटा तथा मेरी आँखें सहसा सावन भादों की वर्षा करने लगीं।

अन्ततः राघव–बन्धुओं की बारम्बार मनुहार तथा जाम्बवन्त एवं हनुमान की बार–बार की गई प्रार्थना के परिणामस्वरूप माता श्री अपने सहमरण के हठ का परित्याग कर सकीं। इतना होने पर भी वह अपने एक मात्र पुत्र मुझ अंगद की संरक्षिका बनने को सहमत नहीं हो सकीं। हनुमान द्वारा इस विषय में निरन्तर बल देने पर माता श्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, ''मैं न तो वानरराज्य की स्वामिनी हूँ और न ही मुझको अंगद के लिए कुछ कर सकने का अधिकार है। वानरसम्राट के शरीरावसान के पश्चात् समस्त अधिकार सुग्रीव को स्वतः प्राप्त हो चुके हैं।..... वस्तुतः पुत्र के वास्तविक बन्धु एवं सहायक पिता और पितृत्य ही होते हैं माता नहीं।''[30] बाद में श्री लक्ष्मण ने माता के इस निर्णय को राजनीति दृष्टि से सर्वथा परिपक्व एवं शास्त्र–सम्मत बताया था।

राजनीतिनिपुण एवं दूरदर्शी श्री राम ने वानरों के सम्पर्क में आने के पश्चात् थोड़े ही दिनों में यह जान लिया था कि वानरों में स्व. वाली, महारानी तारा तथा बालिकुमार अंगद के समर्थकों की संख्या सुग्रीव–समर्थकों की तुलना में अत्यधिक है। वह भली भाँति पूर्वानुमान लगा चुके थे कि पितृ–वध के पश्चात् माँ तारा के सहमरण तथा अंगद को निराश्रित अथवा एकाकी छोड़ देने की घटना वानरों की सैन्यशक्ति तथा एकता को खण्डित कर देगी। ऐसी स्थिति में वाली की हत्या के पश्चात् भी जनकनन्दिनी की खोज, उनकी प्राप्ति,

शत्रु पर विजय तथा सकुशल अयोध्या वापसी के कार्य बाधित होगें। इस संभावित विपदा को टालने का दोनों दशरथ–कुमारों का भगीरथ–प्रयास अन्ततः सफल हुआ। सौभाग्यवश उनको जाम्बवन्त तथा हनुमान जैसे प्रभावशाली एवं वानर–प्रिय सहायक मिल गये थे। उनके अनवरत प्रयासों की फलश्रुति श्री लक्ष्मण की व्यक्तिगत उपस्थिति में सुग्रीव के राज्याभिषेक तथा मुझ अंगद के युवराज घोषित होने के रूप में सामने आई। वानरों में विधवा के पुनर्विवाह का प्रचलन होने के कारण माता श्री का सुग्रीव की पत्नी के रूप में राजमहिषी के सम्मानित पद पर पुनर्नियुक्ति सरलतापूर्वक संभव हुआ। मातुल मैन्द द्वारा वानर सेनापति के पद को त्यागने के कारण पितृत्य के लिए अपने विश्वस्त सचिव नील को सेनापति बनाना सरल हुआ। शेष अमात्य परिषद पूर्ववत् रही।

कोई व्यक्ति जिन दुःखद घटनाओं कोबलात् विस्मृत करना चाहता है, वे बारम्बार याद आती हैं। पिताश्री का कपटवध बार–बार स्मरण हो आता है। उसकी स्मृति मात्र से मन दुःखी हो जाता है। आँखें भर आती हैं। अपार शारीरिक शक्ति के स्वामी होने पर भी तात श्री समस्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक–प्रशासनिक निर्णय अमात्य–परिषद से परामर्श के पश्चात् ही लिया करते थे। पितृत्य के विश्वासघात से अत्यन्त आहत होने के बाद भी उन्होंने उस प्रकरण को अमात्यपरिषद के साथ ही वानरों की सामान्य महासभा में उठा निर्णय लिया था। उन्होंने वरिष्ठ प्रजाजनों एवं मंत्रियों से विचार–विमर्श के पश्चात् ही पितृत्य के आचरण की निन्दा की थी। मंत्रियों एवं वरिष्ट प्रजाजनों की सभा में सुग्रीव के विश्वासघात का वर्णन करने के पश्चात् ही उनको राज्य से निष्कासन का दण्ड दिया जा सका था।

पिताश्री का अपूर्व शारीरिक बल तथा उनका हस्तलाघव, उनकी क्षिप्रता उनके नियमित शारीरिक प्रशिक्षण में छिपी थी। वानरराज प्रतिदिन शौचादि से निवृत्त हो जाने के पश्चात् किष्किन्धा के चतुर्दिक सागरों की दौड़ते हुए परिक्रमा किया करते थे। पर्वत

शिखरों पर चढ़ कर भारी शिलाओं को उठा कर वह ऊपर आकाश में उछाल दिया करते थे तथा उनके धरती पर गिरने से पहिले ही बीच में लपक लिया करते थे।[31] यह नहीं उत्तम शाखाओं से शोभित सात सुविशाल साल–वृक्षों को झकझोर कर वह उनको पत्र विहीन करने में भी सफल थे। शत्रु की ललकार उनको असहनीय थी। ऐसे यशस्वी एवं शक्ति सम्पन्न वानरेन्द्र के कपट–बध के लिए मैं श्रीराम, सुग्रीव, जाम्ववन्त और हनुमान को समान रूप से दोषी मानता हूँ। रामानुज श्री लक्ष्मण इस प्रकरण में निर्दोष माने जा सकते हैं। मुझको आश्चर्यजनक लगा कि ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अनन्य भक्ति का भैया लक्ष्मण का उदाहरण सामने होते हुए भी पितृव्य ने उससे सीख क्यों नहीं ली?

शक्ति–सम्पन्न राजा प्रायः निरंकुश एवं उग्र हो उठता है। तात श्री के साथ ऐसा नहीं हुआ। प्रजारञ्जन के प्रति निरन्तर सचेष्ठ वानरेन्द्र यावज्जीवन अपने परिजनों के लिए सदय एवं सहिष्णु बने रहे। पितृव्य के प्रति घोर अप्रसन्नता के पश्चात भी उन्होंने कभी ऐसा कार्य नहीं किया जिससे सुग्रीव, उनके परिजनों तथा सहयोगियों के लिए प्राणों का भय उत्पन्न हो सकें। एक उदार पिता के समान अपने अनुज की त्रुटियों पर उसको डाँटने फटकरने तथा कभी–'कभी पीट देने वाले वानराजपति दूसरे क्षण उनको अपने हृदय से लग लिया करते थे। दूसरी बार युद्ध के लिए जाते समय भी उन्होंने माता श्री को स्पष्ट शब्दों में आश्वस्त किया था कि ''वह मात्रसुग्रीव का मानमर्दन करेगें उसके जीवन को समाप्त नहीं करेगें।''[32]

मेरे प्रति पिताश्री के ममत्व भरे अन्तिम उद्‌गारों को जिस किसी ने सुना था उसकी आँखें भर आई थीं। स्वयं सानुज श्री राम भी साश्रुनयन हो उठे थे। पूज्य तात ने श्री राम से कहा था, ''मुझको अपने लिए, अपनी प्राणप्रिये तारा के लिए, अन्य प्रिय बन्धुओं के लिए उतना शोक नहीं जितना सर्वगुण सम्पन्न अंगद के लिए है। मैंने उसको बचपन से ही बड़ा दुलार किया है। मेरी स्थिति को देख वह

अत्यन्त शोकार्त होगा तथा जिसका सम्पूर्ण जल सोख लिया गया हो उस सरोवर की भाँति सूख जावेगा। वह अभी पूर्ण वय नहीं है और न तो उसकी बुद्धि ही पूर्ण परिपक्व है। इकलौता पुत्र होने के कारण वह मुझको अत्यन्त प्रिय है। आप मेरे इस महाबली पुत्र की रक्षा कीजियेगा। सुगीव तथा अंगद पर समान सद्भाव बनाये रखियेगा आप।''[33] तथास्तु की मुद्रा में अपना दाहिना हाथ ऊपर उठा श्री राम ने पिता श्री को तत्क्षण मेरे प्रति आश्वस्त कर दिया था।

मेरे प्रति पिता श्री के वात्सल्य की गहनता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि जीवन भर दूसरों को कुछ न कुछ देते रहने वाले वानरेन्द्र सामान्य याचक की भाँति मेरे लिए जीवन के अन्तिम क्षणों में याचक बनने को विवश हुए। अपने प्राणघात के लिए उत्तरदायी अपने अनुज से भी मेरे लिए याचना में उनको संकोच नहीं हुआ। अत्यन्त निर्मल भाव से वह उनसे कह उठे थे, '' मेरा पुत्र..... शोक विह्वल पुत्र अंगद धरती पर पड़ा हुआ है। उसका मुख निरन्तर अश्रुपात से भींग गया है। वह न केवल सुख में पला–बढ़ा है, वरन् भविष्य में भी सुख–भोग के योग्य है। कम आयु का होने पर भी वह मूढ़ नहीं है। वह मुझको प्राणों से भी बढ़कर प्रिय रहा है। मेरे न रहने पर अब तुम इसको अपना पुत्र समझना। इसकी सुविधाओं में कभी कमी न करना। तुम सदैव, सर्वत्र इसकी रक्षा करना। मेरी ही भाँति तुम इसके लिए पिता, दाता, रक्षक एवं अभय देने वाला बनना। यह तुम्हारे समान ही पराक्रमी है। राक्षसों के विरुद्ध युद्ध के समय यह सदैव तुम्हारे आगे चलेगा।''

अन्त में मेरी बारी आई थी। मेरे दोनों हाथों को बड़ी कठिनाई से अपने काँपते हाथों में ले अश्रुपात कर पूज्य पिता कह उठे थे, ''पुत्र! समय बड़ा बलवान होता है। नियति का चक्र बड़ों–बड़ों को दीन–हीन स्थिति में खड़ा होने को विवश कर देता है। तुम वीर पिता के वीर पुत्र हो। जिन स्थितियों में और जिस ढंग से तुम्हारे पिता का वध हुआ है वे तुम्हें भलीभाँति ज्ञात हैं। मैं तुम्हारे अन्तर्द्वन्द्व

का अनुभव कर सकता हूँ। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों और देश काल का भलीभाँति मूल्यांकन कर तदनुकूल आचरण करना समीचीन होगा। प्रिय–अप्रिय, सुख–दुःख, हर्ष–शोक एवं प्रेम तथा घृणा के मनोभावों के प्रकटीकरण में समय तथा स्थान का ध्यान रख कर ही उनको अभिव्यक्ति देना। अपने हृदय में क्षमा–भाव राते हुए तुम सुग्रीव के प्रति अन्यथा भाव न रखना। उसके शत्रुओं के साथ किसी भी मूल्य पर मित्रता अथवा सम्पर्क मत रखना। जैसा व्यवहार तुम मेरे साथ करते रहे हो, उसी प्रकार का व्यवहार यदि तुम सुग्रीव के साथ करोगे तो सुग्रीव भी कभी तुम्हारा निरादर नहीं करेगा। अपनी महत्त्वकांक्षाओं तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुए तुम सदैव सुग्रीव का अनुगत रहना।''[34]

व्यक्तिगत हित की अपेक्षा देश और जातिहित महाराज वाली के लिए सदैव श्रेयस्कर रहा है। वह यह भली–भाँति जानते थे कि वानर जाति के लोग अनावश्यक हिंसा तथा साम्राज्यवाद अथवा विस्तावाद के घोर विरोधी हैं। ''जीओ और जीने दो'' के सिद्धान्त में उनकी पूर्ण आस्था थी। यही कारण है कि वनवासी नागों, शबरों तथा गीधों आदि को पिता श्री के शक्तिशाली नेतृत्व से कभी किसी प्रकार का भय नहीं रहा। उनको इस बात पर दृढ़ विश्वास था कि आर्य–सस्कृति में पले बढ़े दोनों रघुवंशी उनको बिना अवसर दिये उनके प्रति अमैत्री पूर्ण व्यवहार नहीं करेगें। उन्होंने रघुनाथ द्वारा अपने विरुद्ध छिप कर किये गये घातक प्रहार से दुःखी हो ठीक ही प्रश्न किया था ''मेरी आपकी कोई पूर्व शत्रुता नहीं थी। मैं आपके किसी नगर अथवा राज्य की सीमा में कोई उपद्रव भी नहीं कर रहा था। मैंने आपका कभी तिरस्कार भी नहीं किया। तब मुझ निरपराध को आपने क्यों मारा?'' इसके उत्तर में श्रीराम ने सम्पूर्ण धरती को इक्ष्वाकुवंशियों का स्वत्व बताकर तथा आर्य संस्कृति की मान्यताओं को वानरों पर थोप कर अपने धर्मविरोधी कृत्य को न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया था किन्तु सत्य इसके सर्वथा विपरीत हैः– श्रीराम

के पिता दशरथ के समय अयोध्या राज्य की सीमायें गंगा के पार तक भी नहीं पहुँच पाई थीं। वह रावण के अनुचरों के आतंक से सिद्धाश्रम तथा पार्श्ववर्ती चित्रकूट के क्षेत्रों तक को मुक्त नहीं करा सके थे। जनस्थान में राक्षसों की औपनिवेशिक बस्तियाँ बस चुकी थीं। राक्षसों के आतंक के मध्य नाग, शबर, गीध एवं वानर जैसी अनेक वनवासी जातियाँ अपनी पृथक् सामाजिक– राजनीतिक मान्यताओं के साथ किसी प्रकार जीवन बीता रही थीं। वानरों की स्वतंत्र जाति के राजनीतिक–सामाजिक जीवन में आर्यों अथवा इक्ष्वाकुओं का कभी कोई हस्तक्षेप भी नहीं रहा था। ऐसी स्थिति में वानरराज्य की सीमा के भीतर आकर, राज्यनिर्वासित अपराधी सुग्रीव के साथ मिलकर वानर–अधिपति श्री वाली के विरुद्ध षड़यन्त्र रचने तथा अन्ततः छिप कर उनकी हत्या के कुकृत्य को श्री राम अथवा कोई भी आर्य–मनीषी किस प्रकार न्याय–संगत ठहरा सकता है? यदि किसी भी परिस्थिति में किसी की पत्नी को पति से पृथक् रखना ही अपराध है तो फिर भैया लक्ष्मण की अर्द्धांगिनी देवी उर्मिला को भी चौदह वर्षों तक पति से पृथक् रहने को विवश होना पड़ा था? क्या सक्षम व्यक्ति कभी दोषी नहीं होता? अथवा एक ही कृत्य कहीं दोष तो कहीं गुण बन जाता है? वस्तुतः पत्नी–वियोग–व्याकुल रघुवीर ने पितृव्य सुग्रीव के बहकावे में आकर धर्म, नीति, न्याय, आचार को भुलाकर वानर–परम्पराओं एवं मर्यादाओं की सीमा में रह रहे पिता श्री के विरुद्ध एक पक्षीय निर्णय लिया था।

निष्कपट व्यक्ति प्रथम दृष्ट्या दूसरों को भी छल, कपट एवं प्रपञ्च से रहित समझता है। पिता श्री की आर्य राम–विषयक मान्यतायें इसी प्रकार की थीं। श्री राम के विषय में सावधान करने पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में माँ से कहा था, ''राम धर्म के ज्ञाता तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् भेद करने में सक्षम हैं। ऐसी स्थिति में वह (मेरे साथ) किसी प्रकार का अधार्मिक आचरण कदापि नहीं करेंगे।'' राम–विषयक अपनी मान्यताओं को झूठी पड़ती देख उनको स्वाभविक

रूप से सीतापति पर क्रोध आया था। अपने वक्षसथल में प्रविष्ट प्राणघातक बाण के ब्रण की चिन्ता किये बिना वह श्री लक्ष्मणाग्रज को सम्बोधित कर बोल पड़े थे, ''इन्द्रिय निग्रह, आत्मसंयम, क्षमा, धैर्य, सत्य, पराक्रम और दण्ड्य को दण्ड देना राजधर्म है। एक राजा पृथ्वी, स्वर्ण एवं सुन्दर स्त्री के लिए दूसरे राजा पर आक्रमण करता है। इनमें कौन सा अपराध मैंने आप अथवा अयोध्या की प्रजा के साथ किया है।''

जब किसी व्यक्ति की आस्था पर चोट पहुँचती है, तब उसका विद्रोह स्वर उग्र हो उठता हैं यही पिता जी के साथ हुआ था। उनका आवेशजनित स्वर अत्यन्त रुक्ष हो उठा था :–

''राम! आप एक राजपुत्र हैं तथा प्रियदर्शन भी हैं। मैं, न तो आप से युद्ध करने आया था न आपने ही मुझे युद्ध की चुनौती दी थी। मैं आपसे युद्धरत भी नहीं था। मैं किसी अन्य के साथ द्वन्द्व में व्यस्त था। ऐसी दशा में आपने मेरा कपट–बध कर कौन सा यश प्राप्त कर लिया है?..... इस धरा पर बहुत से लोग आपको कुलीन, सत्त्वगुण सम्पन्न, तेजस्वी, सच्चरित्र, करुणाशील, प्रजापालक, महोत्साही, चरित्रवान तथा धर्म–धुरीण मानते है। गौरवशाली राजवंश में उत्पन्न आप में इन्द्रिय–निग्रह, आत्मसंयम, क्षमा, धैर्य, सत्य, पराक्रम एवं सिद्धदोष को दण्ड देने के गुणों का समावेश होगा ऐसा विश्वास कर ही तारा के मना करने पर भी स्वयं को ललकारने वाले सुग्रीव के साथ मैं युद्ध करने आया था। जब तक मैंने आपका आज का रूप नहीं देखा देखा था तब तक मुझको पूर्ण विश्वास था बिना किसी चेतावनी के किसी अन्य के साथ युद्धरत मुझ पर प्रहार नहीं करेगें। किन्तु आप का आज का कुकृत्य देखकर मुझको पूर्ण आश्वस्ति हो चुकी है कि आप मतिभ्रष्ट, परमस्वार्थी तथा घोर पापी हैं। भस्मावगुण्ठित अग्नि की भाँति आपने तपस्वी वेष के पीछे अपना वास्तविक अधर्मी स्वरूप छिपा रखा है। महान रघुकुल में जन्म लेकर भी आप काम के दास, मर्यादाहीन और स्वेच्छाचारी हैं। जिस प्रकार पापात्मा से कोई

सुशीला युवती सुरक्षित नहीं हो पाती है, उसी प्रकार आप जैसे ढोंगी, क्षुद्र, स्वार्थप्रिय शठ को स्वामी के रूप में पाकर यह वसुधा भी सनाथ नहीं हो सकती है। (मुझको आश्चर्य है कि) राजा दशरथ जैसे सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मभीरु व्यक्ति ने आप जैसे पापी पुत्र को जन्म कैसे दिया है? (आपने समस्त कार्य आदर्शों की हत्या तथा मान्य युक्त नियमों का उल्लंघन कर मुझको मारा है।''[35] श्वास लेने में कठिनाई तथा ब्रण के कष्ट को समेट कर वह पुनः बोल पड़े थे, ''हम वानर सामान्यतया न तो मिथ्याचारी होते हैं न कपटाचरण में विश्वास करते हैं। मैं वानर हूँ मेरा अनुज सुग्रीव भी वानर है। हम वानरों की अमात्य परिषद तथा प्रमुख प्रजाजनों की उपस्थिति में सिद्धदोष सुग्रीव को राज्य–निर्वासन का दण्ड दिया गया था। यह झगड़ा हम वानरों का विशुद्ध रूप से आन्तरिक प्रकरण था। आप तो श्रेष्ठ क्षत्रिय कुलोत्पन्न रघुकुलदीपक हैं। अपनी पत्नी की पुनर्प्राप्ति के लिए धर्म की आपकी मनमानी व्याख्या किसी भी मानवसमूह के निष्पक्ष व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं होगी।''..... ''यदि आपने मुझसे प्रत्यक्ष युद्ध का निर्णय किया होता तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्य पुत्र यमराज का दर्शन कर रहे होते।''[36]

प्रबुद्ध, उदारचेत्ता तथा धीमान वानरेश्वर बाली महाराज बाह्याडम्बर के घोर विरोधी थे। वाणी तथा कर्म में भिन्नता को वह निकृष्ट मानते थे। सूर्यवंशी सीतापति द्वारा उनके साथ जो गर्हित कृत्य किया गया था उससे उनको मर्मान्तक पीड़ा पहुँची थी। रावण जैसे महाबली शत्रु को अनायास पराजित कर बन्दी बना लेने वाले क्षिप्रयोधी तथा अतुलपराक्रम वानराधिप पूज्य श्री वाली महाराज के कपट–वध के साथ वानरों के इतिहास के स्वर्णिम अध्याय का सदैव के लिए पटाक्षेप हो गया।

माँ को सान्त्वना देते समय श्री राम का स्वर बार–बार आद्र हो उठता था। कालचक्र की गति को दुर्लंघ्य बतलाते हुए पिता श्री के स्वर्ग–गमन को नियति का खेल बताते हुए अत्यन्त कठिनाई पूर्वक वह माँ को शान्त कराने का में सफल हो सके थे।

अपने अग्रज के संकेत पर राजकुमार लक्ष्मण ने मुझको तथा पितृव्य को पिता के और्ध्वदैहिक कर्म के सम्पादन के लिए तत्पर किया। कपि श्रेष्ठ मातुल तार के माध्यम से सौमित्र ने किष्किन्धा से शिविका मंगवाई तथा उसमें महाराज वाली के शव को रखकर श्मशान भूमि ले जाने की व्यवस्था करवाई। किष्किन्धा नगर से आई रथ–तुल्य सुसज्ज शिविका में वानरेन्द्र का शव रखा गया। शव को करबद्ध प्रणाम करने के पश्चात् ज्येष्ठ राघव ने पितृव्य को आदेशित किया कि वानरेश्वर के शव का दैहिक संस्कार शास्त्र–सम्मत विधि के अनुरूप किया जाय।

काका श्री, मैंने, मातुल तार आदि परिजनों ने मिलकर यत्नपूर्वक कपिराज के शव को अलंकृत शिविका में रखा। उस समय उपस्थित सभी वानर उच्च स्वर में विलाप कर रहे थे। माता श्री सहित पुरवासी स्त्रियों का करुणक्रन्दन सम्पूर्ण वातावरण को शोक–पूरित कर रहा था। हमारे शोक में सहभागी रामानुज हमारे साथ श्मशानघाट तक गये। कपिसिंह वाली के शव को चित्तार्पित करने के बाद तुंगभद्रा में जलाञ्जलि के साथ उनका प्रेत कार्य समाप्त हुआ।

इतिहास विजेता का गुणगान करता है। लंका–विजय के पश्चात् श्री राम को पुरुषोत्तम तथा युग–पुरुष मानने वालों ने उनको अभी से श्री विष्णु हरि का अंशावतार मानना प्रारम्भ कर दिया है। मुझे पता है ऐसे तत्व ज्येष्ठ दशरथ नन्दन के हाथों पिता श्री के कपट–वध को न्यायसंगत तथा धर्मसम्मत ठहराने के प्रयास में परमधार्मिक, प्रजारञ्जक, वेदज्ञ इन्द्रकुमार महाराज वाली को क्रूरकर्मा तथा धर्मद्रोही ठहराने में संकोच नहीं करेगें। वह अत्यन्त सरलतापूर्वक यह भी भूल जावेगें कि कपिकेहरी श्री वाली की धर्मपरायणता की भूरि–भूरि प्रशंसा स्वयं देवर्षि नारद तक ने किया है।[37]

संदर्भ – संकेत

1. ब्रह्माण्ड पु0. 3.7.246–75 ।
2. वही0 3.7.245 ।
3. वही0 3.7.174 ।
4. सारण. 6.27.32
5. ''एतेऽसितमुख घोरा गोलाङ्गूला महाबलाः'' ।।32।।

   वा0 रा0. युद्ध0.27.32

   (ये काले मुँहवाले गोलाङ्गूल (लंगूरजाति) वानर हैं, जिनमें महान् बल है।)
6. (क) जैन पुराणकोश पृ0 1, 356–57, 447, 466 आदि।

   (ख) पद्मपु0 6.3.10, 19–55, 83–84, 152–62।
6. (क) ''रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम्।

   प्राप्तवानिह सुग्रीवो समां मां च परंतप।।5।।

   वा0रा00 किष्कि0. 35.5।

   (लक्ष्मण को युक्तियुक्त वचनों से शान्त करते हुए तारा का कथन– ''हे शत्रुओं को संताप देने वाले (लक्ष्मण)। श्री राम के कृपा–प्रसाद से ही सुग्रीव को वानरों का अक्षरराज, यश, रुमा तथा मेरी प्राप्ति हुई है)।

   (ख) ''प्रणष्टा श्रीश्च, कीर्तिश्च, कपिराज्यं च शाश्वतं।

   रामप्रसादात् सौमित्रे पुनश्चाप्तमिदं मया।।5।। वही0 36.5।

   (वानरराज सुग्रीव ने विनत भाव से लक्ष्मण से कहा था, ''सुमित्राकुमार! मेरी श्रीकीर्ति, सदा से चला आ रहा कपिराज्य– ये सभी नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्री राम की कृपा से ही मुझको इन सभी की प्राप्ति हुई है।)
7. ''रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धन–धान्य पशूनि च।

   रामप्रियार्थं सुग्रीवास्त्यजेदिति मतिर्मम।। वा0रा0 सर्ग 35, श्लो. 13

(श्री लक्ष्मण के कोप को अपने युक्तियुक्त वचनों से शान्त करते हुए तारा ने कहा, ''मुझे विश्वास है कि सुग्रीव श्री राम का प्रिय करने के निमित्त अथवा रामाप्रिया (सीता) के (अनुसन्धानार्थ) के लिए रुमा का, मेरा, अंगद का, धनधान्य का तथा पशुओं सहित सम्पूर्ण राज्य का भी परित्याग कर सकते हैं)।

8–. ''नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव।
ना ज्ञाप्यं विवहिष्यन्ति पुत्रदारं विना त्वया।।9।।

वा0रा0 किष्कि0 54.9।

(देवी सीता के अनुसन्धान के लिए निर्धारित एक मास की असफल अवधि से सन्तप्त अंगद द्वारा पुनः किष्किन्ध न लौटने के निश्चय का तार द्वारा समर्थन कर स्वयंप्रभा की गुफा में ही शेष जीवय व्यतीत करने के निर्णय के पश्चात् हनुमान द्वारा भेद–नीति का आश्रय ले वानरों को पक्ष मे ंकर युवराज अंगद को अपने साथ चलने के क्रम में समझाते हुए कहा था, ''हे वानर शिरोमणि! कपिगण सदैव चञ्चल चित्त होते हैं। अपनी पत्नी तथा पुत्रों से अलग रह कर तुम्हारी आज्ञा का पालन ये नहीं कर पावेगें)।

9. ''नानृग्वेद विनीतस्य ना यजुर्वेद धारिणः।
ना सामवेद विदुषः शक्यमेव विभाषितुम।।28।।
नूनं व्यापकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुत व्यवहारतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्।।29।।
संस्कारक्रमसम्पन्नामदमतावलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्।।32।।

वा0रा0 किष्कि0 3.28–32।

(हनुमान जी को वाक्विदग्धता की प्रशंसा करते हुए अपने अनुज से कहते हैं, (हे लक्ष्मण!) ''जिसको ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद को धारण नहीं किया (अभ्यास नहीं किया) तथा

जो सामवेद का विद्वान् नहीं है वह इस प्रकार की (सुन्दर एवं निर्दोष) भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता है। निश्चय ही इन्होंने व्याकरण का कई बार श्रवण–स्वाध्याय किया है। क्योंकि बहुत कुछ कह जाने के पश्चात् भी इनके मुख से कोई अशुद्धि नहीं निकली। (वस्तुतः) यह संस्कृत, शब्दोच्चारण की शास्त्रीय परिपाटी 'क्रम' से सम्पन्न, अद्‌भुत, धारा–प्रवाह सम्भाषण ''अबिलम्बित'' तथा हृदय को हर्ष प्रदान करने वाली वाणी का उच्चारण करते हैं।'')

10. ''एवयुक्तस्मतु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम्।
अभिभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्यजम्।।

वा0रा0 कष्कि0 3. श्लो. 36।

(''श्रीराम के इस कथन पर 'वाक्यज्ञ' (वार्तालाप की कला में निपुण) सुमित्रानन्दन लक्ष्मण ने 'वाक्यज्ञ' (बातचीत के मर्म को समझने वाले) सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान् से इस प्रकार बोले)।''

11. ''ततः पर्वतकूटाभो हनूमान् मारुतात्मजः।।13।।
अब्रवीद वानरान् घोरान् कान्तार वन कोविदः।।13$\frac{1}{2}$।।

– वा0र0 कष्कि0 सर्ग 50, श्लोक 13 एवं 13$\frac{1}{2}$ ।

(उपर्युक्त पंक्तियों में पर्वतशिखर के समान विशालकाय हनुमान् जी को 'कान्तार–कोविद' एवं 'वनकोविद' कहा गया है)।

12. ''ते दीनमनसः सर्वे शुश्रुवः काननौकसः।
वानरेन्द्र निघोषं पर्यन्यानिनदोपमम्।।20।।

वा0रा0 सुन्दर0 57.20।

(अनिष्ट की आशंका से जिनके मन हीनभावना घर कर गई थी, उन समस्त वनवासी (काननौकस) वानरों ने देवी सीता के अनुसंधान के लिए गये हनुमान जी (वापसी के समय की) की गई मेघ–गर्जना के समान सिंहनाद को सुना)।

13. ''वयं वनचरा राम मृग मूल–फलाशिनः।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर।।30।।

वा0रा0 किष्कि0 17.30।

(छिप कर स्वयं पर वाण–प्रहार करने वाले श्री राम को फटकारते हुए वाली ने कहा था– ''नरेश्वर राम! हम कन्द, फल खाने वाले वनचारी मृग के समान किन्तु आप पुरुष (श्रेष्ठ कहलाने वाले मानव) हैं (फिर आपेन विना पूर्व वैर के मुझ पर छिप कर प्रहार क्यों किया)।)

14. वा0रा0 युद्ध0 सर्ग 15वॉ, श्लोक 7 वाँ।

15. ''नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो वानरोऽपि सन्।
महात्मा च विनीतश्च किं पुनर्धृतिमान् महान्।।7।।''

वा.रा.सर्ग 7, श्लोक 7।

(पत्नी–वियोग से दुःखी श्री राम को समझाते हुए वानरराज सुग्रीव ने कहा था, ''यद्यपि मैं साधारण वानर (अथवा अल्पज्ञ वनवासी) हूँ तथापि अपनी (अपहृता) पत्नी निरन्तर सोच (अपना शोक) नहीं करता हूँ। आप तो महात्मा, विद्यविनीत (सुरक्षित), धैर्यवान् महापुरुष हैं (तो फिर क्यों इतना शोक कर रहे हैं)।

16. ''गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्तिभिः।।29।।''

वा0 रा0 अयोध्या0 54.29

(इस श्लोक में भरद्वाज मुनि द्वारा गन्धमादन के समान मनोहर चित्रकूट पर्वत पर श्री राम, देवी सीता एवं लक्ष्मण के वनवास–अवधि में रुकने का आदेश देते हुए उक्त पर्वत को वानर जाति की तीन प्रमुख शाखाओं (गोलांगल (लंगूर), वानर एवं रीछ) के वानरों के निवास का उल्लेख किया गया है)।

17. ''कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः।
प्राप्तकालं विश्लिष्टमूचुवचनमंगानाम्।।10।।''

वा0 रा0 किष्कि0 19.10

(2) ''रारभः कुमुदो वहिर्वानरो रंह एव च।
एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः।।38।।

वा0 रा0 वही0 39.38

(3) ''आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः।
वानरेन्द्रा महेन्द्राया ये मद्विषयवासिनः।।2।।

वा0 रा0 वही0 40.2

(4) ''कामरूपो हरिश्रेष्ठो बलरूपसमन्वितः।
अनिवार्यगतिश्चैव यथा सततगः प्रभुः।।11।।''

वा0 रा0 युद्ध0 28.11।। आदि।

(कपिपत्नी (वाली की पत्नी) का वचन अथव कथन सुन इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (कामरूपिणः) उन वानरों ने कल्याणमयी देवी (तारा) को सम्बोधित करते हुए सर्वसम्मति से स्पष्ट शब्दों में समयोचित बात कही।10। वाननराज सुग्रीव बुलावे पर इसके अतिरिक्त (ऊपर के श्लोकों मं नामांकित) अतिरिक्त शरभ, कुमुद, बह्नि तथा रंट्ट आदि अन्य बहुत से इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (कामरूपिणः) वानर यूथपति वहाँ (सुग्रीव के पास) एकत्र हुए।38। सुग्रीव ने श्री राम से पुनः कहा कि 'मेरे विषय (राज्य) में निवास करने वाले महेन्द्र के समान तेजस्वी इच्छानुसार रूपधारण (कामरूपिणः) करने वाले वनराज यहाँ आए।2। रावण का गुप्तचर प्रमुख शुक अन्य वानरप्रमुखों के परिचय–प्रसंग में केसरीनन्दन, पवनपुत्र हनुमान का परिचय देते हुए कहता है, ''बल और रूप से सम्पन्न यह श्रेष्ठ वानर अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर सकता (कामरूप) है। इसकी निर्वाधगति है तथा यह वायु के समान सर्वत्र गमन (जा) कर

सकता है।11। वाल्मीकि रामायण में अन्यत्र कई स्थलों पर वानरों को इच्छानुसार रूपधरण करने वाला कहा गया है)।

18. ''निरायुधानां क्रमतामसंगतिपौरुषाः।
दारा ह्युहसिष्यन्ति स वै घातः सुजीवताम।।20।।
कुलेषु जाताः सर्वेऽस्मिन् विस्तीर्णेषु महत्सु च।
क्व गच्छत भमत्रस्ताः प्राकृतो हरयो यथा।
अनार्याः खल यद्भीता स्त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत।।21।।
विकथनानि वो यानि भवद्मिर्जन संसदि।
तानि वः क्बनु यातानि सोदग्राणी हितानि च।।22।।
.....
द्रव्याणास्तु ते वीरा अंगदेन बलीमुखाः।
सान्त्वनैश्चानुमानैश्च ततः सर्वे निवर्तिताः।।31।।

वा0 रा0 युद्ध सर्ग 66 श्लोक 20–31

(कुम्भकर्ण के आतंक से भागते वानर योद्धाओं को रुक कर युद्ध करने के लिए ललकारते हुए अंगद ने कहा, ''(हे वानर वीरो!) तुम्हारे वेग को कोई रोकने वाला नहीं है यदि युद्ध छोड़ कर भागे जाओगे तो तुम्हारी स्त्रियाँ ही तुम लोगों पर हँसेगी। वह उपवास जीवित रहने पर भी तुम्हारे लिए मृत्यु के समान दुःखदायी होगा।''20। तुम सब लोग बहुत दूर तक विस्तृत श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुए हो। फिर साधारण बन्दरों की भाँति भयभीत हो कहाँ भाग रहे हो? यदि तुम पराक्रम का त्याग कर भयभीत हो पलायन करोगे तो अनार्य समझें जाओगे।21। तुम जनसंसद में बैठ कर जो डींग हॉका करते हो कि तुम बहुत बीर हो स्वामिभक्त हो वे तुम्हारी सब बातें आज कहाँ गई?22? अंगद की सान्तवना एवं सम्मानजनक प्रोत्साहन के कारण भागते हुए वानर योद्धा (युद्ध के लिए) पुनः लौट पड़े।31।)

19. ''ततस्ते कारणं सर्वं तथा शपं च वालिनः।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने।।61।।

वा0 रा0 किष्कि0 11.61

(2) महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम्।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम्।।11।।

वा0 रा0 वही0 17.11

(किष्किन्धाकाण्ड के 11वें सर्ग के 61वें श्लोक तथा उसी काल के 17वें सर्ग के 11वें श्लोक में वाली को हेममाली कहा गया है। प्रथम उदाहरण में वानरों द्वारा मतंग मुनि द्वारा हेममाली (स्वर्णमालाधारी) वाली को ऋष्यमूक पर्वत पर न आने के शाप का समाचार सुनाने का उल्लेख है। दूसरे उदाहरण में श्री राम के बाण से आहत हो युद्ध भूमि में गिरा होने का वर्णन हैं इसमें स्वर्णमालाधारी महेन्द्र–पुत्र वालिन् (हेममालिन्) का उल्लेख है जिसकी छाती चौड़ी, भुजायें लम्बी, मुखदीप्तिमान तथा आँखें कपिल वर्ण की थीं)।

20. ''स मूर्घ्ना न्यपतद् भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः।
संग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः।।6।।

वा0 रा0 कष्कि0 12.6

{(प्रभु श्री राम द्वारा एक ही बाण से सात साल वृक्षों के भेदन से) परम प्रसन्न सुग्रीव द्वारा हाथ जोड़ कर, धरती पर माथा टेक साष्टांग प्रणाम किया गया। प्रणाम के लिए झुकते समय लम्बाई युक्त भूषण लटकते हुए (दिखलाई पड़ते थे।)}

21. ''ततस्ते वानर श्रेष्ठयभिषेक्तुं यथाविधि।
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोपयित्व द्विजर्षमान।।29।।

वही0 किष्कि0 26.29

{(सुग्रीव के राज्याभिषेक के अवसर पर एकत्र सभी) वानरों ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को विधिपूर्वक रत्नों, वस्त्रों, भक्ष्य पदार्थों से सन्तुष्ट

कर वानर श्रेष्ठ सुग्रीव का विधिपूर्वक अभिषेक कार्य सम्पन्न किया।}

22. ''वीर केसरिणः पुत्र वेगवान् मारुतात्मजं।।31।।
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात प्रणाशितः।
तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः।।32।।
मंगलान्यर्थ सिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः।
ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च।।33।।
गुरुणां च प्रसादेन सम्प्लव त्वं महार्णवम्।
स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव।।34।।
(समुद्र लंघन के लिए तत्पर हनुमान जी को सम्बोधित करते हुए जाम्बवन्त ने कहा था, ''वीर केसरी के सुपुत्र! वेगशाली हनुमान! तुमने अपने हम बन्धुओं के महान् शोक को नष्ट कर दिया है। यहाँ एकत्र सभी वानरप्रमुख तुम्हारे कल्याण की कामना करते हैं। अब ये कार्य की सिद्धि के निमित्त एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिए मंगलकृत्य, स्वस्तिवाचन आदि का अनुष्ठान करेगें। ऋषियों के प्रसाद, वृद्ध वानरों की अनुमति तथा गुरुजनों की कृपा से तुम इस महासागर के पार हो जाओ। जब तक तुम लौट कर आओगे तब हम सभी एक पैर पर खड़ा रह कर तुम्हारी प्रतीक्षा करेगें, (क्योंकि हम सबका जीवन तुम्हारे ही अधीन है)।

23. ''पतिहीना तु या नारी कामं भवति पुत्रिणी।।12।।
धनधान्यसमृद्धापि विध्वेत्युच्यते जनः।।$12\frac{1}{2}$।।

वा0 रा0 4.23.12–$12\frac{1}{2}$

(पति के वध के पश्चात् विलाप करती राजरानी तारा का कथन है कि, ''पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धन–धान्य से समृद्ध ही क्यों न हो लोग उसको विधवा ही कहते हैं'')।

24. वेदिक इन्डेक्स, खण्ड–1, पृ0 396 (2) वाजसनीय संहिता 30.6

25. ''सुषेण दुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पात्तिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता।।13।।
यदेषा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
नहि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते।।14।।

वा0 रा0. किष्कि0 22.13–14

(अपने प्राण–त्याग के समय वाली महारानी तारा के राजनीतिक विश्लेषण एवं शकुन विचारण क्षमता की प्रशंसा करते हुए सुग्रीव से कहता है, ''सुषेण की पुत्री (राजनीति के) सूक्ष्म विषय के निर्णय करने तथ विभिन्न प्रकार के उत्पातों के संकेतों को समझने में पूर्णरूपेण निपुण है। यह जिस कार्य को करने को कहे उसे सन्देहरहित होकर करना। तारा के किसी भी सुझाव का परिणाम उल्टा नहीं होता है)।

26. ''स्वर्गेऽपि पद्मायलपत्रनेत्र,
समेत्य सम्प्रेक्ष्य च माम पश्यन्।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूड़ा,
विचित्रवेषप्सरसोऽत्रा जिष्यत्।।34।।
स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णताम् च,
मया विना प्राप्स्यासि वीर वाली।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे,
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम्।।35।।

वा0 रा0 किष्कि0 24.34–35

(जिस बाण से प्रियतम वाली का वध किया गया उसी बाण से अपने वध का अनुरोध करते हुए तारा श्री राम से कहती है, ''शुद्धकमलदल के समान नेत्रों वाले श्री राम! स्वर्ग में जाकर भी जब वाली चारों ओर दृष्टि डालने पर भी मुझको नहीं देखेगें तब उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा। नाना प्रकार लाल पुष्पों से विभूषित चोटी धारण करने वाली तथा विचित्र वेषभूषा से मनोहर

प्रतीत होने वाली अप्सराओं को वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे।''34। ''वीरवल! स्वर्ग में भी वाली मेरे बिना शोक का अनुभव करेगें और उनके शरीर की कान्ति फीकी पड़ जावेगी। वे (स्वर्ग में) उसी प्रकार दुःखी रहेगें जैसे गिरिराज ऋष्यमूक के सुरम्य तटवर्ती क्षेत्र में रहते हुए भी विदेहकुमारी सीता के बिना आप शोक का अनुभव कर रहे हैं।''35।

27. वा0 रा0. के किष्किन्धा काण्ड के 15वें सर्ग के 10वें श्लोक से लेकर 30वें तारा द्वारा सुग्रीव से दूसरी बार युद्ध न करने के लिए मनाने का विवरण अंकित है।

28. ''रक्ष्यतां नगरी शूरैरंगदश्चाभिषिच्यताम्।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवंगमाः।।14।।
अथवारुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः।।15।।
अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः।
लुब्धेभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्भयम्।।16।।

— वा0 रा0 किष्कि0 21.14–16

(धनुर्धर श्री राम को देख कर वाली की मृत्यु–शय्या के निकट से भागे वानरों ने राजमहिषी तारा को (सुग्रीव के प्रति) विद्रोह के लिए उकसाते हुए कहा था, ''(देवि! अभी तुम्हारा पुत्र जीवित है अतएव) तुम शूर–वीरों द्वारा इस (किष्किन्धा) नगरी की रक्षा करो। वाली के पुत्र का (किष्किन्धा के राज सिंहासन पर) अभिषेक कर दो। वानर उसका भजन करेगें (निष्ठापूर्वक सेवा करेगे)।14। ''अथवा हे सुमुखि! अब इस स्थान में तुम्हारा रहना अच्छा नहीं है क्योंकि (सुग्रीव समर्थक) वानर शीघ्र ही इसमें प्रवेश करेगें। यहाँ ऐसे अनेक वनचर वानर हैं, जिनमें बहुत से अपनी पत्नियों के साथ हैं और बहुत से उनसे बिछुड़े हुए है। पहिले हम लोगों द्वारा राज्यसुख से वञ्चित् अनेक वानरों राजसुख

विषयक लोभ उत्पन्न हो गया है। इस समय हम सबको उन सबसे महान भय उत्पन्न हो गया है।''15–16।)

29. ''सम्प्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा।
बालसूर्योज्ज्वलतनुं प्रयातं यमसादनम्।।23।।
अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम्।
एवमुक्तः समुत्थाय जाग्रह चरणौ पितुः।।24।।

वा0 रा0 4.23–23–24

(श्री राम के बाण–प्रहार से भूमि पर गिरे रक्तरंजित वाली को दिखलाती हुई तारा अपने पुत्र अंगद से कहती है, ''(बेटा!) इस समय तुम्हारे पिता पूर्व पाप के कारण प्राप्त हुए वैर से पार हो चुके हैं। प्रातःकालीन सूर्य की भाँति अरुण गौर शरीर वाले तुम्हारे पिता रयमसदन (मृत्यु के निकट) को जा पहुँचे हैं। ये तुमको बहुत मानते थे (स्नेह करते थे) तुम अपने पिता को प्रणाम करो। (ऐसा सुन कर) अंगद ने उठ कर पिता के दोनों चरणों को पकड़ लिया)''।

30. ''नह्येष बुद्धिरास्थेया हनून्नङ्गदं प्रति।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम।।15।।

वा0 रा0 वही0 21.15

(अंगद के लिए तारा को जीवित रहने के लिए समझाने पर तारा हनुमान जी से कहती है, ''हे कपिश्रेष्ठ! अंगद के विषय आपकी सम्मति मेरे लिए स्वीकार्य नहीं है क्योंकि पुत्र का वास्तविक सहायक 'पिता' (पिता में पितामह, पितृव्य, मातामह, मातुल एवं गुरु सम्मिलित हैं) होता है माता नहीं।''15)

31. ''समुद्रात् पश्चिमात् पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्रमः।।4।।
अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृहणाति वीर्यवान्।।5।।

वा0 रा0 4.11.4–5

(वाली सूर्योदय के पहिले ही पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक एवं दक्षिण सागर से उत्तर जलनिधि तक बिना थमे घूम आता है।4। पराक्रमी वाली पर्वतों की चोटियों पर चढ़ कर विशाल शिलाखण्डों को बलपूर्वक उठा कर ऊपर की ओर उछाल कर उन्हें (धरती पर गिरने से पहिले ही) पुनः हाथों में ले लेता है।5।)

32. ''प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीव जहि सम्भ्रमम्।
दर्पं चास्य विनेष्यामि न च प्राणैर्वियोक्ष्यते।।7।।

वा0 रा0 4.16.7

(वाली ने तारा को आश्वस्त करते हुए कहा था कि वह युद्ध के लिए ललकारने वाले सुग्रीव से आगे बढ़ कर युद्ध करेगा। युद्ध में वह सुग्रीव का मानमर्दन करेगा प्राण नहीं लेगा)।

33. ''बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबल।।52।।

वा0 रा0 4.18–52

(मरने से पूर्व अपने पुत्र अंगद को श्रीराम को सौंपते हुए वाली ने कहा था, ''श्री राम! यह अभी बालक है। इसकी बुद्धि अभी अपरिपक्व है। अकेला पुत्र होने के कारण यह मुझको बहुत प्रिय है। आप मेरे इस महाबलि पुत्र की रक्षा कीजिएगा।52।)

34. ''देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये।
सुखदुःखसह काले सुग्रीव वशगो भवं।20।।

.....

.....

न चातिप्रणयः कार्यः कर्त्तव्योऽप्रणयश्च ते।।22$\frac{1}{2}$।।

भर्तृरर्थपरो दात्तः सुगीव वशगो भव।।22।।

(सुग्रीव को अपनी स्वर्णमाला देने के पश्चात् प्राणत्याग तत्पर वाली ने अंगद को समझाते हुए कहा था, ''बेटा! देश–काल को भलीभाँति समझ कर स्थान एवं समय का सम्यक् चयन कर ही

आचरण करना। समयानुसार प्रिय–अप्रिय, सुख–दुःख जिसका सामना हो समभाव से उसको स्वीकार करना। अपने हृदय में क्षमाभाव रखते हुए सदा सुग्रीव का अनुगत रहना।20।..... किसी के प्रति अत्यन्त प्रेम अथवा घृणा न करो (क्योंकि दोनों में महान दोष है।$21\frac{1}{2}$)। (सुग्रीव के शत्रुओं के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखते हुए) अपने इन्द्रियों को वश में रखते हुए सदैव अपने स्वामी सुग्रीव के अधीन रहो।22।)

35. वाली के आक्षेपों के लिए, वा0 रा0 किष्किन्धा काण्ड का 17वाँ सर्ग पठनीय है।

36. ''दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज।
अद्य वैवस्तं देवं पश्येस्त्वं निहितो मया।।47।।

वा0 रा0 4.17.47

(वाली श्री राम से चुनौती के स्वर में कहता है कि 'हे राजपुत्र! यदि आप मेरे दृष्टि के सामने आ मुझसे युद्ध किये होते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर विवस्ग्र (सूर्य) के पुत्र यम देव का दर्शन कर रहे होते)।

37. ब्रह्माण्ड 3.7. 214–48

• • • •

&2–
प्रयाण

अपने अधीनस्थों से उनका सर्वश्रेष्ठ प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले राजा, युवराज अथवा सेनाप्रमुख के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचय तथा सम्पर्क रखे। वानर–राज्य का उत्तराधिकारी युवराज होने के कारण मैंने यह निश्चय कर रखा था कि किष्किन्धा तथा पार्श्ववर्ती क्षेत्र में एकत्र वानर यूथपों तथा कुलपतियों से यथासंभव स्वयं परिचय प्राप्त कर सकूँ। काका श्री सुग्रीव ने इस कार्य के लिए मुझको न केवल प्रोत्साहित किया वरन् यह सुझाव भी दिया कि वानरसेनाओं के पूर्वसेनापति मैन्द, इस कार्य में मेरे विशेष सहायक सिद्ध होगें। निम्नांकित पंक्तियों में कतिपय वानर–मुख्यों का संक्षिप्त परिचय समीचीन प्रतीत होता हैः–

सर्वप्रथम मैं चन्दनवन में निवास करने वाले वानर–यूथप–यूथप अग्नि–वंशी विश्वकर्मा पुत्र नल का उल्लेख करना चाहूँगा। वानरों की अग्निशाखा में उत्पन्न ऋक्षराज–पुत्र नल सेनापति नील का सगा बड़ा भाई, अत्यन्त पराक्रमी, आशुकोपी, दुस्साहसी, त्रिभुवनविख्यात्– वास्तुविद् तथा सर्वश्रेष्ठ स्थापत्य– विशारद हैं। श्री राम की आज्ञा पर इसी ने अथाह सागर पर सेतु–निर्माण का असंभव लगने वाला कार्य संभव किया था। नल ने श्री राम–कृपा से निर्मित इस सेतु को ''रामसेतु'' कहा था किन्तु सीता पति परमोदार श्री राम ने इसको ''नलसेतु'' का नया नाम दिया। अपने साथ यह सुविशाल वानर सेना (एक अरब से अधिक की सेना) लेकर आया था। लंका–युद्ध में रावणपक्षीय कुख्यात् प्रतपन की दोनों आँखें निकाल कर उस का वध करने वाले इस महाबीर ने राक्षस सेनापति प्रहस्त एवं राक्षसवीर अकम्पन के विरुद्ध युद्ध में अप्रतिम शौर्य का प्रदर्शन किया था। कुछ

लोग इसको घृताची अप्सरा तथा ऋतुध्वज ऋषि की सन्तान मानते हैं।[1] वस्तुतः यह वानर कुलभूषण पिता श्री वाली तथा पितृव्य सुग्रीव के पिता और मेरे पितामह सूर्यरज के अनुज ऋक्षराज तथा पत्नी हरीकान्ता अथवा हरिकान्ता का पुत्र तथा नील का अग्रज था। प्रभु श्री राम ने इस को भी 'राजा' की उपाधि प्रदान किया है।[2]

चाँदी के समान श्वेत वर्ण का चपल तथा भीमविक्रम 'श्वेत' वानर सेनाओं के लिए सैन्य–सहायक के रूप में महाराज सुग्रीव तथा सेनापति नील का प्रमुख सहायक हैं। वानर सेनाओं के मध्य सम्यक् विभाजन कार्य यही करता है। वानर सैनिकों में हर्ष, उत्साह तथा अनुशासन बनाये रखने एवं विविध प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन भी यही किया करता है।[3] सेना के मनोबल तथा गतिविधियों की दैनिक सूचनाओं को कपिराज तक पहुँचाना इसी का दायित्व है। सैन्य–सहायक के रूप में वानर सैनिकों के प्रशिक्षण तथा अनुशासन का भी प्रभारी है– महाबली श्वेत। पितृव्य श्री सुग्रीव की भाँति पराक्रमपुञ्ज श्वेत भी सूर्यदेव के औरस पुत्र के रूप में सुख्यात् है।

कुमुद, नर्मदाके तटवर्ती रम्यक पर्वत पर निवास करने वाले वानरों का प्रमुख है। यूथप–यूथप स्तर का महावीर है वह। इस यूथपति ने अपने भयानक आक्रमण से समर भूमि से अकम्पन जैसे कुख्यात् एवं दुर्द्धर्ष राक्षस सेनानी को पीछे हटने को विवश किया था। इन्होंने रावणपुत्र महाबली अतिकाय के विरुद्ध भयंकर युद्ध किया था।

चण्ड अथवा चंडबल के नाम से सुख्यात् मल्लयुद्ध विशारद महाबली वानर–प्रमुख लाखों वानर सैनिकों के साथ कपिराज सुग्रीव के रण–निमंत्रण पर किष्किन्धा आया था। लंकायुद्ध में रावण के अनुज कुम्भकरण के साथ हुए भयंकर युद्ध में इस महावीर को वीरगति प्राप्त हुई थी। युद्धभूमि में किसी भी परिस्थिति में पीछे न हटने के अपने आत्मघाती प्रण का आखेट बना था वह।

अपने यूथ के साथ विंध्य, कृष्णगिरि, सह्याद्रि तथा सुदर्शन की उपत्यकाओं में भ्रमणशील यूथपति रम्भ एक रणदुर्दभ महाबीर है।[4] कपिलवर्ण तथा दीर्घरोमा (लम्बे बालों वाला) उग्रयोधी रम्भ, अपनी सुविशाल वानरी सेना के साथ कपिराज के रणनिमन्त्रण पर किष्किन्धा पहुँचा था। इसके सैनिकों की संख्या एक कोटि (करोड़) तीस लाख है। प्रातःकालीन सूर्य की भाँति रक्तवर्ण के यूथपति रम्भ आशुकोपी एवं प्रचण्ड योद्धा हैं।

अपने सुविशाल लांगूल (पूंछ) को बार–बार पटकते हुए सिंहनाद करने वाला दीर्घकाय 'शरभ' ऋक्षपति जाम्बवन्त का पुत्र है। इसके साथ एक लाख चालीस हजार दुर्दमनीय योद्धा हैं, किन्तु यह एकाकी शत्रुसंहार में भी समान रूप से सक्षम है। साल्वेय पर्वत पर बसने वाले कपिसमूह का प्रमुख शरभ दुर्द्धर्ष योद्धा होने के साथ ही साथ अपने पिता जाम्बवन्त जी की भाँति राजनय–निपुण भी हैं।

पारियात्र पर्वत की उपत्यकाओं में बसने वाले वानर यूथपतियों का स्वामी ''यूथप–यूथप'' पनस अपनी सुविशाल सेना के साथ किष्किन्धा आने पर श्री राम का दर्शन करने गया था।[5] पाटुशी नामक राक्षस के साथ इसने भयंकर युद्ध किया था।[6] कृष्ण वर्ण के इस महाकाय योद्धा को रणयज्ञ में शत्रुओं की आहुति देने में विशेष आनन्द मिलता है। इसके यूथपतियों की संख्या पचास लाख हैं। व्यूह–विशारद पनस ने अपनी रणनीतिक कुशलता के बल पर लंका के परकोटे पर चढ़ कर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया था।

नदी–श्रेष्ठ वेणा के तटवर्ती क्षेत्र में साठ लाख वानरों के साथ विचरण करने वाला वानरराज विनत, कपिराज सुग्रीव के सैन्य सहायक श्वेत का ज्येष्ठ पुत्र हैं पर्वताकार शरीर का स्वामी विनत वानरों का दुर्द्धर्ष योद्धा है।

ऋक्ष–प्रजाति का घोर कृष्णवर्ण वानर प्रमुख धूम्र, पर्वत श्रेष्ठ ऋक्षवान् पर बसने वाले बहुसंख्यक वानरों का एक मात्र स्वामी हैं। धूम्र लम्बी रोमराजि वाली भयंकर आकृति का है। ऋक्षवान पर्वत पर

बहने वाली प्रमुख नदी नर्मदा धूम्र के सजातीयों की जीवन रेखा का कार्य करती है। धूम्र, ऋक्षराज जाम्बवान के ज्येष्ठ भाई वानर प्रमुख गद्गद् का ज्येष्ठ पुत्र है। मृत्यु से भी भयभीत न होने वाला ऋक्ष वर्ग का यह वानर योद्धा अत्यन्त कुशल प्रस्तर–योधी है। देवेन्द्र की सहायता करने के कारण यह ऋक्षशाखा का सर्वाधिक प्रसिद्ध वानर–मुख्य हैं। इसी शाखा में उत्पन्न 'यूथप–यूथप' रम्भ आज भी देवताओं का प्रिय सहायक हैं। इन्हीं रीछ–वानरों की सेना के साथ उनके पूज्य पितामह के रूप में सम्मान्य सन्नादन भी रावण के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने आये हैं। कहा जाता है कि इन्होंने द्वन्द्व–युद्ध में इन्द्र को भी थका दिया था।

क्रोध में आकर शत्रुसेना में हाहाकार मचा देने वाला क्रोधन अथवा कोपन नामक 'यूथप–यूथप' अपनी सुविशाल सेना के साथ शत्रुमर्दन हेतु सदैव तत्पर रहता है। उसकी सुविशाल वाहिनी के बगल में अपने साठ लाख सैनिकों के साथ अपनी गैरिकवर्ण (गेरु के रंग के समान) की सुविशाल काया के कारण दूर से ही पहिचान में आने वाले परमवीर गवय तथा उसके सैनिकों के स्कन्धावार पर्याप्त दूरी से पहिचान लिये जाते है।

वानरों की अग्निकुलीन शाखा में उत्पन्न गन्ध मादन पर्वत के निवासी वानरों के राजा तथा यक्षपति कुबेर के सखा के रूप में सुख्यात् अग्निदेव के औरसपुत्र पराक्रम–पुञ्ज क्रथन भी वानराधिपति सुग्रीव के आमन्त्रण पर राक्षसों से युद्ध करने के निमित्त अपनी सुविशाल वाहिनी के साथ पधारे हैं। आक्रमण की आज्ञा मिलते ही क्रथन शत्रुसेनाओं को रौंदने को तत्पर हैं। उनके सैनिकों के शिविरों के बगल में ही उनके परम मित्र यूथपति प्रमाथी के सैनिक आवासित हैं। मन्दराचल पर्वत की उपत्यकाओं तथा कन्दराओं में निवास करने वानरों के राजा प्रभाथी गंगातटवर्ती क्षेत्रों में विचरणशील हाथियों के समूहों को प्रताड़ित करने के कारण हाथियों के मर्दक के रूप में विख्यात् हैं। उनका कथन है कि हाथियों एवं वानरों की शत्रुता

चिरपुरातन है। हाथी अक्सर मिलते ही वानरों के आवासों तथा फलदार वृक्षों का विध्वंस करते रहे हैं। कन्दमूलों को उखाड़ कर खाते कम हैं, इधर–उधर सूखने के लिए फेंक देते है। यदा–कदा वानर स्त्री–पुरुष तथा बच्चे भी उनका आखेट बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में हाथियों को वानर बस्तियों से दूर रखना ही उचित है। प्रमाथी के साथ उनकी विशाल वाहिनी भी है। मायायुद्ध में निपुण इन्द्रजित् के चारों रथाश्वों का वध कर उसके रथ को तोड़ कर उसको भागने को विवश करनेवाले प्रमाथी की प्रशंसा में वानर सेना ने घोर जयनाद किया था।

वानरों की लांगूल प्रजाति के करोड़ों वानर अपने–अपने यूथपों अथवा राजाओं के साथ महाराज सुग्रीव के आदेश पर पधारे हैं। लांगूलों ने नवनिर्माण के प्रति अपने रुचि तथा आकर्षण का परिचय देते हुए सागर पर सेतु–निर्माण में नल की महत्त्वपूर्ण सहायता किया है। परम प्रतापी गवाक्ष इसी शाखा के हैं।[7] गवाक्ष तथा उनके अभिन्न महाबली अनुगत गवय की सेनाओं के निकट ही देवताओं, मुनियों तथा सिद्धों को अतिप्रिय वानरेन्द्र केसरी की विशाल वाहिनी अवस्थित है। केसरी जाम्बन्वन्त के सहोदर अनुज तथा वानरराज गद के पुत्र हैं। इस प्रकार गोकर्ण पर्वत वासी वानरराज गद–गद आज्जनेय के पितामह हुए। ऋक्षराज जाम्बवन्त भी हनुमान के आदरणीय ज्येष्ठ पितामह हैं इस प्रजाति के महाबलशाली शतबल अथवा शतबलि पर्वत श्रेष्ठ सुर्व्य मेरु पर निवास करने वाले असंख्य वानरों के राजा हैं। शतबल भूरे, लाल तथा श्वेत मुख वाले दीर्घ नख एवं विशाल तथा तीक्ष्ण दाँतों वाले वानरों के नेता हैं। शतबलि स्वयं को एकाकी लंका–विजय के लिए सक्षम मानते हैं। विशालकाय कपिशूर 'हरिराज' भी इसी प्रजाति के हैं। उनकी लम्बी पूँछ पर लाल, पीले, भूरे तथा सफेद रंग के रोम हैं। हम वानरों में लांगूल प्रजाति अपने शीघ्र कोपी तथा लड़ाकू स्वभाव के लिये विख्यात् हैं।

मत्तगजराजों की भाँति महाकाय, सुन्दर, स्वस्थ, देवस्वरूप शरीर वाले मातामह सुषेण के पुत्र तथा मातुल त्रय तार, मैन्द एवं द्विविद की सेनाओं ने भी लंका–प्रयाण के उद्देश्य से शिविर स्थापित कर रखा है। रण–निपुण होते हुए भी मातुल तार चिकित्सा कार्य में अपने भिषंगाचार्य पिता के प्रमुख सहायक की भूमिका निभाने में अधिक रुवि रखते हैं। व्यूह–विशारद मामा मैन्द पिता जी के समय वानरसेनाओं के प्रमुख सेनापति रह चुके हैं। अविश्वनीय शारीरिक बल के स्वामी मातुल द्विविद मल्लयुद्ध विशारद होने के कारण वानरों के शारीरिक–प्रशिक्षण के प्राचार्य हैं। ब्रह्मा जी की आज्ञा से अमृतपान करने वाले तथा रावण के प्रमुख सेनानी अशनिप्रभ को यमलोक पहुँचाने वाले मामा द्विविद को प्रभु श्री राम ने कलियुग के आगमन तक जीवित रहने का वरदान दिया है।

वानरों में वर्त्तमान वानरराज सुग्रीव को, पिता श्री की भाँति ही अपार शारीरिक बल का स्वामी, युद्धकुशल तथा क्षिप्रयोधी बताया जाता है। यह तो पिताश्री के मनोवैज्ञानिक आतंक अथवा ब्रह्मा जी द्वारा प्रदत्त वरदान का प्रभाव था कि शत्रु उनके सामने हतश्री हो जाता था मानो उसके शरीर का आधा बल निकल गया हो। स्वयं पिताश्री वाली को अपने शारीरिक बल पर इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने अद्वितीय धनुर्धर श्री राम तक को चुनौती देती हुए कहा था कि यदि वह वाली के दृष्टिपथ में आकर उनसे युद्ध का साहस प्रदर्शित किये होते तो उनके द्वारा अवश्य मारे गये होते।

शास्त्र–बल तथा शस्त्र–बल के परमागार अप्रतिम पराक्रम हनुमान की कीर्ति से तो अब तक सम्पूर्ण योद्धा–जगत पूर्ण परिचित हो चुका है। समुद्र–संतरण, सीता–अनुसंधान, अक्षयकुमार–वध, रावणमानमर्दन तथा लंकादहन का असंभव कार्य अकेले कर चुकने वाले इस महायोद्धा का आतंक लंका के राक्षसों, राक्षसियों, तथा उनके बच्चों में समान रूप से व्याप्त हो चुका है। इसी भाँति देवासुर संग्राम में विशिष्ट भूमिका निभाने वाले मूर्तिमान जाम्बवान के नाम से

भी सभी पूर्व परिचित हैं। इन महानुभावों को सम्यक् रूपेण जानने का अवसर मुझे बचपन में ही मिल चुका था। इनकी कीर्ति–गाथाओं के संक्षिप्त विवरण के लिए भी अलग–अलग अनेक महाग्रन्थों की रचना भी कम पड़ेगी।

आत्म प्रशंसा से बचने के लिए लंका के राक्षसों में बहुप्रचारित हनुमानजी के पश्चात् सर्वाधिक प्रसिद्ध अपना संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक मानता हूँ। राक्षसराज रावण को मेरे विषय में जो सूचना दी गई थी, उसके अनुसार, ''जिसका शरीर पर्वत–शिखर के समान ऊँचा है, जिसकी रूपकान्ति पदमकेसर के समान सुनहरे रंग की है, रोष में आने पर जिसकी भयंकर पूँछ की फटकार से दशों दिशायें गूँज उठती है, वही बालिपुत्र युवराज अंगद है।''[8] लंका के समरांगण में रावण के प्रजंध, वज्रदंष्ट्र, रावणपुत्र नरानतक, कम्पन, महापार्श्व जैसे अनेक सेनानी मेरी क्रोधाग्नि में पतिंगें के समान जल मरे थे।

महाराज सुग्रीव ने देवी सीता के अनुसन्धान कार्य के लिए दक्षिण–दिशा को अधिक संवेदनशील जानकर ही प्रमुख वानर वीरों को मेरे नेतृत्व में इस दिशा में भेजा था। इनमें जाम्ववान, हनुमान, तार, गवाक्ष, गवय, मैन्द, द्विविद आदि का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त वानर प्रवीर सुहोत्र, महाबली अनंग, क्षिप्रयोधी शरगुल्म, यशस्वी शरारि, महामति वृषभ, वयोवृद्ध सुषेण (मातामह सुषेण से भिन्न) कुशल योद्धा उल्का मुख भी मेरे साथ ही दक्षिण की ओर गये थे। मार्ग में इनसे स्वाभाविक रूप से अन्तरंगता हो गई थी। इन वानरों के अतिरिक्त करोड़ों वानर वीरों में वेगदर्शी, सूर्यानन, हरिलोमा, वित्द्रंष्ट, ज्योतिर्मुख, दधिमुख, पालकाख, प्लक्ष, इन्द्रजनु आदि अनेक महावीरों से मातुल मैन्द ने एक–एक कर मेरा परिचय कराया। अधोलिखित पक्तियों में विस्तार भय से वयोवृद्ध ऋक्ष, रीछपति जाम्बवन्त, सन्नादन, दम्भ, क्रथन, केसरी, शतबल, नील, संरोचन, शरभ, गवय तथा भातुलद्वय द्विविद एवं मैन्द का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत हैः–

ऋक्षवान पर्वत पर रहने वाले नीलमेघ तथ अञ्जन के समान कृष्णवर्ण के वानरों के प्रमुख भयंकर स्वरूप तथा विकराल नेत्रों वले यूथपति ऋक्ष वानर सेनानियों में ऋक्षराज जाम्बवन्त से भी अधिक वय में माने जाते हैं। इस प्रजाति की उत्पत्ति पुलह ऋषि की एक अन्य पत्नी मृगभंदा के संयोग से हुई थी।[9] वानरराज शुक इनके पिता तथा जाम्बवान की माता रक्षा इनकी बहिन थीं। इनकी माँ प्रजापति की दत्तक पुत्री विरजा थीं। वयोवृद्ध होने के कारण इनको वानरों में विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। प्रभु श्री राम के अश्वमेध के अवर पर इनको अयोध्यापति की ढाल पकड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।[10] वानरों के जीवित प्रमुखों में वह सर्वाधिक आयु के माने जाते हैं।

रूप में अपने अग्रज धूम्र के समान कृष्णवर्ण वाले महायूथप–यूथप महाकाय जाम्बवन्त जी का रोष तथा अमर्ष युद्ध क्षेत्र में कई गुना बढ़ जाता है। देवासुर–संग्राम में देवेन्द्र की उल्लेखनीय सहायता कर देवताओं से अनेक वर प्राप्त करने वाले ''ऋक्षराज'' के अधीनस्थ सैनिक यमराज से भी युद्ध में भयभीत न होने वाले हैं। लंकायुद्ध में अपनी सामयिक सम्मतियों से इन्होंने प्रभु श्री राम के कार्य में विशिष्ट सहायता पहुँचाई थी। स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर, अल्पभाषी वयोवृद्ध ऋक्षपति जाम्बवान जी की हार्दिक प्रसन्नता तथा वानरोचित चञ्चलता एवं प्रचण्ड उल्लास का अवलोकन वानर सेना ने पहली बार तब किया था जब प्रभु श्री राम ने रावण का वध किया था। रावण के पतन पर प्रसननता से उछलते, आह्लाद से नाचते एवं सिंहगर्जना करते वयोवृद्ध रीछराज ने अपने हाथों से नगाड़ा पीट–पीट कर वानर सेना को रावण–वध तथा राक्षसों के अन्तिम पराजय की सूचना प्रसारित की थी। अयोध्या में अश्वमेघ के अश्व की रक्षार्थ प्रभु श्री राम ने लक्ष्मण जी के साथ इनको भेजा था।[11] भगवान शंकर के अनन्य भक्त इनके द्वारा दशांग पर्वत पर स्थापित शिवलिंग को ''जाम्बवन्तलिंग'' कहा जाता है।

अधिकांश वानर प्रमुखों द्वारा 'पितामह' के आदरणीय सम्बोधन से सम्मानित वयोवृद्ध सन्नादन वानर यूथपों के भी यूथप हैं। वानरों में उतने विशाल शरीर वाला कोई अन्य योद्धा नहीं है। इनकी भुजाओं में शत्रुयोद्धाओं को कौन कहे उनके रथों तथा रथाश्वों तक को चूर्ण कर देने की अविश्वसनीय शक्ति विद्यमान है। वानर–लोक कथाओं के अनुसार इनका किसी बात पर मनमुटाव हो जाने के कारण देवेन्द्र से दीर्घकालिक परिणाम रहित युद्ध हुआ था। अन्ततः दोनों ने एक दूसरे की शक्ति को स्वीकार कर लिया था।

दूर तक छलांग मारने के लिए सुख्यात् ''वानर–यूथप–यूथप'' दम्भ इन्द्र का परम मित्र तथा सहायक है। इस परमवीर का सामना करने में बड़े–बड़े शत्रुसेनानियों को भी पसीना आ जाता है।

युद्ध में कभी न थकने वाले, आत्म–प्रशंसा से कोसों दूर रहने वाले वानर महावीर 'क्रथन' नम्रता के कारण स्वयं को वानर–यूथप ही मानते हैं, किन्तु वस्तुतः उनकी ख्याति किसी भी वानर–यूथप–यूथप से कम नहीं है। यक्षपति कुबेर के घनिष्ठ मित्र क्रथन एकाकी लंका को रौंदने को उत्सुक थे।

विभिन्न प्रकार की मधु तथा बारहों महीने पौष्टिक फलों की प्राप्ति के लिए सुख्यात् देवताओं को प्रिय मेरु अथवा गोकर्ण पर्वत पर निवास करने वाले वानरों के राजा के केशरिन् अथवा केसरी ने ऋषियों को प्रताड़ित करने वाले असुर शम्बसादन का वध कर ऋषियों के वरदान से हनुमान जैसे यशस्वी पुत्र को प्राप्त किया था। शारीरिक बल एवं स्फूर्ति में केसरी आज भी बेजोड़ माने जाते हैं। देवोपम हनुमान जैसे यशस्वी पुत्र का पिता होना वह अपना सबसे बड़ा सौभाग्य मानते हैं।

साठ हजार रमणीय सुवर्णमय पर्वतों में श्रेष्ठ सावार्णी मेरु पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर रहने वाले कपिल (भूरा) वर्ण के श्वेत तथा लालमुख वाले विशाल–काय हरिगणों के प्रमुख वानर यूथप 'शतबल' की गणना महाबली वानर यूथपों में की जाती है। श्री राम

के राजसूय यज्ञ के अश्व की रक्षार्थ जाने वाले इस कपिप्रमुख ने लंकायुद्ध में अपने शौर्य एवं पराक्रम से राक्षसों को भयाक्रान्त किया था।

अपनी देवोपम कान्ति के कारण मत्तगजराज के समान सुगठित शरीर वाले मातुलद्वय मैन्द एवं द्विविद नाना सुषेण के अनतर्राज्यीय ख्याति के पुत्र हैं। पिताजी ने मामा मैन्द की सैन्य प्रतिभा को पहिचान कर उनको वानर सेनाओं का प्रधान सेनापति नियुक्त किया था।[13] ब्रह्मा से चिरंजीविता का आशीष प्राप्त दोनों भाइयों में अद्भुत भ्रातृप्रेम है। मामा मैन्द की मुष्टिका प्रहार को झेलने में असमर्थ कुख्यात् राक्षस सेनानी वज्रमुष्टि तथ यूपाक्ष रक्त–वमन कर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। मल्लयुद्ध–विशारद मामा द्विविद ने अयोध्यापति प्रभु श्री राम से किसी समान योद्धा से द्वन्द्व युद्ध की अपनी शेष इच्छा की पूर्ति का अनुरोध किया था। प्रभु श्री राम ने भावी कल्प में कृष्णावतार के समय उनकी इच्छापूर्ति का वरदान दिया है। लंका के महासमर में द्विविद ने अपने अद्भुत शारीरिक बल से कुम्भकर्ण जैसे दुर्दान्त राक्षस–वीर को चमत्कृत कर दिया था।

महाबली नल का अनुज वानर सेनापति नील न केवल दुर्द्धर्ष योद्धा है, वरन् एक कुशल व्यूह विशारद भी है। शत्रु पर सामयिक प्रहार में वह अत्यन्त निपुण है। लंका के महासगर में प्रतिद्वंद्वी राक्षस सेनापति प्रहस्त का वध कर उसने प्रभु श्री राम को पहली उल्लेखनीय अग्रता प्रदान किया था।

गोमती तट के सुरम्य तथा बहुपुष्प–फलादि युक्त संरोचन नामक स्वर्णाभ पर्वत पर विचरण करने वाले हरिगण–प्रमुख कुमुद पराक्रमी वानर यूथपों में अग्रगण्य है। लंका युद्ध में इसने विशेष पराक्रम का प्रदर्शन किया था। रावण को खर, दूषण, एवं चौदह हजार राक्षसी सेना के वध का समाचार दे देवी सीता के हरण के लिए उकसाने वाले अकम्पन का वध इसी के हाथों हुआ था। यह

अकम्पन पवन पुत्र हनुमान जी द्वारा लंका दहन के अवसर पर मारे जाने वाले अकम्पन से भिन्न था।

अपने लम्बे कानों को बार–बार फैलाकर जम्भाई लेने तथा रह–रह कर गर्जना करने वाला वानर यूथप महाबली शरभ साल्वेय पर्वत पर निवास करने वाले लाखों वानरों के साथ लंका युद्ध मं उपस्थित हुआ था।

गैरिक वर्ण का विशालकाय 'गवय' की सेना में सत्तर लाख वानरों ने लंकायुद्ध के लिए आगमन किया था। इस वानर वीर को अपनी युद्ध–क्षमता तथा पराक्रम पर सदैव अहंकार रहता है। शरभ तथा गवय का संक्षिप्त उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

हम वानरों में वायुपुत्र हनुमान, वानरराज सुग्रीव, वानरसेनापति नील तथा मुझ युवराज अंगद की गति तथा शक्ति अतुलनीय मानी जाती है। अपनी लंका की प्रथम यात्रा के समय हनुमान जी ने लंका की अभेद्यता तथा दुर्जेयता का पूर्वानुमान कर ठीक ही सोचा था कि दान, भेद एवं दण्ड का प्रयोग राक्षसों पर सफल नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः अभेद्य लंका के सुरक्षा कवच को भेदने की शक्ति मारुति हनुमान, बुद्धिमान कपिराज सुग्रीव, सेनापति नील तथा युवराज अंगद में ही है। रावण के सेनानी भी इस तथ्य से परिचित थे। यही कारण है कि स्वयं द्वारा मूर्च्छित राघव बन्धुओं की सुरक्षा में अन्य वानरों के साथ हम चारों को सन्नद्ध देख उनका साहस दोनों भाईयों के निकट आने का नहीं हुआ।

वानरसेनाओं के सर्वोच्च सेनापति एवं मार्गद्रष्टा रघुनाथ श्री राम स्वयं में चलते–फिरते दिव्य शस्त्रास्त्रों के विशाल अयुधागार हैं। महर्षि विश्वामित्र तथा महामुनि अगस्त्य ने दाशरथि को देव, दानव, असुर, मानव, राक्षस, यक्ष, दुर्लभ दिव्यास्त्रों सेयुक्त कर सर्वथा अजेय बना दिया है। ताटका तथा सुबाहु के बध और मारीच के दमन के पश्चात् कौशिक ने श्री राम को दण्ड, धर्म, काल, विष्णु तथा ऐन्द्र जैसे अमोघ पाँचों चक्र–महास्त्रों के प्रयोग तथा उपशमन का ज्ञान भी

सिद्ध करा दिया था। इन्द्र के वज्रास्त्र, भगवान शिव के पाशुपतास्त्र, ब्रह्मा के ब्रह्मशिर तथा ऐषीकास्त्र जैसे सर्वघाती अमोघास्त्रो की प्रयोग तथा उपसंहार की विधियाँ भी उनको महर्षि द्वारा सिद्ध करा दी गई थीं। उन्होंने मोदकी तथा शिखरी नामक दिव्य गदाओं के साथ धर्मपाश, कालपाश तथा वरुण पाश भी काकुस्थ श्री राम को उपलब्ध कराये गये। शुष्क एवं भद्र अशनि के साथ भगवान शिव का पिनाक धनुष तथा श्री हरि विष्णु का नारायणास्त्र भी ऋषि श्रेष्ठ ने अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य श्री राम को उपलब्ध कराया। अग्नि देव का आग्नेयास्त्र, वायु का वायव्यास्त्र, हयशिर तथा क्रौञ्चास्त्र भी उनको उपलब्ध कराये गये। राक्षसों के वध में विशेष रूप से उपयोगी कंकाल, मूसल, कपाल तथा किंकिणी एवं विद्याधरों से प्राप्त नन्दक खड्ग भी श्री राम को ऋषिप्रवर ने प्रदान किया था। गुरु अपने सर्वगुणसम्पन्न शिष्य को अपना सब कुछ सौंप देने को तत्पर रहता है। यही अतीत में श्रेष्ठ नरेन्द्र रह चुके गाधितनय के साथ हुआ। आवश्यकता पड़ने पर शत्रुओं को सम्मोहित, निद्रित अथवा युद्ध–विमुख करने वाले सम्मोहन, प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्यास्त्र भी उन्होंने श्री राम को उपलब्ध कराये। इतना से मानों गुरुदेव को सन्तोष न हुआ हो, उन्होंने नरशार्दूल ज्येष्ठ राघव को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वर्षण, शोषण, संतापन, बिलापन, मदन, मानव, पिशाचों को प्रिय मोहन, सौमन, दुर्जय, संवर्त तथा मायास्त्र जैसे दिव्यास्त्र प्रदान किया। चन्द्रमा का शिशिरास्त्र, विश्वकर्मा का त्वष्ट्रास्त्र तथा मन का सीतेषु उनको सहज प्राप्त हो गये।

इन परमास्त्रों को श्री कौशलकुमारों को विधिवत् प्रदान करने के पश्चात् महर्षि ने परमतेजस्वी, इच्छाधारी सत्यवान, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, लक्ष्य, अलक्ष्य, प्राङ्मुख, दृढ़नाभ, महानाभ, सुनाभ, ज्योतिष, शकुन नैराश्य, महाबाहु, तिरुचि, सर्चिमाली, धृतिमाली, रुचिर, पित्र्य, मकर, कामरूप, जृम्भक, वरुण, दश शीर्ष, शतोदर जैसे महास्त्रों से भी सुपरिचित कराया था।[14]

दक्षिणभारत में धर्मसंस्कृति के संस्थापक–प्रचारक महामुनि अगस्त्य ने श्री राम तथा श्री लक्ष्मण का स्वागत करने के पश्चात् श्री राम को भवगान विष्णु का वज्रमणि खचित शरासन (धनुष) कतिपय ब्रह्मास्त्र दो अक्षय तूणीर (तरकस) तथा एक दिव्य असि एवं रामानुज को कतिपय दिव्यास्त्र एवं दो अक्षय तूणीर प्रदान किया था।

धैर्य, साहस एवं पराक्रम की प्रतिमूर्ति श्री लक्ष्मण ने स्वयं को अपने अग्रज श्री राम के प्रति इस प्रकार समर्पित कर दिया है कि उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही राममय हो गया है। अपने अग्रज को ही अपना आदर्श, परमाचार्य एवं सर्वस्व मानने वाले रामानुज के व्यक्तिगत गुणों को पहिचानने के लिए किसी को भी उनके प्रतिपूर्ण समर्पण भाव के साथ उनके सन्निकट पहुँच उनका विश्वास जीतना होगा। यह मेरा सौभाग्य है कि जिस प्रकार वायुपुत्र श्री राम के अत्यधिक निकट पहुँच समरभूमि में उनके वाहन बने, उसी प्रकार श्री रामानुज के निकट पहुँचने तथा वाहन बनने का सौभाग्य मुझ युवराज अंगद को मिला। मेरे प्रति रामानुज के पूर्ण–विश्वास एवं निकटता के कारण ही मैं उनके मनोभावों तथा उनके द्वारा व्यक्त उन विचारों को भी जान पाया जो दूसरों के लिए सर्वथा अज्ञेय रह गये। दोनों भाईयों के निकट रहने वाले पवनपुत्र, महाराज सुग्रीव, जाम्बवन्त जी तथा विभीषण जैसे लोग इतना तो भलीभाँति जान गये थे कि दोनों भाईयों का परस्पर प्रेम, स्नेह, वात्सल्य तथा विश्वास एक पक्षीय कदापि नहीं था। हमने अपनी आँखों से देखा है कि जब कभी प्रभु श्री राम किसी कारणवश अत्यधिक व्यग्र अथवा किञ्चित् निराश होने लगते थे यह उनके अनुज ही थे जिनकी बातें अग्रज पर चमत्कारिक प्रभाव डालती थीं। अपने अनुज की सान्त्वना तथा प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप प्रभु श्री राम में नये उत्साह तथा ओज का संचार हो उठता था।

वानरों के लंका–प्रयाण के पूर्व कपीश्वर वाली के वध तथा देवी वैदेही के अनुसंधान के लिए वानर दलों को भेजने के पहिले किष्किन्धा में घटित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख

आवश्यक प्रतीत होता है। यदि मेरी आदरणीय माँ का सामयिक हस्तक्षेप नहीं हुआ होता तो संभवतः उस घटना के भयानक परिणाम की परिणति वानरों की राजनीतिक सैनिक शक्ति के विघटन के रूप में सामने आई होती।..... श्रीराम द्वारा पितृवध के मानसिक उद्वेग से चाहकर भी मैं पूर्णरूपेण बाहर नहीं निकल पाया था। पितृत्य के राज्याभिषेक तथा मेरे युवराज होने की घोषणा के कुछ दिनों पश्चात् ही देवी सीता का पता लगाने के लिए विभिन्न खोजी दल भेजे गये थे। युवराज होने पर भी महाराज सुग्रीव द्वारा जान–बूझ कर मुझको दक्षिण दिशा में भेजे जाने वाले खोजी दल का नेता बना कर भेजा गया। मेरे लिए पितामह तुल्य आदरणीय जाम्बवान, वयोवृद्ध उल्कामुख को तो मेरे अधीन किया ही गया। वानरराज ने अपने विश्वस्त सचिव पवनपुत्र हनुमान तथा सेनापति नील को भी मेरे अधीन लगा दिया। जानबूझ कर मेरे मातुलगण पूर्ववानर सेनापति मैन्द तथा द्विविद को मेरे साथ लगाया गया ताकि हम तीनों पर एक साथ दृष्टि रखी जा सके और हमको राजधानी से दूर रखा जा सके। मुझको लगा कि माता श्री तारादेवी तथा मैं मिल कर किष्किन्धा की वानर–प्रजा में अपने राजा के प्रति अन्यथा भावना उत्पन्न न कर सकें, इस आशंका को निर्मूल करने के लिए ही राजधानी से मुझको दूर भेजा गया था। अन्यथा एक अनुभवहीन वानर–युवराज को राजधानी से बाहर दुष्ट राक्षसों के प्रभाव क्षेत्र में भेजने का कोई औचित्य नहीं था। पाठकों को भलीभाँति स्मरण होगा कि किस प्रकर पवनपुत्र हनुमान ने सुग्रीव के दण्ड–भय से मेरे स्वयंप्रभा के आश्रम में ही शेष जीवन व्यतीत करने के मेरे निर्णय का प्रत्यक्ष विरोध किया था।

जब किसी को अनपेक्षित सत्ता की प्राप्ति हो जाती है तो उसका विवेक सो जाता है। यही वानरराज सुग्रीव के साथ हुआ। 'मैत्री–सन्धि' के अनुसार राजा बनते ही देवी वैदेही के अनुसन्धान के लिए प्रयास करने के स्थान पर नये वानरराज ने सुरा–सुन्दरी में लिप्त हो स्वयं को अन्तःपुर तक सीमित कर लिया था। जाम्बवन्त

तथा हनुमान जैसे सचिवों के लिए भी यह संभव नहीं रह गया था कि वे राजा से जब चाहें मिल सकें अथवा कोई महत्त्वपूर्ण सूचना ही महाराज सुग्रीव के पास भिजवा सकें वनवास–अवधि में किसी नगर में अप्रवेश के दृढ़ निश्चय के कारण श्री राम अन्ततः अपने अनुज श्री लक्ष्मण को किष्किन्धा भेजने को उद्यत् हुए थे।

सौमित्र को निकट से देखने तथा जानने का अवसर मुझको पहली बार उनके किष्किन्धा में प्रथम–प्रवेश के समय मिला। नगर–द्वार पर पहुँच कर क्रोध से हुँकारते हुए उन्होंने अपने धनुष की टंकार से द्वार रक्षकों को आतंकित कर दिया था। आतंकित द्वाररक्षकों के नायक ने उनको कुपित देख न केवल उनके लिए नगर का मुख्य–द्वार खोल दिया वरन् हाथ जोड़ उनकी अभ्यर्थना के पश्चात् उनका पथ–प्रदर्शक बन सम्मानपूर्वक राजसदन तक ले आया था। किन्तु रामानुज के रोष से आरक्त मुखमण्डल को देख उसका साहस उनसे पूछने का नहीं हो सका। बाणसन्धान के लिए उपयुक्त दूरी पर खड़ा हो क्रोधित सुमित्राकुमार ने सुग्रीव को चेतावनी देते हुए हुँकार भरे स्वर में कहा था, ''अग्नि को साक्षी मान कर की गई मैत्री संधि के प्राविधानों को इतना शीघ्र विस्मरण करने वाले सुग्रीव की इस नगरी तथा राजप्रासाद को अपने एक ही बाण–प्रहार से अग्नि को अर्पित किये बिना न तो वह वापस लौटेगें न किसी से मिलेगें ही।''

रामानुज के धनुष की टंकार तथा उग्रस्वरूप से भयभीत नगरजनों के कोलाहल ने मदमत्त अवस्था में अपनी पत्नी रुमा के अंक में लेटे वानर राज को हड़बडा कर रख दिया था। वस्तुस्थिति का पता चलते ही उनकी चेतना वापस लौट आई, किन्त कुपित सौमित्र के समक्ष जाने का साहस वह नहीं जुटा सके। उन्होंने इस आकस्मिक आपदा से निपटने के लिए माँ तारा की शरण लेना उचित समझा। जब उनकी सन्देशवाहिका माता श्री के पास पहुँची मैं वहीं था। माँ ने मुझको तत्काल आदेशित किया कि मैं शीघ्रातिशीघ्र राजसदन के द्वार पर पहुँच जाऊँ तथा दशरथ कुमार के क्रोध को

अनुनय भरे कोमल वचनों से शान्त करने का प्रयास करूँ। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में मुझसे कहा कि ''अभी कुछ ही दिनों पूर्व श्री राम द्वारा तुम्हारे पिता का वध हुआ है। रामानुज ने वहाँ तुमको सन्तप्त अवस्था में देखा था। तुम्हारी नम्रता सुसंस्कृत कोसलकुमार के कोप के तत्काल शमन में सफल होगी।''

माँ के आदेश के अनुपालन में मैं लगभग दौड़ते हुए राजसदन के मुख्य द्वार की ओर लपका। राजद्वार से शरसन्धान के लिये उपयुक्त दूरी पर श्री रामानुज धनुष पर बाण चढ़ाये खड़े थे। क्रोध से उनका मुख अब भी तम–तमा रहा था। उनका यह स्वरूप देख मैं उनसे कुछ पगों की दूसरी पर खड़ा हो गया तथा अञ्जलिबद्ध हो अत्यन्त मधुर स्वर में उनसे कह उठा, ''राघव–बन्धुओं द्वारा पितृहीन बनाया गया अंगद माँ के सन्देश के अनुपालन में आपकी शरण में आया है तथा अपना प्रणति निवेदन करता है।'' मैंने देखा शरसन्धान को तत्पर उनका धनुष सहसा नीचे हो गया। उस पर चढ़ाये गये बाण को उन्होंने कन्धे पर लटकते तूणीर में रख लिया किन्तु मुख की कठोरता पूर्ववत् बनी रही। श्री लक्ष्मण के धनुष के कन्धों में जाते ही मैं लगभग दौड़ता हुआ उनके चरणों में गिरने को झुका ही था कि अवधेशानुज ने मुझे अंक में भर लिया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार श्री राम ने मुझको आलिंगनबद्ध किया था। श्री राम ने पितावध से क्रुद्ध तथा उद्धत बालिकुमार को गले लगाया था, जबकि उनके अनुज श्री लक्ष्मण की बाँहों में मातृभक्त ''तारापुत्र'' आबद्ध था। पितृवध के वातावरण में मैं श्रीराम के आलिंगन की ऊष्मा का सही अनुमान लगाने की मनःस्थिति में नहीं था। सुमित्रानन्दन के अंक में मानो मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व समाहित हो उठा था। मैंने अब सोचा, श्रीराम के आलिंगन की ऊष्मा भी ऐसी ही रही होगी। इस आलिंगबद्धता में एक विचित्र सम्मोहिनी शक्ति थी। प्रकृतिस्थ होते ही मैं उनके अंक से बाहर निकला। दोनों हाथों को श्रद्धापूर्वक जोड़ते हुए मैं पुनः कह उठा, ''माँ ने अनुरोध किया है कि मैं आपके साथ राजकक्ष में पहुँच

जाऊँ। वहाँ बैठ कर आपसे बातें कर आपकी इच्छानुसार राजाज्ञा आज ही निर्गत हो जावेगी।'' सौमित्र के मुख पर अनिश्चय का भाव लक्षित कर मैं पुनः कह उठा, ''माँ ने यह भी कहा है कि यदि श्री रामानुज राजसदन में पधारने में कुछ क्षणें का भी बिलम्ब करते हैं तो तारा स्वयं वहाँ पहुँच उनको अपने साथ राजसदन में लावेगी।'' इतना सुनते ही उर्मिलानाथ के मुख के भाव सहसा अत्यन्त कोमल हो उठे। उनके पग स्वतः आगे को बढ़ चले। उन्होंने मुझको संकेत किया कि मैं उनका पथ–प्रदर्शक करूँ।

राजद्वार पर समुचित स्वागत–अभ्यर्थना के उपरान्त मैं रामानुज को राजसदन के आन्तरिक भाग में निर्मित मन्त्रणा–कक्ष की ओर ले चला। अपने राजा के बधिक के अनुज की आवभगत कुछ वानरों को अच्छी नहीं लगी। सुमित्रानन्दन के चतुर्दिक घेरा सा बना गर्जन–तर्जन कर वे अपना रोष प्रकट करने लगे। सावधान दशरथकुमार ने अपने कृपाण–कोश से अपने चमचमाते खड्ग को कुछ अंगुल बाहर निकाल कर दिखलाया तथा दाहिने हाथ की मुट्ठी से कृपाण के मूठ को पकड़ उद्धत वानरों की ओर दृष्टिपात किया। उपद्रवी वानर समूह तत्क्षण तितर–बितर हो गया। उद्धत कपिवृन्द पर मेरी रोष भरी दृष्टि का भी प्रभाव पड़ा था। अन्तःपुर के द्वार पर श्री लक्ष्मण कुछ क्षणों के लिए ठिठक कर खड़ हो गये। अपनी दृष्टि नीचे कर धीरे–धीरे अन्तःपुर के मन्त्रणाकक्ष में प्रविष्ट हुए। आर्य संस्कृति एवं मर्यादाओं से भली भाँति परिचित माँ ने अभ्यागत के आन्तरिक मनोभावों को पढ़ लिया। श्री लक्ष्मण के संकोच को दूर करने के उद्देश्य से माँ ने उनको सम्बोाति करते हुए कहा, ''परस्त्री पर दृष्टिपात के अनौचित्य के कारण अन्तःपुर के द्वार पर आपके ठिठकने के मर्म को मैं समझ चुकी हूँ। किन्तु हे राजपुत्र! निष्कपट एवं मित्रभाव से स्त्रियों की ओर देखना सत्पुरुषों के लिए निषिद्ध नहीं है।''[15]

माता श्री ने राजकक्ष में ''असामाजिक तथा स्थानच्युत रोष बनते हुए कार्य भी बिगाड़ देता हैं'' के सिद्धान्त से रामानुज को

परिचित कराया। माँ ने श्री दशरथनन्दन को बताया कि आर्य–धर्मशास्त्रकारों ने राजा में देवत्व की प्रतिष्ठा की है। सुग्रीव अब वानरों के राजा हैं। वानरेन्द्र की प्रतिष्ठा को धूमिल करने वाली बातें सार्वजनिक रूप से करके आप (लक्ष्मण) ने राजा सुग्रीव के प्रति अनुचित तथा अमर्यादित व्यवहार किया है।[16] अयोध्या के राजकुमार को समझाते हुए माँ ने पुनः कहा था कि ''आहार, निद्रा, भय और मैथुन प्राणिमात्र के प्रकृतिगत धर्म हैं।'' इन प्राकृतिक देहधर्मों पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। सुग्रीव ने अपने अग्रज के भय से चिरकाल तक पत्नी–वियोग का कष्ट झेला है।'' कामासक्ति के कारण रुमा के साथ विलासक्रीड़ा में लीन वानरराज ने जानबूझ कर देवी सीता की खोज के दायित्व का विस्मरण नहीं किया है, वरन् इसी के कारण उनसे स्वाभाविक भूल हुई हैं। ऐसी भूल को तो श्री राम सहित आप को स्वतः क्षमा कर देना चाहिए।'' ''आपको साधारण मनुष्य की भाँति वास्तविकता का पता लगाये बिना क्रोध नहीं करना चाहिए था। आप जैसे सत्त्वगुण सम्पन्न एवं जितेन्द्रिय को बिना काल तथा स्थान का ध्यान रखे किसी अन्य राजा की राजनगरी में एकाकी जा उसके सेवकों के समक्ष रोषजनित एवं अमर्यादित आचरण कदापि नहीं करना चाहिए।''

महर्षि विश्वामित्र एवं अप्सरा मेनका के प्रणय–प्रसंग का उदाहरण दते हुए माँ ने उर्मिलापति से प्रश्न किया था कि ''जब तपोपूत महर्षि विश्वामित्र काम–मोहित हुए बिना नहीं रह सके थे तो चपल स्वभाव के वानरों के राजा से जितेन्द्रियता की अपेक्षा करना कहाँ की बुद्धिमानी है?'' माँ के वैदूष्यपूर्ण कथनों तथा तर्कों से अभिभूत रामानुज ने अब माँ के समक्ष आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा– ''हे देवि! आप हमारे कार्य के तत्व एवं महत्त्व को भलीभाँति समझती है। हमारा कार्य किस प्रकार सिद्ध होगा कृपा कर उस पर प्रकाश डालें।''

अब तक शान्त हो चुके लक्ष्मण को और अधिक शान्त करने के उद्देश्य से माँ ने उनसे पुनः कहा था, ''यह क्रोध करने का समय नहीं है। आत्मीय जन क्रोध के पात्र नहीं हैं। कामासक्त सुग्रीव ने जानबूझ कर आप लोगों के कार्य की उपेक्षा नहीं की है। कामासक्त को देश, काल, धर्म अर्थ का ज्ञान नहीं रह जाता है।..... महर्षिगण भी जब यदा–कदा विषयाभिलाषी हो जाते हैं फिर सुग्रीव जैसा सामान्य व्यक्ति इससे किस प्रकार बच सकता है?'' माँ के इसी क्रम में रावण तथा लंका के विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्यों से सौमित्र को अवगत कराया था। राक्षसी सेनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से बताते हुए माँ ने राक्षसों के पास उपलब्ध आधुनिकतम शास्त्रास्त्रों तथा संसाधनों से भी अवगत कराया था। रावण तथा राक्षसों के विषय में जो सूचनायें माता श्री को पिता श्री के समय प्राप्त हुई थीं उनकी पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हुए माँ ने राजकुमार लक्ष्मण से स्पष्ट शब्दों में कहा था, ''दुर्द्धर्ष राक्षस योद्धाओं से सफलतापूर्वक निपटने के लिए सुग्रीव तथा उनकी सुविशाल वानरसेना की सहायता अपरिहार्य है।

दशरथ नन्दन श्री लक्ष्मण की किष्किन्धा–यात्रा पूर्णरूपेण सफल रही। वानर राज सुग्रीव ने उनके समक्ष उपस्थित हो खेद प्रकट किया। वानर यूथपों को पूरी सेना तथा खाद्यपदार्थों के प्रचुर भण्डार के साथ किष्किन्धा में बुलाया गया। वानर वीरों के एकत्र हो जाने पर देवी सीता के अनुसन्धान के लिए चार दलों का गठन किया गया। महाराज सुग्रीव ने सर्वप्रथम विभिन्न दिशाओं के अपने अद्‌भुत भौगोलिक ज्ञान से वानरों को परिचित कराया। शतबलि के नेतृत्व में एक दल उत्तरदिशा में खोज करने भोजा गया तो पूर्व दिशा में विनत को नेता बना एक वानर दल प्रेषित किया गया। वानर मुख्य सुषेण के नेतृत्व में एक अनुसन्धान दल को जहाँ पश्चिम भेजा गया वहीं अब तक प्राप्त सूचनाओं के अनुसार सर्वाधिक सम्वेदनशील प्रतीत होने वाली दक्षिण दिशा में मेरे नेतृत्व में एक वानर यूथ को दक्षिण दिशा में अनुसन्धान का उत्तरदायित्व सौंपा गया। सफल काम लौटने

पर लक्ष्य के विरुद्ध सैन्य अभियान में तनिक भी विलम्ब न करने का निश्चय किया गया।

वानर यूथपों के किष्किन्धा पहुँचते ही वानर सेनाओं के सर्वोच्च सेनाधिपति श्री राम की सम्मति से वानरराज सुग्रीव ने प्रमुख वानर सेनानियों की एक उच्चस्तरीय बैठक आयोजित किया। चूँकि श्री राम, वनवास की अवधि में किसी भी नगर अथवा बस्ती में न जाने के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ थे अतएव गिरि प्रस्रवरण पर एक उपयुक्त स्थान का चयन कर खुले आकाश के नीचे, गठित उच्चस्तरीय समिति की बैठक बुलाई गई। थी। इस बैठक में वानरेन्द्र सुग्रीव के अतिरिक्त मुझ युवराज अंगद, जाम्बवन्त, हनुमन्त, नल, नील, मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, दुर्मुख, रुमण, गन्धमादन, शरभ, कुमुद, बह्नि, रह, इनद्रजानु, धूम्र एवं पनस आमन्त्रित सदस्य थे। सर्वोच्च सेनापति श्री राम इसके अध्यक्ष थे। भिषगाचार्य सुषेण तथा रामानुज लक्ष्मण जहाँ इसके स्थायी आमन्त्रित सदस्य थे, वहीं पर आवश्यकतानुसार किसी अन्य को भी सदस्य के रूप में बुलाने की व्यवस्था की गई थी। लंका में विभीषण की शरणागति के पश्चात् वहाँ की युद्धनीति के निर्धारण में सहायक के रूप में विभीषण को भी उच्चस्तरीय युद्ध– समिति का सदस्य चुना किया गया।

विषयान्तर की चिन्ता किये बिना वानरों की भाँति राक्षसों के विषय में ज्ञात तथ्यों तथा आत्मानुभवों का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण आवश्यक प्रतीत होता है–

हम वानरों की भाँति राक्षसों के विषय में भी आर्यों में भाँति–भाँति की जनश्रुतियाँ तथा मान्यतायें प्रचलित हैं। कतिपय विचारकों के अनुसार असुर, देवों के राक्षस, मनुष्यों के तथा पिशाच पितरों के घोर विरोधी रहे हैं।[17] पश्चात्वर्ती काल में असुर, राक्षस और पिशाच नामक तीन मानव प्रजातियाँ प्रसिद्धि में आईं, जिनके अलग–अलग, ''आयुधजीवी संघ'' (पाणिनि की अष्टाध्यायी) थे। मानवद्रोही राक्षसों से रक्षा के निमित्त बार–बार देवताओं से प्रार्थना

की जाने लगी। आर्यों के प्राचीनतम् साहित्य में राक्षसों को 'यातु' (एन्द्रजालिक) नामान्तर दिया गया।[18] इनके तीन सिरों, दो मुखों, रीछों जैसी ग्रीवा तथा लम्बे दाँतों की कल्पना की गई। इनको यज्ञ–विरोधी तथा नर–भक्षी माना गया। यज्ञ समर्थक देवताओं के घोर विरोधी होने के कारण राक्षसों को मानव का स्वाभाविक शत्रु माना गया।

मनु को अपना मूल पुरुष मानने वाले मानवों की भाँति वानर प्रारम्भ से ही राक्षस विरोधी रहने के कारण देवताओं को विशेष प्रिय हैं। यही कारण है कि वानरों में इन्द्रपुत्र के रूप में ख्यात् कपिसिंह महाराज वाली का, सूर्य पुत्र के रूप में वर्तमान वानराधीश सुग्रीव का, वायु पुत्र के रूप में हनुमान का तथा विश्वकर्मा के पुत्र के रूप में नल का विशेष रूप से सम्मान किया जाता है। अब यह बात छिपी नहीं रह गई है कि लंका–युद्ध में देवताओं की स्वाभाविक सहानुभूति श्रीराम–लक्ष्मण तथा उनके सहायक हम वानरों के प्रति थी।

बचपन में मैंने राक्षसों की क्रूरता, उनके अनाचार, उनकी सर्वग्रासिता (सब कुछ खाना) तथा जादुई शक्तियों के विशय में अनेक कहानियाँ सुनी थीं। रावण के विषय में कहानियों में मुझे बताया गया था कि रावण के दस सिरों में बाघ, हाथी, ऊँट, गदहा के सिर सम्मिलित हैं तथा उसकी 'विवृत्त' (बाहर तक फैली) आँखें अत्यन्त भयावनी हैं। रावण के आतंक से हमारा वानर समाज अछूता नहीं था यही कारण है कि किष्किन्धा के मुख्य द्वार पर आकर पिता श्री को उसके द्वारा ललकारने का समाचार सुन नगर में सन्नाटा पसर गया था। बच्चे तथा किशोर वानर तो भाग कर अपने–अपने घरों में छिप गये थे। कुछ समय पश्चात् जब नगर में सम्राट वाली द्वारा रावण को सरलतापूर्वक बन्दी बना लेने की अविश्वसनीय लगने वाली सूचना का प्रसार हुआ तो किष्किन्धा का सम्पूर्ण वातावरण 'सम्राट वाली की जय' के नारों से गूँज उठा था। रावण को बाँध कर जब राजभवन लाया गया तो दस सिरों, बीस हाथों वाले राक्षस–राज को देखने की

लालसा में मैं दौड़ कर पिता श्री के पास पहुँचा था। पिता के पास लौह–शृंखला में जकड़े दो हाथों, दो पैरों तथा एक सिर वाले पिता श्री से भी शारीरिक बल में हीन व्यक्ति को देख मुझे घोर निराश हुई थी। मैं दौड़ा–दौड़ा अपनी माँ के पास गया था और पूछ बैठा था कि, ''माँ! इसके तो हम लोगों की भाँति एक ही सिर, दो भुजायें, दो पैर, दो कान तथा एक नाक, एक मुँह और दो आँखें हैं। क्या पिता श्री ने इसके अतिरिक्त अंगों को उखाड़ कर फेंक दिया है?'' माँ ने मुझको समझाते हुए उत्तर दिया था, ''बेटा! यह लंका के राक्षसों का राजा रावण है। ब्राह्मण पिता की सन्तान होने पर भी यह ब्राह्मणों, ऋषियों, देवताओं का घोर विरोधी तथा नरभक्षी ब्रह्मराक्षस बन गया है। घोर–मायावी तथा अतिमानवीय शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण विभिन्न मानव–समूहों में इसके तथा इसके समर्थकों के विषय में विभिन्न प्रकार की दत्तकथायें प्रचलित हो चुकी हैं।

दूसरी बार रावण को देखने के साथ परखने का अवसर तब मिला था, जब ससैन्य लंका पहुँचे प्रभु श्री राम ने युद्ध की विधिवत घोषणा के पूर्व अपना दूत बना कर मुझको लंका भेजा था। श्री राम के दूत के रूप में गये मुझको राक्षसराज की राजसभा में रत्नजटित स्वर्ण सिंहासन पर बैठे रावण के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। देखने में उसका शरीर बलिष्ठ तथा कृष्णवर्ण (नीलांजनचयोपम) था। उसके नेत्र क्रूर, विवृत्त (बाहर निकले या फैले हुए) तथा कृष्णपिंगल वर्ण के थे। इन्द्रदण्ड के समान बलिष्ठ उसकी दोनों भुजाओं पर स्वर्ण भुजादण्ड बँधे थे। उसके विशााल स्कन्ध अत्यन्त पुष्ट लगते थे। क्रोधित होने पर उसकी बाहर निकली आखें रक्तवर्ण की हो उठती थीं। उसकी आज्ञा का पालन दशों दिशाओं में होने के कारण ही उसको 'दशकंठ' कहा जाता था। शिरस्त्राण एवं कवचधारी योद्धा का सर्वाधिक संवेदनशील अंग उसकी ग्रीवा मानी जाती है। रावण की ग्रीवा में दस महाबली योद्धाओं की ग्रीवा के समान बल होने के कारण उसको 'दशग्रीव' भी कहा जाता है। उसकी दोनों भुजाओं में

दस–दस भुजाओं का बल होने के कारण उसकी बीस भुजायें बताई जाती हैं। वस्तुतः ये सभी रावण के विशेषण मात्र हैं। एक क्षण के लिए सिंहासनस्थ रावण को देख कर मैंने मन ही मन सोचा था काश! ''रावण परदारापहर्ता, निरंकुश, परपीड़क एवं धर्मच्युत नहीं होता तो अपने पराक्रमपूर्ण पाण्डित्य के कारण आज वह त्रैलोक्यपूजित होता।'

राजसभा में रावण के समक्ष उपस्थित किये जाने पर सर्वप्रथम मैंने उसको प्रणाम किया था तथा तदूपरान्त राजसभा का सम्यक् अभिवादन। इसके पश्चात् राक्षसेन्द्र की आँखों में आँखें डाल उसके सम्मुख तन कर खड़ा हो गया था मैं। मेरे इस औद्धत्य पर मेरे चतुर्दिक खड़े चार सशस्त्र राक्षस सतर्क हो उठे। मैंने उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। लंकापति के संकेत पर माल्यवान पुत्र रावण–मातुल तथा राक्षसों के सचिव–सेनापति प्रहस्त ने आत्म–परिचय देने के पश्चात् मुझसे कहा, ''हे क्षुद्र वानर! तुमको लंकेश्वर ने अभयदान दिया है। यह जानते हुए भी कि तुम वानरों ने मृत्यु के वशीभूत हो एक क्षुद्र वनवासी के बहकावे में आकर लंका पर आक्रमण का दुस्साहस किया है! त्रैलोक्याधिपति ने तुमको उनके सामने प्रस्तुत करने की कृपापूर्ण अनुमति दी है। तुम आत्मपरिचय दो और बिना बुलाये लंका आने के दुस्साहस का कारण बताओ।''

''मैं तुम्हारे तथाकथित त्रैलोक्यविजेता के दम्भनाशक किष्किन्धा के कपीश्वर स्व0 महाराज वाली का पुत्र, तेजस्वी वानरराज सूर्यपुत्र–सुगीव का भ्रातृज तथा युवराज, इक्ष्वाकुकुलभूाण अयोध्यापति श्री राम का राजदूत अंगद हूँ। लंकेश्वर विभीषण की सम्मति पर अजेय धनुर्धर प्रभु श्री राम ने मुझको यह महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा है।''

राजसभा में एक साथ विस्मय जनित उद्‌गार कई सभासदों के मुख से निकल पड़ा, ''लंकेश्वर? विभीषण लंकेश्वर?''

''क्यों? क्या चुस्त गुप्तचर व्यवस्था का दम्भ भरने वाले राक्षसों को अब तक अज्ञात है कि शतयोजन विस्तीर्ण समुद्र पर सफलतापूर्वक सेतुबन्ध कर असंख्य वानरवीरों के साथ लंका की

धरती पर पहुँच चुके धनुर्वेद के मूर्तिमान स्वरूप प्रभु श्री राम ने रावणानुज विभीषण का लंका के राजपद पर विधिवत् अभिषेक कर दिया है।'

''पितृहन्ता का गुणगान करने वाले निर्लज्ज वानर! धिक्कार है तुम पर!'' रावण की रिवसियायी हँसी गूँज उठी राक्षसों की राजसभा में।

''एक सामान्य चोर की भाँति एकान्त से एक अकेली अबला का हरण करने वाले अल्पमति रावण सावधान! लोकरञ्जक श्री राम संसार के समस्त पितृहीनों के पिता, संरक्षक और पालनहार हैं। मरते समय पलभर में तुम्हारा गर्व हरण करने वाले मेरे पराक्रमपुञ्ज पिता ने मुझको श्री राम को सौंपा था। श्री राम ने न केवल मुझे अपनाया; –अपना बनाया वरन् मुझको युवराज तथा कष्किन्धा के वानरों का भावी राजाधिराज भी घोषित कर दिया है। जम्बूद्वीप को परपीड़कों के अत्याचार, अन्याय और उत्पीड़न से मुक्त कराने तथा वनवासी गीधो, नागों, शबरों, सुपर्णों, शबरों तथा वानरों को गले लगाने वाले राघवेन्द्र को साधारण मनुष्य मानने की भूल का भयंकर परिणाम ताटका, सुबाहु, खर, दूषण, त्रिशिरा, मारीच, कबन्ध और विराध जैसे दुराचारी अब तक भुगत चुके हैं। चलायमान धनुर्वेद के साक्षात् प्रतिमान प्रभु श्री राम के सामान्य सेवक हनुमान के रोष का लंका की प्रजा, लंकादहन तथा लंकेश की सेना के एक भाग के विनाश के रूप में देख चुकी है। गत एक दशक से भी अधिक अवधि से जिस पुरुषोत्तम की चरणपादुकाओं का शासन अवधराज्य में सफलतापूर्वक चल रहा हो उसको साधारण समझने की भूल लंका के राक्षसों के उन्मूलन का कारण बनेगी।''

''जिस परम प्रतापी रावण की कृपा–कटाक्ष को देवता तरसते हैं। यमराज एवं नवग्रह जिसकी इच्छाओं के दास हों। धनपति कुबेर जिसके चरण–सेवक हों, उसके समक्ष, राज्य से निर्वासित एवं ताटका तथा एकाकी चन्द्रनखा (शूर्पणखा) जैसी स्त्रियों पर बल

प्रयोग करने वाले साधारण मानव का गुणगान कर अपनी मृत्यु को आमंत्रण क्यों दे रहे हो?'' रावण के रोष में खोखलापन स्पष्ट रूप से झलक रहा था। उसके मिथ्या अहंकार पर मुझको स्वाभाविक रूप से क्रोध आ गया था।

''हे रावण! मेरी आयु बहुत अधिक भले न हुई हो किन्तु मैंने रावण के विषय में अपनी आदरणीया माता, पूज्य पिता तथा आचार्यों से बहुत कुछ सुन रखा है। ...मैंने सुना है ब्रह्मदेव के वरदान का लाभ उठा एक रावण ने पृथ्वी पर अन्याय एवं अनाचार का सीमोल्लंघन कर डाला था। एक रावण ने अपनी विमाता के गर्भ से उत्पन्न अपने ज्येष्ठ भ्राता कुबेर से अकारण वैर साध उसका राज्य ही नहीं वरन् उसका पुष्पक विमान भी छीन लिया था। एक रावण वह भी था जिसने अपने बल के अहंकार में कैलाश पर्वत को उठाने का असफल दुस्साहस किया था। भगवान शिव के पादांगुष्ट के दबाव मात्र से पर्वत शिला के नीचे पीस रही भुजाओं की रक्षा के निमित्त बारम्बार प्रभु आशुतोष की स्तुति पर ही उसके प्राण बँच सके थे। नारी–पीड़क एक रावण को श्वेत द्वीप की स्त्रियों ने थप्पड़ों की मार से अधमरा कर समुद्र में फेंक दिया था। एक रावण वह भी था जिसने साधनारत पिता श्री वानरेन्द्र महाराज वाली को किन्किन्धा पहुँच बार–बार द्वन्द्व की चुनौती थी। पिताजी द्वारा सहज में ही उसको अपनी काँख में दबा साधना पूर्ण करने के पश्चात् बन्दी बनाकर मेरे समक्ष प्रस्तुत किया गया था क्योंकि बालमति मैं दश सिरों, बीस भुजाओं वाले विचित्र जीव को देखना चाहता था। बहुमूल्य उपहारों तथा आजीवन मित्रता के रावण के प्रस्ताव को स्वीकार करने के पश्चात् ही पिता श्री ने उस रावण को बन्धनमुक्त किया था। .....अब तुम ही बताओं इनमें से कौन सा रावण हो तुम?''

''अरे ओ पित्तृघाती! दास–बृत्ति की पराकाष्टा का बहुत प्रदर्शन कर चुके हो अब तक। .... अब मेरे धैर्य एवं उदारता की और अधिक परीक्षा मत लो। तुम्हारे कल्याण की कामना से अंतिम रूप से

तुम से कहता हूँ कि तुम मेरी शरण में आ जाओ। अनुज सहित वनवासी राम तथा बुद्धिहीन वानर सुग्रीव का बध कर मैं तुमको वानरों का सम्राट बनाऊँगा। विश्व का सम्पूर्ण वैभव तुम्हारे... अपने अभिन्न मित्र रहे वाली के इकलौते पुत्र के चरणों में लाकर डाल दूँगा। बस उस वनवासी राम तथा भ्रातृदोही सुग्रीव का साथ छोड़ मेरे विश्वास–पात्र बन जाओ। मैं अपने प्रियपुत्र गण इन्द्रजित, प्रहस्त, अतिकाय, त्रिशीर्ष, नरांन्तक एवं देवांत्तक आदि की भाँति तुमको भी अपने प्रिय पुत्र का स्थान दूँगा।'' अब रावण प्रलोभन देने पर उतर आया। मैंने समझ लिया था कि दण्ड की धमकी के साथ ही साथ वह दाम और भेद का आश्रय भी ले रहा था।

''हे मतिहीन राक्षस! अहंकार विवेक को उदरस्थ कर लेता है। विवेकशून्य व्यक्ति में भला–बुरा सोचने का सामर्थ्य नहीं रह जाता है। आचरणहीन व्यक्ति परनिन्दा–परायण होता है। मुझको पितृहन्ता कहने वाले रावण तुम यह नहीं समझ पा रहे हो कि अपने कुकृत्यों से तुमने सम्पूर्ण राक्षस जाति के अस्तित्व को ही घोर संकट में डाल दिया है। मेरे पूज्य पिता ने मरते समय पितृत्य को हृदय से क्षमा कर दिया था। मुझको प्रभु श्री राम तथा सुग्रीव को सौंपते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में आदेशित किया था कि मैं काका सुग्रीव को अपना पिता मानूँ। उनके मित्र को मित्र तथा शत्रु को शत्रु मानूँ। उन्होंने यह भी अपेक्षा की थी कि मैं महाराज सुग्रीव के शत्रुओं से किसी भी प्रकार का कोई सम्पर्क न रखूँ तथ जीवन भर पितृव्य के अधीन रहूँ। पिता की अन्तिम आज्ञा मानना किस शास्त्र में वर्जित है? क्या सहोदर अनुज विभीषण की परदारहरण के पापकर्म से विरत कर सीता माता को वापस लौटा उालने की सम्मति अनौचित्यपूर्ण थी? अपने सगे भतामह के सहोदर माल्यवान को राक्षसों तथा लंका के हित में माता सीता को लौटाने की टिप्पणी पर अपमानित कर सभा से निकाल देने का कुकृत्य उचित है?''

रावण को मौन देख मैं पुनः कह उठा, '' पिता श्री के अन्तिम आदेशों का अनुपालन कर मैंने तथा काका श्री ने वानरराज्य की एकता की पूर्ण सफलता के साथ रक्षा कर ली है। मुझे गर्व है कि मैं ऐसे पिता का पुत्र हूँ, जिसने आजीवन सत्य और न्याय की रक्षा की। मैं ऐसे पिता का लाड़ला हूँ जो जीवनपर्यन्त अपनी प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करता रहा। अप्रतिम शारीरिक बल तथा शौर्य का आगार होते हुए भी जिसने किसी अन्य राज्य अथवा प्रजाति के लोगों को अधीनस्थ बनाने का कभी प्रयास नहीं किया।''

''हे पौलस्त्य! श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में जन्म लेकर अपनी राक्षसी बृत्ति के कारण आप तीनों लोकों में आतंक का पर्याय बन चुके ब्रह्मराक्षस के रूप में सार्वभौमिक घृणा के पात्र बन चुके हो। आपके भय के कारण सम्मुख भले ही कोई कुछ न कहता हो, देवी सीता के अपहरण के कारण लंका के राक्षसों में भी आप अपनी लोकप्रियता खो चुके हैं।''

''हे राक्षस शिरोमणि! आपकी वानरों से कोई शत्रुता नहीं रही है, वरन् पिता जी द्वारा पराजित होने के पश्चात् उनसे की गई मैत्री–सन्धि को पुनजीर्वित करने का अब भी समय है। यदि आप देवी जानकी को सम्मानपूर्वक श्री राम को वापस लौटा, वानरेन्द्र सुग्रीव के ससैन्य यहाँ आने तथा सेतुबन्धन पर हुए श्रम तथा व्यय की क्षतिपूर्ति कर उस सन्धि को पुनर्जीवित करने को उत्सुक हों तो राक्षसों की राजनगरी का मान सुरक्षित रह जावेगा।' इतना कह मन्दस्मित के साथ मैं मौन हो गया था।

''रे असभ्य ओर वाचाल वानर! संधियाँ दुर्बल अथवा आतंकित करते हैं। वानरों को अपना ग्रास बनाने को उत्सुक सर्वभोजी राक्षस वानरों से न तो दुर्बल हैं न ही आतंकित ही। यदि हम त्रैलोक्य विजयी राक्षस अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग न भी करें तब भी दोनों वनवासियों सहित सम्पूर्ण वानर सेना सिर पटक कर रह जावेगी सुदृढ़ प्राचीरों वाली लंका पुरी उनके लिए अभेद्य एवं अप्रवेश्य बनी

रहेगी। हम तुम्हें सकुशल वापस भी नहीं जाने देगें। भूख से बिलबिलाते हुए जब तुम सब वापस लौटने का प्रयास करोगे हम समुद्र–सेतु तोड़ तुम्हें समुद्री जीवों का आहार बनने को विवश कर देगें। हजारों वानर तो हमारे राक्षसों का भोजन बन जावेगें। ताटका तथा चन्द्रनखा (शूर्पणखा) जैसी नारियों के विरुद्ध बल प्रयोग करने वालों को हम योद्धा नहीं मानते हैं।'' रावण का क्रोध पुनः अनियंत्रित हो उठा था।

''हे मिथ्याचारी रावण! तुम स्वयं को वेद–वेदांग का ज्ञाता तथा सर्वज्ञशास्त्र–विशारद मानते हो? क्या तुमको पता है कि रक्षितों के वध तथा उन पर आघात को उद्यत नारी अथवा ब्राह्मण भी अबध्य नहीं होता है? दण्डक वन की सीमाओं का अतिक्रमण कर गंगा तट पर आतंक का पर्याय बन चुकी ताटका का वध प्रभु श्री राम ने अपने गुरु के स्पष्ट आदेश पर तब किया था जब वह उन लोगों पर प्राणघातक आक्रमण के लिए तत्पर थी। किसी स्त्री द्वारा परपुरुष के साथ बलपूर्वक शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने जैसे जघन्य कृत्य का प्रयस तो अश्रुतपूर्व है। जनकनन्दिनी पर प्राणघातक आघात करने को उद्यत शूर्पणखा का वध न कर राघव बन्धुओं ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया था। .....जहाँ तक राक्षसों के पास दिव्यास्त्रों एवं आधुनिकतम् संसाधनों का प्रश्न है, हम वानर सेनानी इससे सुपरिचित हैं। किन्तु सम्भवतः राक्षसों को यह पता नहीं है कि साक्षात् धनुर्वेद, दोनों राघव बन्धु स्वयं में दिव्यास्त्रों के चलायमान आयुधागार हैं। खर–दूषण सहित चौदह सहस्र राक्षस सैनिकों को मार गिराने वाले मानवेतर गुणोपेत योद्धा राघव–बन्धु यदि राक्षसराज को साधारण वनवासी लगते हैं तो बलिहारी है ऐसी दुर्बुद्धि की?'' मेरे इन तर्कों से अनेक राक्षस अमात्यों के मुख पर चिन्ता तथा भय के भाव स्पष्ट परिलक्षित हुए।

''पकड़ो इस दुष्ट एवं मर्यादाहीन वानर को। प्रहस्त! यह क्षुद्र कीट किसी भी मूल्य पर जीवित न लौटने पावे।'' लगभग चिल्लाता हुआ रावण क्रोध की अधिकता से आत्म नियन्त्रण खो बैठा था।

''सावधान अधम राक्षस! मैं महान पिता का योग्य और बलशाली पुत्र हूँ। प्रतिष्ठित एवं महाबली राजाधिराज का सुसंस्कारित पुत्र होने के कारण मैं अब तक तुम्हारी प्रतिष्ठा की रक्षा करता रहा। तुम्हारी सभा में एक भी वीर ऐसा नहीं है जो मेरे धरती पर रोपे पैर को हिला तक सके। यह कहते हुए मातुल द्विविद द्वारा सिखलाई हुई क्रिया का स्मरण कर मैंने सभा के मध्य अपने बायें पैर को जोर से पटक कर जमा दिया। मानों सभा के बीच विस्फोट हुआ हो। चिहुँक कर खड़ा होते रावण का मुकुट उसके सिर से छिटक मेरे आगे आ गिरा। मैंने आगे बढ़ उसे लपक लिया। अपने चतुर्दिक घेर कर खड़े राक्षसों को एक धक्के से पृथ्वी पर गिरा मैंने उछल कर सभा कक्ष में प्रवेश के पूर्व में ही अपना लक्ष्य बना चुके कँगूरे को पकड़ लिया। दूसरी छलाग में मैं 'सभाकक्ष' के झरोखे पर था। वहाँ से सुरक्षित बाहर निकल जाना सरल था। 'जय श्रीराम' का घोष करते मैं परकोटे से नीचे कूद पड़ा। अब मैं राक्षसों की पहुँच से बाहर हो चुका था।

लंका–युद्ध के वर्णन के पूर्व मैं राक्षसों की संस्कृति तथा जीवनदर्शन की ओर लौटना उचित समझता हूँ। राक्षसों को स्थूल रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे राक्षस आते हैं जो जन्म से नहीं, वरन् कर्म से राक्षसत्व प्राप्त करते हैं। इस श्रेणी की भी दो उपश्रेणियाँ हैं। पहली उपश्रेणी के अन्तर्गत विराध और कबन्ध जैसे राक्षस आते हैं। ऐसे राक्षस प्रायः एकान्तवासी होते हैं। विराध का जन्म जहाँ गन्धर्वकुल में हुआ था, वहीं कबन्ध जन्म से किन्नर था। ऋषि–शाप से दोनों राक्षस बने थे। दूसरी उपश्रेणी के अन्दर वे राक्षस आते हैं जो राक्षस–कुलजन्मा न होते हुए भी राक्षसों की भाँति अनाचारी, सर्वग्रासी तथ स्वच्छन्द कामाचारी होते हैं। रावण तथा उसके वंशज इसी उपश्रेणी के थे। हिंसा, क्रूरता, तथा अनाचारिता में दोनों उपश्रेणियों के राक्षस समान होते हैं। छल, कपट, विश्वासघात इनकी प्रकृति में है। प्रायः सभी

राक्षस निशाचर एवं नरमाँस भक्षी होते हैं। आर्यों अथवा मनु के वंशजों की राक्षस–विषयक धारणा प्रायः अन्धविश्वास तथा पूर्वाग्रह पर आधारित हैं। उनके अनुसार राक्षस महाद्रंस्ट्रा (लम्बे दाँतों वाला) महास्या (दीघ्र मुख) महाकाय तथा भीमदर्शन (भयंकर दीखने वाला) होते हैं। इस मिथ्याधारणा ने राक्षसों को वानरों, गीधों, नागों आदि की भाँति ''अमानुष'' बना दिया है।

राक्षस वस्तुतः सुदूर दक्षिणी सागर के तट पर रहने वाले मनु के वंशजों से भिन्न पृथक् मानव प्रजाति के ही लोग हैं। कालान्तर में इस प्रजाति के लोग दक्षिण–समुद्र में स्थित लंका द्वीप पर अपना अधिकार करने में सफल हुए, किन्तु देवताओं के सहयोग से यक्षपति कुबेर उनको वहाँ से भगा कर अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। कुबेर के विमातापुत्र रावण के नेतृत्व में राक्षस लंका की पुनः विजय में सफल हुए। आर्यों ने राक्षसों की भाँति राक्षसियों को भी अतिभयावनी, कामरुपिणी, बृहदाकारिणी तथा अदभुत शक्ति की स्वामिनी के रूप में प्रचारित किया। सच तो यह है कि राक्षसों की भाँति इनके सम्बन्ध में अत्यल्प जानकारी ने ही इन भ्रान्त धारणाओं को प्रचारित किया है।

राक्षस; महीनों और वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की व्यय साध्यता एवं दीर्घसूत्रता (लम्बी अवधि) तथा यज्ञों के अवसर पर बलि देने के घोर विरोधी रहे हैं। आर्यों के पाखण्डपूर्ण कर्मकाण्डों के भी वे उग्र विरोधी हैं। यज्ञकर्ता ऋषि मुनि उनकी दृष्टि में कठोर दण्ड के पात्र हैं। यही कारण है कि राक्षसों को; ऋषि–आश्रमों को उजाड़ने, भस्मीभूत करने तथा आश्रमवासियों को मार डालने में कोई संकोच नहीं रहा है। ऋषि–मुनियों तथा उनके समर्थकों द्वारा राक्षसों को 'ऋषिकण्टक' 'ब्राह्मण कंटक', 'लोक–कंटक', मुनिघ्न, ब्रह्मघ्न, यज्ञघ्न आदि विशेषणों से इसी कारणवश सम्बोधित किया जाता है। राक्षसों की विलासप्रियता, रमणी–रमणता तथा मद्यप्रियता के घोर निन्दक रहे हैं आर्य। राक्षसों के प्रति ईर्ष्यालु प्रवृत्ति के कारण उनको देव

विरोधी तथा वेद विरोधी बताने वाले यह भूल जाते हैं कि रावण तथा उसके परिजन वैदिक मान्यताओं के विरोधी नहीं रहे हैं। जप, तप तथा संध्यादि में राक्षसों की आस्था अत्यन्त दृढ़ रही है। विधाता ब्रह्मा तथा देवाधिदेव महादेव की घोर तपस्या कर रावणादि राक्षसों ने उनसे अनेक दुर्लभ वरदान प्राप्त किया था। स्पष्ट है सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा देवाधिदेव महादेव में रावणादि राक्षसों की भक्ति एवं निष्ठा अन्य देव तथा मानवसमूह से कम कदापि नहीं रही है।

पिताजी के हाथों हुई अपमान जनक पराजय ने रावण को सोचने को विवश कर दिया था कि वानरेन्द्र वाली को मित्र बनाये बिना उसकी दिग्विजय का कोई औचित्य नहीं रह जावेगा। वानरों से मैत्री–सन्धि के पश्चात् ही रावण दण्डकवन में खर, दूषण एवं त्रिशिरा के नेतृत्व में राक्षस बस्तियों का विस्तार करने में सफल हो सका। राक्षसों में अति पुराकाल से ही अमात्यपरिषद का अस्तित्व था, किन्तु रावण की निरंकुशता के समय उसके सचिवों में चाटुकारिता की प्रवृत्ति प्रभावी हो गई थी। रावण के सगे नाना सुमाली के ज्येष्ठ सहोदर माल्यवान् तथा विभीषण का उदाहरण हमारे सामने है। देवी सीता को लौटाने की सम्मति देने पर नाना माल्यवान् को जहाँ राजसभा से बाहर निकाल दिया गया था वहीं अनुज विभीषण को भरी सभा में लात मार कर राज्य से निष्कासन का दण्ड दिया गया था।

रावण के नेतृत्व में लंका नगरी न केवल अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से शक्तिसम्पन्न बनी, वरन् भौतिक समृद्धि में उसकी तुलना देवताओं की अमरपुरी से की जाने लगी। स्वर्ण, रजत, हीरक, माणिक्य तथा अन्य बहुमल्य रत्नों की प्रचुरता ने इस किम्बदन्ती को जन्म दिया कि लंकापुरी स्वर्णनिर्मित है। भौतिक समृद्धि ने लंका में नृत्य, संगीत, वास्तु एवं स्थापत्य तथा विविध कलाओं को जन्म दिया। रावण के राजप्रासाद की भव्यता देख पवनपुत्र जैसे बहुभिज्ञ, बहुश्रुत तथा बहुपण्डित व्यक्ति की आँखें चौधियाँ गई थीं। देवी सीता की खोज में

अन्तःकक्षों में सो रहीं अथवा विलासरत राक्षस सुन्दरियों के सौंदर्य को देख कुछ क्षणों के लिए उनको यह भ्रम हो गया था कि कहीं वह सुरेन्द्र की राजनगरी अमरावती तो नहीं पहुँच गये हैं। अपने लंका–दौत्य के समय स्वयं मैंने राजप्रसाद की भव्यता, समृद्धि, अलंकरण तथा स्थापत्य सौंदर्य का अवलोकन किया था। राजसभा की आन्तरिक सजावट तथा सभासदों के वस्त्राभरण के सुरुचिपूर्ण चयन में अद्‌भुत सामञ्जस्य था।

राक्षस, कतिपय आर्यमान्यताओं, उनके जीवनमूल्यों, उनकी वर्णव्यवस्था, ऋषि–मुनियों–ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा के घोर विरोधी हैं। अर्थलोलुप तथा भोगवादी राक्षसों में सुरा–सुन्दरी के प्रति आसक्ति को प्रशंसनीय माना जाता है। लंका का स्यात् ही कोई राक्षस–परिवार ऐसा हो जहाँ अन्य राज्यों से लूट कर लाई गई सम्पत्ति तथा सुन्दरियों का समावेश न हो। स्वयं रावण के अन्तःपुर में मन्दोदरी तथा धान्यमालिनी के अतिरिक्त यक्षों, नागों, देवों, दानवों आदि से विजित सम्पत्ति के रूप में प्राप्त अनेक उपपत्नियों का जमावड़ा था। वे अपने सौन्दर्य के लिए सुख्यात् थीं।

विलास प्रिय एवं सुविधा भोगी राक्षसों में, कतिपय वैदिक मान्यताओं सम्मान जनक उपस्थिति सहज रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। राक्षसों में अनेक ऐसे थे जो नियमित 'संध्या', 'जप' (मन्त्रोचचार) एवं 'स्वाध्याय' में रत थे। रावण स्वयं षडांग वेदों का ज्ञाता 'विद्‌या–वेदव्रत स्नात' था। वेद, वेदांग के ज्ञाता राक्षसों को 'ब्रह्मराक्षस' कहा जाता है। राक्षस, स्वस्ति–ययन, उदक–क्रिया, विवाह एवं अन्त्येष्टि जैसे संस्कारों को भी मान्यता देते हैं। उनमें शवों को गाड़ने की प्रथा चिरपुरातन है। अब कतिपय राक्षस परिवार 'शवदाह' को भी मान्यता देने लगे हैं। विराध एवं कबन्ध के शवों के दाह के पश्चात उनके भस्म को भूमि में गाड़ा गया था।

जैसा कि कहा जा चुका है, राक्षसों का एक वर्ग 'यातुधान' के नाम से जाना जाता है। कुशल ऐन्द्रजालिक यातुधान, शारीरिक

सुख तथा प्रभूत सम्पत्ति–अर्जन को जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं। जादू के बल पर मनचाही रूपाकृति–धारण करने में सक्षम यातुधान छल–कपट में अत्यन्त प्रवीण होते हैं। महिलाओं से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहोदरा बहिन ही उनसे बँच पाती है। स्वयं रावण ने अपने पिता विश्रवस् की पुत्रवधू तथा सौतेले भाई कुबेर के पुत्रवधू नलकूबर की पत्नी वेदवती के शीलहरण में संकोच नहीं किया था। मनुवंशी मानवों तथा मानव प्रजाति के वानरों में स्त्रियों के साथ बलात्कार को हेय माना जाता है किन्तु मानवों में बलात्कार की शिकार बनी स्त्री को हेय दृष्टि से देखने अथवा बलात्कार की आखेट बनी महिला के सामाजिक बहिष्कार को हम मान्यता नहीं देते हैं। हम वानरों की दृष्टि में बलात्कारी पुरुष ऐसे प्रकरणों में एकमात्र दोषी होता है। अबला नारी हमारी दृष्टि में बलात्कार के लिए दोषी नहीं है। ऐसी स्थिति में वह सहानुभूति की पात्र तथा सर्वथा निर्दोष हैं।

रावण को दिग्विजयी तथा महान बनाने में राक्षसराज विद्युत्केश तथा उसकी पत्नी सालकटंकटा के संयाग से उत्पन्न राक्षसों तथा उनके वंशजों का प्रमुख हाथ है। संध्या की पुत्री सालकटंकटा तथा राक्षसराज विद्युत्केश के मिलन से सुकेश का जन्म हुआ। सुकेश के जन्म के पश्चात् स्वेच्छाचारिणी सालकटंकटा ने अपने पति तथा पुत्र का त्याग कर दिया। पति का भवन छोड़ वह अज्ञात स्थान को चली गई। बालक पर भगवान शिव तथा माँ पार्वती की कृपा दृष्टि पड़ी। उनकी कृपा से समुचित पालन–पोषण के साथ ही उसको एक आकाशाचारी विमान भी प्राप्त हुआ। सुकेश के माल्यवान्, सुमाली तथा माली नामक तीन पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। सुर तथा असुर समान रूप से तीनों भाईयों के समक्ष घुटना टेकने को विवश हुए। उन लोगों ने शीघ्र ही सागर के मध्य बसे लंका द्वीप पर अधिकार कर लिया। राक्षसें के पराक्रम से आतंकित देवसमूह भाग कर भगवान श्री हरि की शरण में जा पहुँचा। देवताओं के अनुरोध पर भगवान विष्णु ने राक्षसों पर आक्रमण किया। उनके सुदर्शन चक्र के समक्ष

राक्षस–योद्धा टिक नहीं सके और भाग कर 'रसातल' में निवास करने लगे। मातृकुल सालकटंकटा के वंशजों के साथ निवास करने को विवश हुआ। देवताओं ने आकाशचारी पुष्पक विमान सहित लंका का राज्य कुबेर को दे दिया।

सुकेश के द्वितीय पुत्र एवं माल्यवान् के अनुज तथा माली के अग्रज सुमाली के नेतृत्व में राक्षसों ने पुनः भूलोक की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया। सुमाली के समझाने पर उसकी परम रूपसी पुत्री– कैकसी ने कुबेर के पिता विश्रवस् का वरण कर उससे क्रमशः नीलश्यामल रावण, विकराल–वदन कुम्भकर्ण; पुत्री चन्द्रनखा (शूर्पनखा) तथा मनोहर कान्ति युक्त विभीषण को जन्म दिया था। रावण तथा कुम्भकर्ण बचपन से क्रूरकर्मा तथा दुष्ट स्वभाव के थे। विभीषण उनके प्रतिकूल अत्यन्त उदार, अध्ययनशील तथा सत्यवादी था। बहिन शूर्पणखा पर उसके अग्रजों का प्रभाव था। बचपन से ही तीनों भाईयों ने भगवान ब्रह्मा की घोर तपस्या कर मुँहमाँगा वर प्राप्त किया। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व एवं वानर विरोधियों के लिए आवध्य घोषित कैकसी पुत्र बहुत दिनों तक शान्त न रह सके। अपने नाना के उकसाने पर रावण ने बिना किसी पूर्व सूचना के अपने अग्रज कुबेर पर आक्रमण कर दिया। आकस्मिक आक्रमण को झेलने में असमर्थ कुबेर को प्राणदान के बदले अपने सजातीयों सहित लंका का परित्याग करना पड़ा। रावण ने पुष्पक भी छीन लिया। अब लंका राक्षसाधिपति रावण की राजधानी बन गई।

लंका को केन्द्र बना रावण ने तत्कालीन विश्व को त्रस्त करना प्रारम्भ किया। भूलोक में सर्वत्र उसका आतंक छा गया। रावण ने यमपुरी पर सफल आक्रमण किया। मृत्यु के देवता यमराज को नतमस्तक करने के उपरान्त अपने पुष्पक पर आरुढ़ हो वह रसातल पर चढ़ दौड़ा। कभी अपने मातामहों को शरण देने वाले रसातलवासी मातृकुल के राक्षसों को भी उसने नतमस्तक करने से नहीं छोड़ा। अब उसकी दृष्टि नागों की राजधानी भोगवती की ओर गई। वासुकि

द्वारा बसाई नागराजधानी को लूट अपने सौन्दर्य के लिए सुख्यात् अनेक नागसुन्दरियों के साथ वह लंका लौटा। कुछ दिनों पश्चात् पुनः पुष्पकारूढ़ हो, वह दैत्यों की राजधानी छद्मनगर पहुँचा। दैत्यराज कालिय को अधीन कर उसने वरुणालय पर आक्रमण कर दिया। वरुणपुत्रों को समर भूमि में धूल चटा वह लंका लौट आया। पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो आकाशमार्ग से किये जाने वाले आक्रमणों का कोई प्रभावशाली उत्तर उसके शत्रुओं के पास नहीं था। एक–एक कर सभी उसके समक्ष नतस्तक होते गये।

अपनी विजयों से उत्साहित रावण का ध्यान देव नगरी की ओर गया। अपने साले मधुदानव (मयदानव का पुत्र मन्दोदरी का भाई) का सहयोग ले रावण ने अमरावती पर आक्रमण किया। देवता पराजित हुए। रावण का पुत्र मेघनाद इन्द्र को पराजित कर बन्दी बनाने में सफल हुआ। प्रजापति ब्रह्मा के हस्तक्षेप पर देवराज की मुक्ति संभव हुई। इस घटना ने रावण के आतंक को सर्वव्यापक बना दिया। देवताओं की इस अपमानजनक पराजय के पश्चात् देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, नाग, असुर आदि कोई भी प्रजाति रावण अथवा उसकी सेना को चुनौती देने की स्थिति में नहीं रह गई।

भू–लोक पर प्रभुत्व–स्थापना के क्रम में रावण का ध्यान सर्वप्रथम समुद्रपार के शक्तिशाली वानरों की ओर गया था। वह वानरराज श्री वाली की किष्किन्धा पर चढ़ दौड़ा। उस समय पिता श्री सन्ध्योपासना में लीन थे। रावण के बार–बार ललकारने पर पिता श्री का ध्यान भंग हुआ। मन्त्रोच्चार को बीच ही में रोक कर पिता श्री ने झपट कर रावण को पकड़ लिया था। रावण को अनायास अपनी बाई काँख में दबा पिता श्री पुनः साधनारत हो गये। उनकी काँख में दबा असहाय रावण निरही भाव से टुकुर–टुकुर ताकने के अतिरिक्त कुछ करने की स्थिति में नहीं था। संध्योपासना की समाप्ति के पश्चात् पिता श्री बन्दी बना कर रावण को राजभवन लाये थे। क्षमायाचना तथा आजीवन–मैत्री– संधि की शपथ के बाद ही लंकापति

किष्किन्धा से मुक्ति पा सका था। इस एकाकी घटना ने रातों राम कपीश्चर श्री वाली की शक्ति को शत्रुओं के लिए चुनौती रहित बना दिया। पिताश्री के साथ आजीवन–मैत्री–संधि कर पर रावण ने अपनी खोई प्रतिष्ठा की पर्याप्त मात्रा में क्षतिपूर्ति कर ली थी।

राक्षसों तथा आर्यमानवों के मध्य संघर्ष का प्रमुख कारण स्वयं को दूसरे से सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानने की भावना थी। महर्षि अगस्त्य द्वारा विध्यपर्वत की अभेद्यता के मिथक को तोड़ कर दक्षिण मे गोदावरी तट पर आश्रम की स्थापना ने चित्रकूट से प्रारम्भ हो कर गोदवरी के दक्षिणतट पर विस्तीर्ण दण्डकवन अथवा 'दण्डकारण्य' में आर्य ऋषियों, मुनियों तथा स्वाध्यायियों को दक्षिण में आर्यसंस्कृति के प्रसार की प्रेरणा दी। उस समय तक गोदावरी एवं कृष्णा के मध्यवर्ती जनस्थान में रावण के राक्षसों की बस्तियाँ तथा अनेक सैनय शिविर स्थापित हो चुके थे। मध्यवर्ती पञ्चवटी तक उनके आतंक की सीमा में था। राक्षसों ने दण्डकारण्य में आर्य आश्रमों की स्थापना को अपने लिए चुनौती माना तथा ये आश्रम तथा आश्रमवासी उनके अनवरत आक्रमणों के आखेट बनने लगे।

प्रतिपक्षियों की ओर से प्रभावी प्रतिरोध के अभाव ने अयोमुखी तथा ताटका जैसी राक्षसियों और सुबाहु तथा मारीच जैसे राक्षसों का मनोबल इतना अधिक बढ़ा दिया कि चित्रकूट सहित गंगा का तटवर्ती क्षेत्र तक उनकी विनाशलीला का विस्तार हो गया। यही नहीं गंगा एवं सरयू तट से अनति दूर कौशिक (कोसी) नदी के तट पर बसा ऋषि विश्वामित्र का आश्रम तक राक्षसों के आक्रमणों से असुरक्षित हो उठा। कन्याकुब्ज के अधिपति रह चुके गाधितनय विश्वामित्र स्वयं दिव्यास्त्रों के परमाचार्य तथा सिद्धहस्त योद्धा थे, किन्तु ऋषि–ब्रत धारण कर लेने के पश्चात् उन्होंने राक्षसों के विरुद्ध शस्त्रास्त्र उठाना उचित नहीं समझा था।

जैसा कि भैया लक्ष्मण ने मुझको बताया था, अयोध्या से चलकर गुरु विश्वामित्र सहित गंगा एवं सरयू के सुविशाल संगम को पार करने पर एक दिन की यात्रा की दूरी पर महर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम की स्थिति थी। विस्तृत भू–भाग में कौशिकी नदी के तटवर्ती क्षेत्र में विस्तीर्ण आश्रम में स्थित सरोवरों में विभिन्न प्रकार के बक (बगुला) पक्षियों की भरमार थी। इसी कारण से स्थानीय लोग आश्रम स्थल को बकसर (कालान्तर में बगीसर अथवा बक्सर) कहने लगे। सुमित्राकुमार के अनुसार ऋषि–आश्रम में धनुर्धर बन्धुओं की उपस्थिति से अनभिज्ञ ताटका ने अपने दोनों पुत्रों सुबाहु तथा मारीच के साथ दिन–दहाड़े आश्रम पर आक्रमण कर दिया था। मुख से बाहर निकले दाँतों, लटकते होठों, रक्तमयी बड़ी आँखों वाली विकराल रूपधारिणी ताटका दीर्घाकार होते हुए भी हस्तिनी की भाँति स्थूलकाय थी। जन्म से आज तक कभी नहीं काटे गये नाखून तथा उसकी खुली हुई कमर तक लटकती केशराशि उसके रूप की भयानकता की बढ़ोत्तरी में सहायक थी। सुबाहु मानवों की तुलना में पर्याप्त लम्बाई का स्थूल काय किन्तु अपनी माँ की अपेक्षा छोटा तथा कम मोटा था। मारीच छरहरे बदन का था। तीनों कृष्णवर्ण (काला रंग) के थे। मारीच एवं सुबाहु के हाथों में शूल और कृपाण थे, जबकि ताटका ने एक वृक्ष को समूल उखाड़ रखा था। ताटका ने अपने दोनों पुत्रों को अपने पीछे कर रखा था। ऋषि सहित दोनों भाईयों पर प्रहार को उद्यत् ताटका धीरे–धीरे आगे बढ़ रही थी किन्तु राघव बन्धु मानो निश्चिन्त खड़े थे। दोनों भाइयों की अनाक्रमता कौशिक ऋषि की व्याकुलता में वृद्धि कर रही थी।

इस घटना का स्मरण कर सौमित्र के मुख पर बाल–सुलभ मुस्कान नृत्य कर उठी थी। मुझ को सम्बोधित करते हुए वह बोल उठे थे, ''प्रियवर बालिकुमार! हमारी अनाक्रमता को ताड़का ने हमारी असावधानी और घबड़ाहट समझ लिया किन्तु गुरुवर् सहित हम तीनों वस्तुतः सतर्क थे। ताटका ने हाथों में उठाये समूल वृक्ष को हम

पर दे मारा किन्तु हम उछल कर अन्यत्र हट गये। आगे बढ़ते हुए उसने इस बार एक विशाल शिलाखण्ड को उठा लिया। शूलधारी सुबाहु माँ के आदेश की प्रतीक्षा में शूल लिए सतर्क आगे बढ़ रहा था किन्तु मारीच अपने स्थान पर खड़ा अत्यन्त सतर्क दृष्टि से हमारी ओर देख रहा था। संभवतः उसको हमारी गतिविधि रहस्यमय लग रही थी। भैया को ताटका से निपटने के लिए छोड़ मैंने अपना ध्यान सुबाहु और मारीच पर केन्द्रित कर रखा था।'' प्राणहरण को तत्पर शत्रु पर चाहे वह नारी अथवा ब्राह्मण ही क्यों न हो, दया आत्मघाती होती है वत्स राम।'' ऋषिवर का स्वर सुनते ही भैया के धनुष की प्रत्यञ्चा खींची तथा दोनों हाथों में भारी शिलाखण्ड अपने सिर के ऊपर उठाये हमारी ओर दौड़ती ताटका चीत्कार करती हुई उलट गई। अग्रज का बाण उसकी दोनों आँखों के मध्य के सिर को भेदते हुए कब का बाहर निकल चुका था। मैं अभी कुछ समझ पाता कि भैया के शरासन से दूसरा बाण निकला और शूल सहित हमारी ओर दौड़ती सुबाहु की भी वही गति हुई। अब कृपाणधारी मारीचि तीव्रगति से पीछे मुड़ घनी झाड़ियों के मध्य भागा। ''शत्रु का सकुशल पलायन भी आपदाकारक होता है। वत्स! यदि मारीच बँच गया तो दूसरी बार वह और अधिक हानिकारक स्थिति में वापस लौटेगा।'' गुरुवर की ध्वनि के साथ घनी झाड़ियों के बीच लगभग घुस चुके मारीच पर भैया का तीसरा प्रहार हुआ। चीत्कार की गूँज के अनुसरण में देखने पर पता चला कि झाड़ियों के मध्य एक स्थान पर वह गिरा अवश्य था किन्तु पता नहीं किस जिजिविषा ने उसके प्राणों की रक्षा की थी। वन में दूर तक रक्त की बूँदों का अनुगमन करने पर भी उस का शव हमको नहीं मिल सका। घटना के तीन चार दिन पश्चात् पता चला कि ताटका के नेतृत्व में बसी राक्षसबस्ती उजड़ चुकी है। संभवतः पलायमान मारीच के साथ वहाँ रहने वाले राक्षणगण गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के घने वनक्षेत्र में बसे राक्षस शिविर जनस्थान की ओर भाग चुके थे।

लंका को राक्षसों की शक्ति का अजेय केन्द्र बनाने वाला रावण न केवल शास्त्र एवं शस्त्र–निपुण था वरन् देवों तथा मानवों के विरुद्ध राक्षसों, दैत्यों, दानवों की शक्ति को राक्षसों के झण्डों के नीचे लाने के प्रति भी नितान्त सजग था। उसके मातृकुल के राक्षस सम्बन्धों के अनुरूप उसके मातामह, मामा, भाई, भ्रातृज आदि थे। वय एवं क्षमता के अनुसार उसने उनको सैनिक– प्रशासनिक पद प्रदान कर सत्ता में भागीदारी दी थी। ताटका उसकी यदि मौसी थी तो सुबाहु और मारीच मामा। ताटका का विवाह असुर कुल के श्रेष्ठ नायक जम्भासुर के पुत्र सुन्द के साथ हुआ था। ताटका के कारण असुरों से उसकी निकटता बढ़ी थी। जहाँ तक खर एवं दूषण का प्रश्न है। भारतीय प्रायद्वीप में राक्षस संस्कृति एवं सत्ता के प्रसारक दोनों भाई रावण की विमाता राका के गर्भ से उत्पन्न ऋषि विश्रवस के पुत्र अर्थात् राक्षसराज के सौतेले भाई थे। इनके अधीन राक्षसों के चौदह सेनापति तथा चौदह हजार सशस्त्र राक्षस सैनिक थे। उसके नाना सुमाली के अग्रज माल्यवान जहाँ रावण की अमात्य–परिषद के वरिष्ठ सदस्य थे, माल्यवान का पुत्र प्रहस्त राक्षस सेनापति था। इसी प्रकार उसके अन्य निकट सम्बन्धी तथा पुत्रगण राक्षस–प्रशासन में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे।

वस्तुतः अधिकांश राक्षस प्रजा जम्बूद्वीप के सुदूर दक्षिणी सागर के तटवर्ती एवं द्वीपों में रहने वाली 'कृष्णत्वच'' (काले रंग वाले) आदिवासी थी। उनमें अधिकांश 'मत्स्यजीवी' अथवा मछुवारे थे। आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव से अछूता इन राक्षसों की अलग 'रक्ष–संस्कृति' थी। कालान्तर में विश्रवस् ऋषि के पुत्रगण रावण का नेतृत्व स्वीकार करने को यह बाध्य हुए। रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण तथा खर एवं दूषण इन ब्राह्मणपुत्रों के कारण अनेक मूल राक्षसों ने भी संस्कृत सीखा तथा वैदिक संस्कारों को स्वीकार किया। स्वयं राका–पुत्र खर के विषय में कहा जाता है कि गन्धमादन पर्वत पर अपने पिता विश्रवा के संरक्षण में पला–बढ़ा। राक्षसों में उसको

वेदपरांगत तथा सदाचारी माना जाता था। रावण ने अपने इस सौतेले भाई को अपने प्रभाव में ले इसको जनस्थान तथा पार्श्ववर्ती क्षेत्रों का सीमारक्षक नियुक्त किया था। 'मांसोपजीवी' आदिवासी–बहुल राक्षस प्रजा का हृदय जीतने के लिए रावणादि ब्रह्मराक्षसों को स्थानीय राक्षास प्रजा के खान–पान तथा दैनिक जीवन पद्धति को अपनाना पड़ा। क्रूरता में अपनी स्थानीय प्रजा से भी आगे निकल जाने की होड़ नें रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित, अतिकाय, खर एवं दूषण जैसे ब्रह्मराक्षसों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिक कुख्याति प्रदान किया।

स्वभाव से कुटिल, दुष्ट एवं परमस्वार्थी राक्षस अपना वास्तविक मन्तव्य छिपाने की कला में अत्यन्त निपुण होता है। रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण की घोर तपस्या का उदाहरण हमारे सामने है। उनके उपास्य देव ब्रह्मा भी उनका वास्तविक मन्तव्य नहीं जान पाये तथा उन्हीं के वरदान का परिणाम, रावण के नेतृत्व में राक्षसों की अपराजेय शक्ति के रूप में मानवमात्र के लिए घोर संकट का कारण बना। घोरमद्यपी, नरमाँसभोजी राक्षसों की नगरी में वेद–विदग्ध एवं सर्वशक्तिमान रावण का अभ्युदय इस लोकोक्ति को असत्य प्रमाणित करता है कि नैतिक एवं भौतिक विकास की रेखायें समानान्तर चलती हैं। रावण की लंका में भौतिक विकास तो अकल्पनीय ऊँचाईयों तक पहुँचा किन्तु मानव जीवन के नैतिक मूल्यों की बलि देकर। सत्य, उदारता, दया, सदाचार जैसे वैश्विक महत्त्व के शब्द राक्षसों के शब्दकोश से तिरोहित हो गये।

राक्षसों के उदाहरण से यह विवाद रहित ढंग से सत्य प्रमाणित हो जाता है कि कोई व्यक्ति जन्म से नहीं वरन् कर्म से श्रेष्ठ अथवा नेष्ट (नीच) बनता है। विराध गन्धर्व कुल में उत्पन्न हुआ था तो कबन्ध देवलोक की किन्नर प्रजाति में। दोनों जन्मना राक्षस नहीं थे। इसी भाँति ब्राह्मण पिता से उत्पन्न रावण, कुम्भकर्ण, खर, दूषण एवं इनके परिजन भी जन्म से राक्षस नहीं थे। उनके कार्यों ने तथा संस्कारों ने उनको कुख्यात् राक्षस बनाया था।

लंका के महासंग्राम तथा तत्सम्बन्धित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व जम्बूद्वीप के विभिन्न मानव समूहों में प्रचलित कतिपय सामाजिक मान्यताओं, परम्पराओं, रीति–रिवाजों, वर्जनाओं, अन्ध–विश्वासों, खान–पान, रहन–सहन, वस्त्राभरण धारण करने के ढंग आदि संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

जम्बूद्वीप में आर्यावर्त आर्य प्रजाति के मानवों का प्रमुख केन्द्र है। शिक्षा, संस्कृति तथा धार्मिक–आर्थिक क्षेत्र में आर्य स्वयं अन्य प्रजातियों से अपने को बहुत आगे मानते हैं। संस्कृत उनकी प्रमुख भाषा है किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय शब्दों की बहुलता वाली प्राकृत एवं अन्य भाषाओं तथा बोलियों का अस्तित्व बना हुआ है। महर्षि अगस्त्य ने पहली बार विंध्य की अगम्य पर्वत शृंखलाों को लांघकर दण्डकारण्य के दुर्गम वनों को लाँघते हुए दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में स्थित गोदावरी नदी के तट पर अपने आश्रम की स्थापना क्या थी। तदूपरान्त इस वनप्रान्तर में ऋषि आश्रमों की बाढ़ सी आ गई।

दक्षिणापथ की अन्तिम सीमा के निकट स्थित ऋष्यमूक पर्वत को चीरती हुई तुंगभद्रा नदी पश्चिम पयोधि में गिरती है जबकि उसी पर्वत से निकलने वाली कृष्णा तथा वेणा नामक नदियों की संयुक्त जलधारायें पूर्वपयोधि में जा मिलती है। ऋष्यमूक पर्वत पर ही वानरों के विभिन्न शाखाओं की राजधानी किष्किन्धा महापुरी अवस्थित है। वानरों की भाषा तथा बोलियाँ आर्यों एवं राक्षसों से सर्वथा भिन्न हैं। आर्य संस्कृति के प्रभाव के कारण वानरों में संस्कृत सीखने तथा वेद–वेदांगों के अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ी है। सुदूर दक्षिण में दक्षिणी सागर के मध्य बसे लंकाद्वीप में रहने वाले राक्षसों के राजा रावण के ऋषिपुत्र होने तथा उसके सहोदर कुम्भकर्ण और विभीषण तथा सैतेले भाईयों खर एवं दूषण के प्रभाव के कारण लंका में संस्कृत तथा वेदपाठियों का सम्मान बना हुआ था। रावण, विभीषण तथा खर स्वयं भी वेदों के ज्ञाता रहे थे। सामान्य राक्षस प्रजा संस्कृत से सर्वथा

भिन्न राक्षसी भाषा का प्रयोग करते हैं। आर्यों, राक्षसों तथा वानरों में स्त्री पुरुषों में वस्त्र पहिनना सर्वप्रचलित हो गया है। कम से कम दो वस्त्र एक अधोवस्त्र तथा दूसरा ऊ परी वस्त्र थवा उत्तरीय प्रचलन में हैं। सिले हुए वस्त्रों को धारण करने का प्रचलन अब भी कम है।

राक्षसों की 'रक्ष' तथा यक्षों की यक्ष–भाषाओं की भाँति गीधों तथा नागों एवं शबरों की अलग–अलग भाषायें एवं बोलियाँ प्रचलन में हैं। राक्षस, आर्य गीध एवं नाग व्यवसायी एक दूसरे की भाषा तथा बोलियों से भिज्ञ न होते हुए भी प्रायः संकेत का आश्रय ले वस्तुविनियम (वस्तुओं की अदला–बदली) के माध्यम से व्यावसायरत होते हैं। राक्षसों की निरंकुशता एवं दस्युवृत्ति के कारण समुद्र मार्ग से होने वाले व्यवसाय में उल्लेखनीय कमी आई है।

गीध तथा सुपर्ण एक पिता की दो माताओं से उत्पन्न सन्तान होने के कारण समान प्रजाति के हैं किन्तु दोनों में स्वाभाविक मित्रता का अभाव प्रतीत होता है। गीध अथवा गृद्ध लोग जहाँ गीधों को अपना राजकीय चिन्ह मानते हैं सुपर्ण अथवा गरुण, गरुड़ अथवा श्येन पक्षी को। दोनों माँसाहारी हैं। जंगल में वनवासी जीवन व्यतीत करने वाले अर्द्धसभ्य गीध तथा गरुड़ किसी भी जंगली जानवर यहाँ तक कि साँपों तक का माँस भी समान रुचि के साथ भक्षण करते हैं। दोनों अपने शरीर के अधोभाग को रंग–बिरंगे पक्षियों के पंखों से ढंकते हैं। कच्चे माँस का सेवन उनको अधिक प्रिय है। आग में भुने हुए माँस के प्रति कतिपय गीधों तथा गरुड़ों की धारणा है कि आग में भुना माँस अपना स्वरूप खो देने के कारण भक्षणीय नहीं रह जाता है। कुछ की तो यहाँ तक सोच है कि भुना हुआ माँस पेट में अग्नि–ताप उत्पन्न करता है। गीधों तथा गरुणों के विषय में बहुश्रुत है कि ये अपने शत्रु–मानव–समूह के लोगों का मांस भी भक्षण कर जाते हैं।

पृथक् नाग–भाषा भाषी ''सर्पचिन्ह'' धारण करने तथा सांपों को पवित्र एवं पूज्य माने वाले नाग–जाति दक्षिण समुद्रतट, महेन्द्र

एवं मैनाक पर्वत की गुहाओं में विभिन्न समूहों में निवास करती हैं। नाग–स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता के लिए सर्वख्यात् हैं। रावण ने समुद्र स्थित 'बालिद्वीप' के नागराज वज्रनाभ की हत्या कर इस द्वीप पर अधिकार कर लिया था। नाग प्रजा द्वीप छोड़ अन्यत्र भागने को विवश हुई। राक्षसराज को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। वासुकि, तक्षक, शंख और जटी जैसे सुख्यात् नाग राजाओं के समान नामधारी वंशजों को पराजित कर वह नागों की राजधानी भोगवती को लूट अनेक नाग–सुन्दरियों का अपहरण कर वह लंका ले गया। नाग सर्प विष–विशेषज्ञ तथा सर्पविष, पशुचर्म एवं रत्नों के कुशल व्यवसायी रहे हैं। पशुचर्म से अपना अधोभाग ढंकने वाले नाग स्त्री–पुरुष प्रायः अर्द्धनग्न रहते हैं। नाग रावण द्वारा किये गये अपमान को भूल नहीं पाये। यही कारण है कि नाग माता सुरसा ने समुद्र–सन्तरण के समय पवन पुत्र को बुद्धि एवं बल की परीक्षा लेने के पश्चात् उनको सफल लंका–यात्रा का आशीष दिया था। नागों ने आञ्जनेय की इस यात्रा में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डाला था।

राक्षसों ने नाग सुन्दरियों से उत्पन्न बच्चों तथा अपनी नाग–पत्नियों से सान्निध्य में सर्पों के विभिन्न प्रकार के घातक विषों का ऐसा मिश्रण बनाया है, जिसका निवारण भिषगाचार्य सुषेण के पास भी नहीं था। मूर्च्छित एवं मृतप्राय वानरों को अपने उपचार से पुनर्जीवन देने वाले मातामह मेघनाद के नागपाश का सफल उपचार नहीं कर पाये। यह दैवेच्छा ही थी कि उसी समय सर्पविष–विशेषज्ञ गरुड़ जाति के प्रवीण वैद्य के पहुँच जाने से अपने अनुज सहित प्रभु श्री राम की चेतना वापस लौट सकी थी।

अपनी स्वतंत्रता को अतिप्रिय मानने वाली वानर जाति दास–प्रथा की घोर–विरोधी है। मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को दास बना कर रखने से बढ़कर घृणित कर्म वानरों की दृष्टि में दूसरा कोई नहीं है। स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले आर्य 'कृष्णात्वच' (काले लोगों को) को हेय दृष्टि से देखते हैं। उनमें दास प्रथा का अस्तित्व

अतिपुरातन है। मैंने श्री राम की अयोध्या में भारी संख्या में दास–दासियों की उपस्थिति स्वयं देखी है। रावण के नेतृत्व में राक्षसों में भी दास–प्रथा को हेय माना जाता है।

आर्यों में बाह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, असुर, गन्धर्व, राक्षस एवं पिशाच आठ प्रकार के विवाहों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। किन्तु प्रथम चार को ही प्रशस्त माना जाता है। बल, छल, लालच अथवा मत्त नारी के साथ दैहिक सम्पर्क को आर्य अत्यन्त हेय मानते हैं। भोगवादी राक्षसों में बलपूर्वक अपहृत नारी से विवाह को सामाजिक मान्यता दी गई है किन्तु उनमें भी आर्यों की भाँति प्राजापात्य विवाह को श्रेयस्कर माना जाता है। मन्दोदरी तथा रावण का विवाह इसका प्रमुख उदाहरण है। मयदानव ने हेमा अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न अपनी पुत्री मन्दोदरी को पवित्र कुमारी बताते हुए प्रार्य–रीति से से विवाह हेतु उसके पति को सौंपा था। स्वयं रावण ने अपनी अनुजा चन्द्रनखा (शूर्पणखा) का विवाह विद्युजिह्व को उसके लिए उपयुक्त मानते हुए कराया था। राक्षसों ने आर्यों की विवाह–रीति को अपनाया अवश्य किन्तु स्त्रियों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक भी बना दिया। वानरों में आर्यों तथा राक्षसों की तुलना में स्त्रियों का अधिक सम्मान रहा है। वानरों में नारी–उत्पीड़न की घटनायें अकल्पनीय हैं।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता'' (जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं) की उद्घोषणा करने वाले मनु की इस मनुहार को उन्हीं के वंशजों ने भुला दिया। वेद मंत्रों की स्रष्टा घोषा, गार्गी, लोपा–मुद्रा तथा अपाला जैसी नारियों की भावी पीढ़ी की महिलायें आगे चलकर अपना सम्मान तथा अधिकार सुरक्षित नहीं रख सकीं। जिस देवी सीता की पुनर्प्राप्ति के लिए श्री राम ने अनेक कष्ट सहा, लाखों वानरों को युद्ध की भेंट चढ़ा दिया, उसी देवी वैदेही की अग्नि–परीक्षा लिए बिना उनका पुनर्ग्रहण नहीं किया। यहीं नहीं अयोध्या की प्रजा में जनक नन्दिनी के प्रति लोकापवाद की चर्चा मात्र से गर्भावस्था में

उस सर्वथा निर्दोष नारी का उन्होने त्याग कर दिया। मुझे गर्व है कि मैं उस वानर समूह में उत्पन्न हुआ हूँ, जिसमें नारी का सम्मान सदैव सुरक्षित रहा। माता तारा तथा चाची रुमा का उदाहरण हमारे सामने है। महाराज सुग्रीव से पुनर्विवाह के पश्चात् भी देवी तारा वानरों की सम्माननीया राजमहिषी बनी रहीं। उनकी बातों की स्वीकार्यता नये महाराज के समय भी पूर्ववत थी। यही नहीं बल पूर्वक किष्किन्धा में रोकी गई चाची को स्वीकार करने के पूर्व पितृव्य ने उनकी कोई परीक्षा नहीं लिया। अपनी पत्नी के प्रति पितृत्य का प्रेम तथा विश्वास पूर्ववत् बना रहा। देवी सीता को लौटाने को लेकर अपने पति की टिप्पणियों का उग्र प्रतिवाद करने वाली मन्होदरी के प्रति रावण जैसे निरंकुश राजा का व्यवहार सदैव सम्मानजनक रहा। अपने गर्भ से पवनपुत्र एवं अन्य देवसन्ततियों को जन्म देने वाली वानर स्त्रियाँ हमारे समाज में पूज्य बनी रहीं।

कभी–कभी व्यक्तिगत उदारता भी शासक के लिए घातक दुर्बलता बन जाती है। कुबेर ने लंकाधिपति बनने के पश्चात् भी वहाँ की राक्षस बहुल प्रजा के साथ कोई छेड़–छाड़ अथवा भेदभाव नहीं किया किन्तु वहाँ की राक्षस प्रजा अपने बाहरी सजातीयों को यक्षों से सम्बन्धित संवेदन शील सूचनायें देती रही। जब तक यक्षराज कुछ समझ पाते उन्हीं के सौतेले भाई रावण के नेतृत्व में राक्षसों का लंका पर आक्रमण हो चुका था। कुबेर को प्राणदान के साथ लंका की अधिकांश यक्ष–प्रजा भी कुबेर के साथ लंका से सुदूर उत्तर दिशा में गन्ध मादन पर्वत पर चली गई। वहाँ पर धनपति कुबेर ने अलकापुरी नामक नई राजनगरी बसाया। यक्षों के निष्कासन के पश्चात् शासक पक्ष के राक्षसों के बढ़ते अन्याय तथा एकाधिकार से संतप्त, लंका की नाग और निषाद प्रजा तथा विदेशी समुद्री व्यवसायी भी एक–एक कर लंका छोड़ कर सुरक्षित स्थानों को चले गये। लंका की राक्षस प्रजा ने एक मत हो रावण को अपना 'गणेश्वर' चुना। अपनी बढ़ती हुई शक्ति एवं सत्ता–विस्तार के साथ रावण अन्ततः निरंकुश राजेश्वर के रूप में परिवर्तित होता गया।

आचरणहीनता तथा कामासक्ति के निर्बन्ध होने में देर नहीं लगती है। यही रावण के साथ हुआ। अपने अन्तःपुर में सौंदर्य तथा लावण्य की साक्षात् प्रतिमा मन्दोदरी जैसी पत्नी, जो इन्द्रजित जैसे यशस्वी युवराज की माँ थी, के होते हुए भी अपनी कामासक्ति के कारण रावण ने सुन्दर स्त्रियों से अपना अन्तःपुर भर लिया था। यह राजमहिषी मन्दोदरी की आकर्षक रूपराशि का परिणाम था कि हनुमान जैसा महाप्राज्ञ भी पहली दृष्टि में उनको देवी सीता समझने की भूल कर बैठा था। यह ज्ञानियों में अग्रगण्य (ज्ञानि नामग्रगण्यः) अञ्जनीकुमार की 'प्रत्युत्पन्नमतिता' ही थी कि उन्होंने तत्काल यह सोच लिया कि आर्य संस्कारों में पली, ''विदेहराज–दुहिता'' के सम्बोधन से सुख्यात् देवी वैदेही, प्रभु–श्री राम की प्राण–बल्लभा जानकी अपने स्वामी से अलग हो चिन्ता रहित नहीं रह सकती थीं।

जैसा कि मारुति ने मुझे लंका से लौट कर बताया था, दशानन के राजप्रासाद तथा पार्श्ववर्ती भवनों में श्री राम–प्रिया की खोज में मिली असफलता ने गम्भीरता की प्रतिमूर्ति पवनकुमार को भी कुछ क्षणों के लिए गहरे मानसिक अवसाद में डाल दिया था। बिना विदेहकुमारी का पता लगाये वापस लौटने के घातक दुष्परिणामों की कल्पना कर केसरीनन्दन की आत्मा काँप उठी थी। उनकी असफल वापसी पर वानर राज सुग्रीव एवं अन्य वानर यूथपति क्या कहेंगे? महाराज दशरथ के दोनों पुत्र पवनतनय के विषय में क्या सोचेगें? असफलता जनित शोक के दुष्परिणाम की कड़ियों को मिलाते हुए उन्होंने यहाँ तक सोच लिया था कि अपनी प्रिया की खोज में असफलता के दुःख को सह सकने में असमर्थ श्री राम अपना प्राण त्याग देगें। श्री राम के प्राणों में जिसके प्राण बसते हैं वह श्री लक्ष्मण, श्री राम के वियोग मे स्वतः अपना शरीर त्याग देगें। इन दोनों राघव बन्धुओं के प्राणान्त का कष्ट सहन करने में असमर्थ, भरत, शत्रुघ्न एवं तीनों राजमातायें भी जीवित नहीं रह सकेगीं। यह देख महाराज सुग्रीव, राजमहिषी तारा, राजरानी रोमा तथा युवराज अंगद भी शरीर

त्याग देगें। जाम्ववन्त, नील सहित अन्य वानर वीर भी विषपान कर या प्रायोपवशेन (अनशन) कर अथवा पर्वत श्रेणियों से कूद अपना जीवन समाप्त कर लेगे। माता सीता के अनुसन्धान में असफलता एक साथ अयोध्या के इक्ष्वाकुओं तथा दक्षिणापथ के वानरों के निर्मूलीकरण का कारण बनती दिखलाई दे रही थी। शंकरसुवन हनुमान ने मन ही मन देवाधिदेव महादेव का स्मरण कर अपने मन से इस आत्मघाती सोच को जड़ से उखाड़ फेंका था। उसी समय बज्रबाहु हनुमन्त ने यह निश्चय कर लिया था कि माता सीता की खोज में सफलता न मिलने पर वह रावण की लंका को न केवल भस्मीभूत कर डालेगें, वरन् रावण को बलपूर्वक बाँधकर प्रभु श्री राम के चरणों में अर्पित करेगें।

स्नान, ध्यान, देवार्चन, संध्या एवं जाप, आर्य जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'स्नान' वानरों को स्वभाव से प्रिय रहा है। आर्य मानवों के प्रभाव में वानरों ने स्नान–ध्यान–अर्चन के धार्मिक महत्त्व को समझा है। आर्यों की भाँति अधिकांश प्रबुद्ध वानरों का शौच एवं मञ्जन के पश्चात् सूर्योदय–पूर्व स्नान के साथ दैनिक जीवन का प्रारम्भ होता है। स्नानोपरान्त संध्योपासना पूर्वाभिमुख हो सूर्यदर्शन के साथ प्रारम्भ होती है। इसको ''पूर्वा–सन्ध्या'' कहा जाता है। सायंकालीन सन्ध्योपासना डूबते हुए सूर्य के दर्शन तथ अर्घ्य के साथ सम्पन्न होती है। सूर्य को 'अर्ध्यदान' के पश्चात् गायत्री–मंत्र का जाप किया जाता है। 'तर्पण' के माध्यम से पितरों को जल देना सन्ध्योपासना का अनिवार्य अंग है। 'सन्ध्या' की भाँति 'होम' अथवा अग्निहोत्र का महत्त्व भी हम वानरों ने आर्यों से ही सीखा है। अयोध्या में मुझको एक भी घर ऐसा नहीं मिला जिसमें 'आग्नेयागार' अथवा 'वेदिकागृह' न बना हो। मेरे पिता श्री वाली महाराज ने अपने दैनिक सन्ध्योपासना में व्यवधान डालने पर ही रावण का गर्वहरण किया था। अयोध्या में भगवान विष्णु के समर्थक वैष्णवों की संख्या में वृद्धि के बावजूद भगवान शिव के भक्तों, 'शैवों' की बहुलता है। वानर;

भगवान विष्णु एवं अन्य देवों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना रखते हैं किन्तु वानरों के प्रमुख आराध्य देव भगवान विरुपाक्ष शिव ही हैं। रावण सहित अन्य राक्षस भगवान विष्णु तथा इन्द्रादि देवताओं के प्रति घोर शत्रुता की भावना रखते हुए भी ब्रह्माजी, भगवान शिव तथा शनि के उपासक हैं।

वानरों में स्त्री–पुरुष के मध्य शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के नियम शिथिल रहे हैं किन्तु आर्यों के प्रभाव के कारण उनमें भी 'एक–पत्नी–व्रत' के प्रति रुझान अत्यन्त तीव्रगति से लोकप्रिय हो रहा है। इसी रुझान के कारण हनुमान की माँ अञ्जना ने वायुदेव द्वारा उनके शील–हरण के प्रयास पर फटकार लगाते हुए उनसे कहा था, ''एक पत्नीव्रतमिदं को नाश्यितुम इच्छति'' (मेरे इस एकपत्नी व्रत को नष्ट करने की इच्छा कौन रख सकता है?) वह इस प्रयास पर वायुदेव को शाप देने को उद्यत् हो गई थीं। माँ तारा को तो अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् ही पति के साथ सहमरण के निश्चय से विरत किया जा सका।

अपने अयोध्या–प्रवास के समय हमें आर्यों के भोजन की विविधता तथा पाककला की विशिष्टताओं को निकट से देखने तथा जानने का अवसर प्राप्त हुआ। भोजन को स्थूल रूप से 'भक्ष्य' तथा 'अभक्ष्य' की श्रेणियों में रखा गया है। भक्ष्य समाज के प्रत्येक वर्ग को स्वीकार्य था। 'अभक्ष्य' में समाज के कुछ विशिष्ट वर्ग अथवा लोगों के लिए 'त्याज्य' अथवा वर्जित पदार्थों की गणना की गई है। इनको 'खाद्य' एवं 'अखाद्य' भी कहा जाता है। ग्रहण करने की विधि के अनुरूप खाद्य पदार्थ को 'भक्ष्य' (चबाकर खाने योग्य) भोज्य (मृदु भोजन जिसको बिना चबाये भी खाया जा सकता हो), चोष्य (चूस कर खाने योग्य), लेह्य (चाटने योग्य) भी कहा जाता है। पीकर ग्रहण योग्य द्रव्य पदार्थ को 'पेय' की संज्ञा दी गई है। सूप की लोकप्रियता के कारण सम्पन्न परिवारों में अलग से 'सूपकार' की नियुक्ति की जाती है।

कोसल राज्य के प्रमुख अन्न उत्पादों में शालि, ब्रीहि, तन्दुल, कलभ (चावल के विविधि प्रकार), गोधूम (गेहूँ), यव (जौ), मुद्‌ग (मूंग), कुल्था, दाल, श्यामा (साँवा) तथा नीवार आदि सम्मिलित हैं। अन्तिम दो वनवासियों का भोजन कहे जाते हैं। चावल तथा उससे बने विवधि पकवान सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। चावल को दूध में पका कर उसमें गुड़ अथवा शर्करा मिला कर सुस्वादु पायस बनाया जाता है। अधिक मात्रा में दूध में अल्प मात्रा में चावल तथा शक्कर अथवा गुड़ मिला कर क्षीर (खीर) बनती है। ब्रीहि अथवा चावल में मूँग तथा तिल मिला कर 'कृदर' बनाया जाता है।

वानरों का मधुप्रेम बचपन से ही उनको मिष्ठान्न प्रेमी बना देता है। वानर परिवारों में मधु तथा मीठे फलों के रस से विभिन्न मीठे पकवान बनते रहे हैं। वानर मातायें बच्चों के रोने पर प्रायः मधु देकर बच्चों को चुप कराती हैं। किन्तु अयोध्या में हमको पहली बार विभिन्न प्रकार के मिष्ठान्न खाने को मिले। गोधूम तथा चावल के आटे में, दूध, घी तथा शक्कर मिलाकर बनाये गये अपूप अथवा पूये और मोदक के स्वाद का तो क्या कहना? दूध शक्कर तथा घी से निर्मित खाण्डव तथा फलों के रस में दधि मिलाकर बनाया गया 'राग' भी हमको अत्यन्त प्रीतिकर लगे।

दो मास से भी अधिक के अयोध्या–प्रवास में हमको आर्यों की परस्पर स्नेह, सौहार्द एवं एक साथ मिलकर जीने की प्रेरणा दायिनी परम्परा का निकट से अनुभव करने का अवसर मिला। कतिपय अपवादों को छोड़ (जब हमें किसी विशिष्ट व्यक्ति के यहाँ आमन्त्रण पर भोजन करना था) कर हमारा भोजन प्रायः राजसदन के भोजनालय में ही बनता था। राजकीय भोजनालय में भोजन करने वालो को भोजन बनकर खाने लिए पहुँचने की सूचना घण्टानाद करके दी जाती थी। राजपुरोहित, अथवा राजकीय भोजनालय के प्रमुख ब्राह्मण रसोईया द्वारा सदस्यों/अतिथियों को भोजन परोसने के पूर्व तैयार भोजन का एक अंश, विभिन्न देवी–देवताओं, पितरों,

सहसा आ पहुँचे अतिथियों अथवा भूखे, अनाथों के लिए निकाल दिया जाता है। तदूपरान्त भोजन परोस कर समवेत स्वर में कठोपनिषद के निम्न मंत्र का पाठ किया जाता है :–

''सह नाववतु सह नौ भुनक्तौ, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनामधीमस्तु मा विद्विषावहे।।''

अर्थात् हे भगवन्! हम सभी की साथ–साथ रक्षा करें, साथ–साथ हमारा पालन करें। हम सभी साथ–साथ शक्ति को प्राप्त करें। हमारी अधीत विद्या तेजोमयी हो और हम परस्पर द्वेष न करें।

आर्यों में जल अथवा अग्नि को साक्षी मानकर वचन देने अथवा शपथ लेने या संकल्प लेने की परम्परा चिरपुरातन एवं बहुप्रचलित है। गंगा की भाँति पवित्र माता सीता के पातिव्रत्य के प्रतिपूर्ण आश्वस्त होते हुए भी श्री राम ने उनकी अग्नि–परीक्षा के पश्चात् ही उनको स्वीकार किया था। उस अग्नि–परीक्षा के साक्षी लाखों वानर–राक्षस हैं। काका सुग्रीव ने भी अग्नि को साक्षी मानकर प्रभु श्री राम के साथ एक दूसरे की सफलता के लिए परस्पर मित्रता की शपथ ली थी।

स्वेच्छया शरीर त्याग अथवा आत्महत्या की परम्परा का अस्तित्व आर्यों में विद्यमान था। शबर कन्या श्रमणा अथवा शबरी के गुरु मतंग ऋषि ने मतंगवन में मन्त्रोच्चार करते हुए अग्नि में प्रवेश कर शरीर त्यागा था। प्रभु श्री राम की अनुमति ले शबरी ने भी अपने गुरु का अनुकरण किया था। ऋषि शरभंग ने भी प्रभु श्री राम तथा श्री लक्ष्मण द्वारा उनके आश्रम–भ्रमण के पश्चात् अग्नि में आहुति के रूप में स्वयं को भेट चढ़ा स्वर्ग के लिए प्रस्थान किया था। हम वानरों में अनशन अथवा ''प्रयोपवेशन'' द्वारा प्राणत्याग आर्यों की अनुकृति प्रतीत होता है।

आर्यों में शुभ–अशुभ का विचारणा बहुमान्य है। प्रायः सभी नये कार्य शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किये जाते हैं। राज्याभिषेक, रणप्रयाण,

नये गृह में प्रवेश, यज्ञ, विवाह, यात्रा–गमन यथासंभव शुभमुहूर्त में ही किये जाते है। अनहोनी तथा दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के लिए अशुभ मुहूर्त को उत्तरदायी माना जाता है। शुभ–अशुभ का विचारण राक्षसों तथा वानरों में भी समान रूप से प्रचलित है। यह परम्परा देवों, दानवों, असुरों, राक्षसों, वानरों, गन्धर्वों, यक्षों तथा वानरों और मनु के वंशजों में ही नहीं वरन् विशुद्ध वनवासी एवं अर्द्धसभ्य माने जाने वाले गीधों में भी समान रूप से प्रचलित है। गृद्धराज जटायु ने ''विन्दा–मुहुर्त्त'' में रावणद्वारा देवी सीता के हरण को उसकी भयंकर भूल बताया था)। उसने श्री राम को बताया था कि इस मुहूर्त्त में तात्कालिक लाभ प्राप्त करने वाला अन्ततः अपना सर्वनाश करवाता है।[19] स्पष्ट है गृद्धराज को ज्योतिष तथा शुभ–अशुभ विचारण का सम्यक् ज्ञान था।

आर्यों में एक से नौ के मध्य के प्रत्येक अंक का ज्योतिषीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व है। उदाहरण स्वरूप 'तीन' की संख्या को लिया जाय। 'तीन' को त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ–ब्रह्माणी, विष्णु–प्रिया एवं हर–प्रिया का प्रतीक माना जाता है। 'त्रिसन्ध्या' की परम्परा अयोध्या के हर घर में प्रचलित है। महामुनि अगस्त्य ने श्री राम को रावण से अन्तिम युद्ध प्रारम्भ करने के पहिले ''आदित्य हृदय स्त्रोत'' का तीन बार पाठ करने का उपदेश दिया था। विवाह संस्कार में कन्या का पिता वर को अपनी कन्या देने की घोषणा तीन बार दुहराता है। पवित्र अग्नि को साक्षी मान कर उसकी तीन बार परिक्रमा विवाहसम्बन्ध को अनुन्मूलनीय (अटूट) बनाती है। राजमाता कैकेयी ने अयोध्यापति महाराज दशरथ से तीन बार प्रतिज्ञा करा कर तीन वर माँगा था।

शुभ–मुहूर्त्त में निर्धारित दिशा में यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व 'वार' अथवा दिन के अनुसार पान, दधि, दर्पण देखना, गुड़–दधि का सेवन मंगलकारक माना जाता है। यात्रा प्रारम्भ करते समय दक्षिणमुख–वाहन का उपयोग अनिष्टकारक माना जाता है। शत्रु–देश में प्रवेश करते समय उसकी धरती पर सर्वप्रथम बाँया पैर डालने की

वानरों में बहुप्रचलित रीति आर्यों की ही देन है। केसरीनन्दन हनुमान ने लंका में प्रवेश के समय उछल कर मुख्यद्वार को पार कर लंका की धरती पर सर्वप्रथम अपना बाँया पैर ही डाला था। स्वयं मैंने भी इसी का अनुकरण किया था। वानरों में भी यात्रा के समय ''पूर्णकुम्भ'' (पानी से पूरा भरा घड़ा) तथा 'वृषभ–शृंग'' (बैल की सींग) का दर्शन शुभ माना जाता है। उक्त रीतियाँ आर्यसंस्कृति की ही देन हैं।

आर्यमानव, राक्षस, वानर यहाँ तक कि देवतागण भी शकुन–अपशकुन के प्रति समान आस्था रखते हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय सूर्य का तेजहीन हो जाना, सूर्य के चतुर्दिक काला घेरा बनना, उल्कापात, तारों का टूटना, चन्द्रमा तथा तारों की प्राकृतिक चमक का लुप्त हो जाना, समुद्र में असमय ज्वार का आना, धूलभरी आँधी का चलना, धरती का प्रकम्पित होना, असामयिक वर्षा का होना, वर्षा–जल में रक्त की लालिमा का दिखलाई देना आदि घोर अपशकुन माने जाते हैं। स्वयं प्रभु श्री राम ने भी अपने वनवास, देवी सीता के हरण, बालि–वध एवं अन्ततः राम–रावण–युद्ध को नियति का खेल माना था।

सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य के पूर्व संकेतकों में भी प्रभु श्री राम की आस्था रही है। उपचार के पश्चात् भी निरन्तर अश्रुपात, घोड़े, खच्चरों, ऊँटों, गधों का तन कर खड़ा हो जाना, सिंहनी का चूहे, बिल्ली एवं चीते के बच्चों का जन्म देना, बिना शुण्ड का हाथी दीखना, शृंगालों का रुदन, पुरुष की बाई भुजा, बाई आँख तथा हृदय का धड़कना, स्त्रियों के दाहिने अंगों की धड़कन भी अशुभ शकुनों में सम्मिलित है।

बादल रहित आकाश में सूर्य, चन्द्र और तारों की स्वाभाविक चमक का बनी रहना, मन्द एवं आनन्द वायु का बहना, पानी का स्वच्छ दीखना, स्त्री की बाईं आँख, बाईं भुजा का फड़कना, पुरुषों के दाहिने अंगों का स्फुरण, कलरव करते पक्षियों का अपने घोंसलों में वापसी आदि शुभ शकुन हैं। ऋष्यमूक पर्वत वानरों के साथ–साथ

आर्यों के लिए भी अत्यन्त पवित्र माना जाता है। स्वप्न में ही सही ऋष्यमूक पर्वत पर शयन करना अत्यन्त शुभ फल देने वाला होता है।

मानव–बुद्धि प्रारम्भ से ही अनुसन्धानप्रिय रही है। नई खोजों अथवा वस्तुओं के निर्माण के प्रति मनुष्य सदैव सचेष्ट रहा है। प्रारम्भ में गुहावासी मानव पशुओं की भाँति नग्न रहा करता था। सुरक्षा की स्वाभाविक वृत्ति ने उसको समूह में रखने की प्रेरणा दी। प्रारम्भ में वह सर्वग्रासी था। माँस–भक्षण उसके जीवित रहने का प्रमुख साधन था। अग्नि की खोज ने भोजन के स्वाद में बृद्धि के साथ उसकी सुपाच्यता को बढ़ाया। प्रारम्भ में वृक्ष की छालों, पत्तियों तथा मृतक पशुओं के चमड़े से उसने कटिप्रदेश के गुह्य अंगों को ढंकना प्रारम्भ किया। कालान्तर में उसकी अन्वेषणशील प्रवृत्ति ने वस्त्र –परिधान की खोज की। स्वयं को प्रभावशाली एवं अन्य से भिन्न दिखलाई देने की इच्छा ने पक्षियों के रंग–बिरंगे पंखों को सिर पर धारण करने की प्रेरणा दी। इसी प्रेरणा ने अन्ततः आभूषण निर्माण की कला को जन्म दिया। स्त्री–पुरुषों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण अस्तित्व में आये।

अयोध्या में हमें पता चला कि वहाँ पर वस्त्र तथा आभूषण निर्माण की कला अपना अति विकसित औद्योगिक स्वरूप धारण कर चुकी है। यह कला मिथिला में भी समुन्नत रूप धारण कर चुकी थी। विदेह–राज जनक ने अपनी पुत्रियों देवी सीता (राम) तथा देवी उर्मिला (लक्ष्मण) तथा भतीजियों देवी माण्डवी (भरत) एवं देवी श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न) के विवाह के पश्चात् असंख्य प्रकार के वस्त्र (कोट्याम्बराणि ददौ) विदाई में दिया था। वस्त्रों का चयन तथा पहिनने का ढंग स्त्री–पुरुष के सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देता है। दण्डकारण्य में वनवासी प्रभु श्री राम तथा उनके अनुज की सुकुमारता तथा सुवेषता पर पर मुग्ध थे।[20] वस्त्रों पर स्वर्ण तथा रजत आदि रत्नों की कढ़ाई उनकी सुन्दरता के साथ मूल्य को भी बढ़ा देते थे। राक्षसराज रावण

का स्वर्ण एवं रत्नखचित राजसी वस्त्र, उसकी शारीरिक भव्यता को बढ़ाने वाला था।

वस्त्राभूषण के प्रति लगाव अथवा अनुरक्ति की भावना स्त्री–पुरुषों में समान रूप से विद्यमान होती है। अयोध्या में राजपरिवार अथवा सम्पन्न परिवारों में 'कौशेय' (रेशमी) तथा 'क्षौम' (मलमल) वस्त्रों का प्रयोग बहुलता से होता है। देवी सीता को 'कौशेयवसनी' कहा जाता था। कम आयु की स्त्रियों में पीत कौशेय अधिक लोकप्रिय था। राजमातायें प्रायः श्वेतवर्ण की क्षौम–साटिकायें (साड़ियाँ) पहनती है। स्त्रियों के लिए 'स्तनपट' तथा उसके ऊपर उत्तरीय धारण करना अनिवार्य बनता जा रहा है। आर्य प्रायः तीन वस्त्र धारण करते हैं– नीवि, वासस तथा अधिवास। 'नीवि' नामक अधोवस्त्र स्त्री–पुरुष दोनों धारण करते हैं। वासस तथा अधिवास 'उपरिवस्त्र' की श्रेणी में आते हैं। वासस ओढ़नी के समान छोटा तथा अधिवास चदर की भाँति बड़ा होता है। दूर से ही पहिचान के लिये 'ब्रात्य' नीले रंग के वस्त्र धारण करते है। आर्य, वानर, राक्षस स्त्रियों में भी अवगुण्ठन प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ है। व्रात्य जन पशुचर्म भी धारण करते हैं। मुनिजन, किरात तथा वानरों में पशुचर्म निर्मित आवरण धारण किया जाता है। वानरों में भी अब सूती, रेश्मी तथा मलमल के वस्त्र प्रयोग में आने लगे हैं। राक्षस स्त्री–पुरुषों में अलंकृत वस्त्र अधिक प्रिय हैं।

सिर पर 'उष्णीश' धारण करने की प्रथा भी पुरानी है।[21] आर्यों तथा राक्षसों में विभिन्न रंग उष्णीश (पगड़ी की भाँति का शिरोवस्त्र) धारण करने की प्रथा पुरानी है। इन्द्रजित द्वारा निकुम्भला देवी की उपासना के समय लाल रंग का उष्णीश धारण (रक्तोष्णीशधरस्त्रियः) कर रखी थीं। स्वच्छन्द कामाचार में विश्वास करने वाले राक्षसों में स्त्रियां को अवगुष्ठनवती बनाने का प्रचलन चल पड़ा है। वानर तथा आर्यस्त्रियाँ अब भी इस प्रथा से दूर हैं।

मानवमात्र में शृंगार की प्रबल भावना ने आभूषणों के निर्माण की कला के निरन्तर परिष्कार को बढ़ावा दिया है। कालक्रम से

घास, पुष्प, पत्तियाँ, पशुचर्म, अस्थि के आभूषण बने। बाद में स्वर्ण, रजत, काँस्य, ताम्र आदि धातुओं के आभूषण बनने लगे। पुरुषों में बढ़ती अलंकारप्रियता के कारण योद्धागण अपने आयुधों तक को रत्नजटित एवं स्वर्णखचित बनाने लगे है। रावण का धनुष जहाँ ''मुक्तामणिविभूषित'' था, वहीं प्रभु श्री राम का धनुष भी स्वर्णखचित था। धनुर्धर अपने बाणों तक पर अपना नाम उत्कीर्ण कराने लगे हैं। सामरिक तथा मांगलिक रथों, गजों एवं अश्वों, बृषभों और गायों को समलंकृत किया जाता है। स्त्री–पुरुष दोनों समान रूप से हार, भुजबन्ध, कुण्डल, वलय, तथा मेखला धारण करते हैं। लक्ष्मण भैया ने मुझे बताया था कि वनवास के समय अपने भैया–भाभी का अनुकरण करते हुए उन्होंने भी अपने अंगद, कुण्डल, केयूर, वलय, हार आदि आभूषण दान कर दिया था। अलंकारप्रिय प्रभु श्री राम अपनी पत्नी को ''र्स्वाभरण भूषिता'' देखने के अभ्यस्त थे। लंका विजय के पश्चात् उन्होंने विभीषण को आदेश दिया था कि समुचित स्नान, शृंगार आदि के पश्चात् ही यथोचित परिधान एवं अलंकरण धारण कराकर देवी सीता को उनके पास लाया जाय चूँकि आर्यों में पर्दा प्रथा अस्तित्वहीन है तएव जनकनन्दिनी 'सर्वाभरणभूषिता' एवं 'सुवेषिता' हो वनरसेना के जयनाद के बीच अपने पति के पास आई थीं।

रंगीन वस्त्रों पर किसी विशिष्ट मानव समूह का एकाधिकार नहीं है। राजकुमार भरत को उनकी ननिहाल कैकेयदेश से विदा होते समय विभिन्न रंगों के बहुमूल्य ऊनी (ऊर्ण) कम्बलों का भण्डार उपहार में मिला था। अयोध्या से लौटते समय हम वानरों को इन कम्बलों में से बहुत सारे उपहारस्वरूप प्राप्त हुए थे। मेरे तथा मेरी माँ के शयनकक्ष में ''कृमिराग–प्रतिष्ठोम'' (लाल रंग की चादरें) बहुसंख्या में हैं। रावण को लालरंग इतना अधिक प्रिय था कि उसको ''रक्तवास'' तथा 'रक्ताम्बरधर'' कहा जाता है। हनुमान जी की माता देवी अञ्जना को पीले तथा लालरंग के वस्त्र (पीत–रक्त) अधिक प्रिय रहे हैं।

गले में धारण करने वाली माला को हार, 'ग्रेवेयक', 'माला', 'हिरण्यमयी' तथा 'निष्क' (पुरातन स्वर्णमुद्रा निर्मित) कहा जाता है। स्त्री–पुरुष समान रूप से इसको धारण करते हैं। पिता श्री तो 'हिरण्यमाली तथा ''हेममाली'' के विशेषण' से सुख्यात् थे। स्त्री–पुरुष में 'हस्ताभरण' समान रूप से प्रचलित है। 'अंगद' तथा 'केयूर' को हाथ की केहुनी के ऊपर धारण किया जाता है। अयोध्या में सामान्य जन भी 'मणिकाञ्चन केयूर' धारण करते हैं। बहुमूल्य प्रस्तरों के रत्जटित 'वलय' तथा पारिहार (कड़ा और चूड़ियाँ) भी बहुप्रचलित हैं। पारिहार मात्र स्त्रियाँ धारण करती हैं। पुरुष–स्त्री दोनों हाथों की अँगुलियों में सोने–चाँदी की रत्नजटित अंगुठियाँ (अंगुलीयक) धारण करते हैं। अंगुठियों तथा मुद्राओं पर पहिनने वाले का नाम अंकित होने लगा है। श्री राम ने देवी सीता की खोज में जाते समय हनुमान जी को 'राम–नाम' अंकित मुद्रिका दी थी। आर्य, वानर तथा राक्षस, स्त्री–पुरुष कमर में समान रुपेण 'दाम' तथा 'मेखला' तथा 'रसना' धारण करते हैं।

स्त्री–पुरुषों को समान रूप से प्रिय सुगन्धित पुष्पों के एकत्रीकरण का कार्य ''पुष्प–चयन'' एक कला के रूप में राजपरिवारों में लोकप्रिय हो गया है। अपने बालों में सुन्दर सुगन्धित पुष्पों को धारण करना आर्य, वनवासी, राक्षसों तथा वानर स्त्रियों में समान रूप से बहुपचलित है। माता सीता को अर्जुन तिलक, कर्णिकार तथा कमल अत्यधिक प्रिय रहे हैं। उनको 'प्रियपंकजा' कहा गया है। उपासना गृहों तथ देव–प्रतिमाओं को सभी मानव समूहों में प्रतिदिन पुष्पालंकृत किया जाता है।

शरीर पर चन्दन, तथा अगुरु आदि सुगन्धित एवं शीतल अंगराग लगाना भी लगभग सभी मानव समूहों में प्रचलित है। 'मुखवास' का प्रयोग भी लोकप्रिय है। विशिष्ट मुखवास के प्रयोग के कारण प्रभु श्री राम की श्वास गंध 'पद्म निश्वासम्'' कमलपुष्प की गंध की आभास देती है। अयोध्या में ''गन्धशास्त्र'' का अध्ययन एक

लोकप्रिय विषय के रूप पढ़ाया जाता है। महिला–पुरुष दोनों को 'नेत्राञ्जन' प्रिय है। तिलक भी दोनों समान रूप से धारण करते हैं। श्वेद–गन्ध–निरोधक 'पद्म–सुगन्ध' बहुप्रचलित है।

आज की भारतीय–संस्कृति को मोटे तौर पर तीन महत्त्वपूर्ण भागों में विभाजित किया जा सकता है– नागर, आश्रम तथा ग्राम्य। सत्ता का प्रमुख केन्द्र होने के कारण नागर संस्कृति सर्वाधिक महत्त्व की है। नगर आज किसी राज्य अथवा राष्ट्र के प्रशासनिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के संचालन का प्रमुख केन्द बन चुके हैं। आश्रमों की स्थापना नगरीय कोलाहल से दूर प्रकृति की शान्त गोदी में वनक्षेत्र अथवा अरण्यों के मध्य ऐसे स्थान पर की जाती है जहाँ आश्रम वासियों के ईंधन के लिए लकड़ी, उपयोग के लिए पुष्प–फलादि तथा स्नान–पान के लिए पानी की व्यवस्था सन्निकट उपलब्ध हो। वृक्षों की शाखाओं, बाँस, बेंत, घास–फूस से आश्रम के लिए संरक्षित–निर्धारित क्षेत्र–विशेष में प्रायः दो–दो कक्षों के अलग–अलग आवासीय प्रखण्ड निर्मित होते हैं। इनमें बाहरी कक्ष को 'पर्णकुटी' तथा आन्तरिक कक्ष को 'उटज' कहा जाता है। भैया लक्ष्मण सहास्य बताया करते थे कि अपने आदरणीय अग्रज तथा भाभी माँ के लिए पर्णशालाओं के बार–बार निर्माण के कारण अब वह इस कला में किसी दक्ष वनवासी से कम निपुण नहीं हैं। अगस्त्याश्रम से किञ्चित् दक्षिण–पश्चिम दिशा में गोदावरी तट पर 'पञ्चवटी' में उनके द्वारा निर्मित पर्णशाला में पर्याप्त स्थान था तथा भूमि पर कुश, कास एवं शर की बनी चटाईयाँ बिछी हुई थीं।

आर्य–आश्रमों में आवश्यकता, आकार एवं उपलब्ध–संसाधनों के अनुसार पर्ण–कुटीरों की संख्या सैकड़ों हो सकती है। आश्रम को 'तपोवन' तथा पर्णशालाओं को 'तपस्यालय' भी कहा जाता है। आश्रम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्णशाला 'अग्निशाला' 'अग्निशरण' होती है। वस्तुतः यह आश्रम का हृदय–स्थल है। आकार में विशाल उत्तर–पूर्व दिशा में मुखयुक्त 'वेदिका' अथवा बलि–स्थान होता है। अतिथियों के

लिए अलग अतिथिशालायें निर्मित की जाती हैं जिनकी संख्या आवश्यकतानुसार कई हो सकती हैं। आश्रम में स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आश्रम के प्रथम पुरुष 'कुलगुरु' अथवा 'कुलपति' का समाज में श्रद्धास्पद स्थान है। राजा तथा सम्राट तक कुलपति का 'चरणोदक' लेना अपना सौभाग्य मानता है। कुलपतियों के शास्त्र और 'शस्त्र' अथवा 'शाप' या 'चाप' से देव, आर्य, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर अथवा वानर सभी भयभीत रहते हैं। भरतखण्ड को अपना नाम देने वाले दुष्यन्त–शकुन्तला के पुत्र भरत का जन्म कुलपति कण्व के आश्रम में ही हुआ था। इस आश्रम में रहने वाले अन्तेवासी (छात्र) तपसी, मुनिजन तथा उनके परिजन स्वयं तो वनधान्य अथवा 'नीवार' भले ही खा लेते हों, अतिथियों को पण्यशालाओं से क्रीत अथवा दान में प्राप्त श्रेष्ठ धान्य 'ब्रीहि' से निर्मित भक्त (भात) अथवा तण्डुल परोसा जाता था। पास में प्रबहमान मालिनी का स्वच्छ–शीतल जल आश्रम की आवश्यकता की पूर्ति करता था। आश्रम के वंगुदी वृक्षों की गुठलियों से निकाला गया तेल आश्रम की खाद्य एवं दीपक के लिए तेल की आवश्यकता को पूर्ण करता था। वाटिकाओं में सिंचाई का कार्य मुनि कन्याओं द्वारा किया जाता था।[22]

दक्षिणभारत में धर्म संस्कृति अथवा आश्रम–संस्कृति के प्रथम उल्लेखनीय प्रचारक महर्षि अगस्त्य द्वारा संस्थापित आश्रम गोदावरी के उत्तरवर्ती तट के निकट था। ब्रह्मविद्या, वेदान्त तथा धनुर्वेद के सुख्यात् आचार्य महामुनि अगस्त्य ने प्रभु श्री राम को दो अक्षय तूणीरों के साथ अनेक दिव्यास्त्र उपलब्ध कराया था। उन्हीं के सुझाव पर जनाकीर्ण आश्रम से दक्षिण–पश्चिय दिशा में किञ्चित् हट कर गोदावरी के 'पञ्चवटी' में भैया लक्ष्मण ने देवी सीता तथा प्रभु श्री राम के लिये कुटीर का निर्माण किया था। महामुनि तथा उनकी विदुषी पत्नी लोपामुद्रा की तपस्या, निस्स्वार्थ सेवाभावना, दीन तथा अन्याय पीड़ित लोगों को शरण देने के अति उत्साह ने आश्रम को शीघ ही जनाकीर्ण बना दिया। राक्षसों के अन्याय के प्रति संघर्षरत महर्षि के

तपोबल तथा शस्त्र–बल के कारण आश्रम तथा आस–पास का क्षेत्र राक्षसों की दृष्टि में संवेदनशील हो उठा।

आश्रमों में 'मिताहार' अथवा सीमित भोजन पर बल दिया जाता है। वन में सरलता से प्राप्त खाद्य सामग्री पर जीवन–यापन को अभ्यस्त बनाने का प्रयास किया जाता है। आश्रमवासियो को मात्र दो बार प्रातः तथा रात्रि ''अहोरात्रं'' भोजन की व्यवस्था की जाती है। आश्रमवासी प्रायः वल्कल वस्त्र धारण करते हैं। कतिपय ऋषिगण अधोवस्त्र के रूप में मृगछाल धारण करते हैं। स्त्रियाँ अधोवस्त्र के साथ–साथ ऊर्ध्ववस्त्र अपना बक्षस्थल आवृत्त करने के उद्देश्य से धारण करती है। बिना सिले वस्त्रों का अधिक उपयोग होता है।

आर्य शिक्षा के प्रमुख तथा आदर्श केन्द्र के रूप में आश्रमों का सर्वांगीण विकास स्तुत्य है। इन आश्रमों में शिक्षा के प्रमुख विभाग निम्नवत् हैंः–

1. अग्निस्थान– वह विभाग अथवा केन्द्र जहाँ अग्नि–चयन तथा सामूहिक प्रार्थना की जाती है। प्रार्थना के पश्चात् कुलपति अथवा आचार्य द्वारा यहीं पर छात्रों को सामूहिक उपदेश दिया जाता है।

2. ब्रह्म स्थान– वेद शिक्षा–विभाग। यहाँ चारों वेदों एवं वेदांगों का अध्ययन–अध्यापन होता है।

3. विष्णु–स्थान– वह स्थान जहाँ आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता का शिक्षण होता है।

4. महेन्द्रस्थान– जहाँ सैनिक शिक्षा अथवा धनुर्वेद का शिक्षण–प्रशिक्षण होता है।

5 विवस्वत्स्थान– जहाँ नक्षत्र ज्योतिष, फलित ज्योतिष एवं गणित का शिक्षण दिया जाता है।

6. सोमस्थान– वह विभाग जहाँ वनस्पति शास्त्र की पढ़ाई होती हो।

7. गरुड़स्थान– परिवहन–विभाग

8. कार्तिकेयस्थान– सैन्य संगठन विभाग–जहाँ सेनाओं का पुनर्गठन, विभाजन, व्यूहरचना आदि की पढ़ाई की जाती हो।

पितृत्य ने आर्यों की आर्यपद्धति की शिक्षा पद्धति को वानर प्रजा के लिए सुलभ बनाने के उद्देश्य से यह निर्णय लिया है कि पम्पासर के पास स्थित लगभग उजड़ चुके मातंग–आश्रम का जीर्णोद्धार कर उसका विकास शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में किया जाय। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के निमित्त किष्किन्धा में पढ़े लिखे वानरों को आर्य उपाध्यायों की भाँति वेतन पर उपाध्याय या अध्यापक उपलब करा कई स्थानों पर किष्किन्धा में प्राथमिक शिक्षा–केन्द्रों की स्थापना की जा चुकी है।

अयोध्या के कृषकों, पशुपालकों तथा व्यवसायियों के सम्पर्क में आकर हमने कृषि, वनौपज, तथा व्यवसाय का वास्तविक महत्त्व जाना है। हमने जान लिया है कि हमको मधु, वनौषधियों, पशुचर्म आदि का मनमाना मूल्य दे विदेशी व्यवसायी किस प्रकार हमारा शोषण करते रहे हैं। हमने यह भलीभाँति समझ लिया है कि पशुपालन से दूध, दधि खाद्य सामग्री के साथ किस प्रकार हम अन्य आर्थिक लाभ कमा सकते हैं? सिंचाई के साधनों का विकास कर हम प्राकृतिक एवं अन्य आपदाओं में अपनी प्रजा को भूख से मरने से बँचाने के लिए अपने यहाँ स्वतंत्र ''धान्यकोश'' की स्थापना कर चुके हैं।

अतिथिसत्कार तथा शिष्टाचार में वानरों को आर्यों का अन्धानुकरण करने वाला कहा जा सकता है। उग्र स्वभाव के होने के बाद भी पितृव्य सुग्रीव ने मातामह सुषेण को पूज्य मानते हुए उनके चरणों में झुक कर माता सीता के अनुसन्धान हेतु जाने वाले दल में सम्मिलित होने की प्रार्थना की थी। सिंहासनारुढ़ होने के पश्चात् पहली बार प्रभु श्री राम का दर्शन करने जब अपनी अमात्य–परिषद के साथ नये वानरराज गिरि प्रस्रवण पर गये थे तब उन्होंने कुछ दूर

पहिले ही अपना वाहन रोक दिया था और उससे उतर कर पैदल ही दोनों हाथ जोड़े सबके साथ प्रभु श्री राम के पास गमन किया था। संक्रुद्ध सौमित्र की प्रथम किष्किन्धा यात्रा पर मद्यपान से मत्त होने पर भी उन्होंने अपने आसन से उठ कर रामानुज का स्वागत किया था। कहने का तात्पर्य है कि कतिपय आर्य संस्कार एवं लोकाचार हमारे रक्त में समाहित हो चुके हैं।

उपहारों के लेन–देन में भी हम वानर आर्यों का अनुकरण करते हैं। दूरस्थ निकट सम्बन्धियों से मिलने जाते समय वानर अपने साथ उपहार ले जाना कभी नहीं भूलते है। विदाई के समय परिजन प्रति–उपहार अवश्य देते है। वानरराज की आज्ञा पर देवी वैदेही की खोज के लिए आये वानरों ने अपने महाराज को दिव्य फल, कन्दमूल एवं बहुमूल्य रत्न आदि उपहारस्वरूप प्रदान किया था। इसी भावना के वशीभूत हो पवन पुत्र ने पुष्पक पर लंका से लौटते समय प्रभु श्री राम से किष्किन्धा होकर चलने की विनती की थी। उनकी सोच थी कि इसी ब्याज से वानरों को राघव बन्धुओं तथा देवी सीता को यथाशक्ति उपहार प्रदान करने का अवसर मिलेगा।

अन्य वनवासी जातियों की तुलना में वानरों में आर्यशिक्षा का महत्त्व भी अत्यन्त तेजी से बढ़ा है। वानरों में वेद, वेदांग, व्याकरण, तर्कशास्त्र, भैषज, राजनीति तथा तर्कशास्त्र विशारदों की कमी नहीं है। ज्ञानियों में अग्रगण्य पवनतनय 'सर्वशास्त्र विशारद' हैं। महामति जाम्बवन्त जी का शास्त्रीय ज्ञान अपरिमित हैं। जाम्बवन्तपुत्र 'शरभ' 'अर्थनिश्चय' (राजनीति) में निपुण हैं। मातुल मैन्द सुख्यात् तर्कशास्त्री हैं। मातामह सुषेण अपने समय के अद्वितीय प्राणाचार्य अथवा चिकित्साशास्त्री हैं। लंका–युद्ध ने तो उनको वैश्विक ख्याति प्रदान किया है।

आर्य, वानर तथा राक्षसों के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के कतिपय पहलुओं का उल्लेख करने के पश्चात् यह आवश्यक प्रतीत होता है कि निषाद, ग्रीध, शबर, यक्ष, नाग, किन्नर एवं गन्धर्व

जैसी कम महत्त्वपूर्ण जनजातियों में प्रभु श्री राम की कृपापात्र बनी निषाद, गीध तथा शबर जाति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर दिया जाय :–

प्रयाग के अनति दूर गंगा तट पर स्थित शृंगवेरपुर को अपने लघुराज्य की राजधानी बना कोसल राज्य की सीमा के निकट स्थित गंगा तटवासी निषाद मूलतः कुशल नाविक, श्रेष्ठ धनुधर, दुस्साहसी तथा परम् स्वामिभक्त हैं। संख्या में कम तथा बल में अयोध्या की सेनाओं से न्यून होने पर भी वे भरत की चतुरंगिणी सेना को राम–विरोधी मान उससे जूझने को तत्पर हो गये थे। नौका निर्माण तथा नौकायन (नाव चलाने में) की कला में वे अत्यन्त दक्ष हैं। निषाद–राज गुह द्वारा उपलब्ध कराई गई नौका में ही श्री राम, देवी सीता तथा भैया लक्ष्मण ने सफलतापूर्वक गंगा पार किया था। पड़ोसी कोसलनरेश के साथ निषादों के मैत्री–पूर्ण सम्बन्ध थे। निषादराज गुह प्रभु श्री राम का मित्र तथा भक्त था। गुह को देखते ही प्रभु श्री राम तीव्रता पूर्वक उसको गले लगाने के लिए आगे बढ़े थे। अपने राज्य में गह ने प्रभु श्री राम, माता वैदेही तथा लक्ष्मण भैया की हार्दिक आवभगत की थी। राजकुमार भरत के वास्तविक उद्देश्य का पता चलते ही अपनी गलत सोच के लिए उनसे क्षमा माँगते हुए गुह ने उनको तथा उनके साथ आये लोगों को अत्यन्त प्रेम से खाद्य–पेय प्रस्तुत किया था। भरत ने गुह को गले लगाते हुए उसके द्वारा प्रस्तुत खाद्य–पेय को सहर्ष ग्रहण किया था। आर्यसंस्कृति के प्रमुख केन्द्र कोसल राज्य तथा प्रयाग के भारद्वाज–आश्रम की सन्निकटता ने ही निषादों को आर्यसंस्कृति अपनाने की प्रेरणा दी थी। प्राचीन भारत की अत्यन्त प्रभावशाली प्रजाति होने के कारण निषादों को पाँचवाँ वर्ण कहा गया।

प्राचीन भारत की यायावरी प्रवृत्ति के पक्षी–पूजक ग्रीध अथवा सुपर्ण विभिन्न समूहों में विचरणशील जनजाति है। अपने यूथपति को 'राजा' का सम्बोधन देने वाले इस प्रजाति के प्रमुख दो

सगे भाईयों सम्पाति तथा जटायु के नेतृत्व में दो उल्लेखनीय समूह पिछले लगभग अनेक दशकों से दण्डकारण्य तथा पश्चिमी समुद्र तट के विभिन्न भागों में सक्रिय रहे हैं।

गृद्ध, सुपर्ण, नाग एवं शबर अन्य मानव समूहों से दूर विजन वनों तथा दुर्गम गिरि–कन्दराओं में पृथक् समूहों में एकान्तिक जीवन यापन के अभ्यस्त हैं। अन्य मानव समूहों से दूरी बनाये रखने के इनके स्वभाव के कारण इनके रहन– सहन, खान–पान, आचार–विचार के सम्बन्ध में अन्य समूहों में अलग–अलग धारणाओं ने जन्म लिया है। इन्हीं भ्रान्त धारणाओं के कारण आर्यों द्वारा इन विभिन्न मानव–समूहों को नरभक्षी, मायावी, नीति–विहीन तथा भयानक मान लिया गया है।

वस्तुतः कश्यप ऋषि की पत्नी विनता से उत्पन्न पुत्र गण गरुड़ तथा अरुण कालान्तर में पक्षी–पूजकों के दो अलग समूहों के संस्थापक बने। दोनो समूहों ने क्रमशः श्येन (बाण–गरुड़) तथा गृद्ध पक्षी को अपना प्रतीक चिह्न अथवा राजा चिह्न घोषित किया। दोनों भाई असामान्य गति तथा प्रचण्ड शारीरिक शक्ति के स्वामी बने। आगे चल कर गरुड़ का यश भगवान विष्णु के वाहन के रूप में जहाँ प्रसिद्धि के शिखर पर जा पहुँचा वही अरुण को सूर्यदेव के सारथि के रूप में सुख्याति मिली। सूर्यसारथि अरुण की गृधी नामक पत्नी से सम्पति तथ्रा जटायु का जन्म हुआ। कहा जाता है कि महाराज दशरथ तथा जटायु को देवासुरसंग्राम में परस्पर मैत्री का अवसर मिला था। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार अयोध्या में एक बार पड़े भयंकर अकाल का कारण रोहिणी नक्षत्र पर शनि देव की दृष्टि जान महाराज दशरथ ने शनि पर आक्रमण किया था। उस युद्ध में शनि की दृष्टि पड़ने से टूटे अयोध्यापति के रथ को जटायु ने संभाला था तभी से दोनों की मित्रता हुई थी।[23] रावण द्वारा सीताहरण के अवसर पर देवी मैथिली के विलाप को सुन जटायु ने अपने प्राणों को संकट में डाल दिया था। दूसरे की पत्नी की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए

आत्म–बलिदान कर जटायु ने यह प्रमाणित कर दिया था कि मैत्रीधर्म तथा परोपकार पर किसी जाति विशेष का एकाधिकार नहीं होता है।

मैंने जटायु को तो नहीं देखा है, किन्तु भैया लक्ष्मण ने बताया था कि रावण के साथ संघर्ष में विशाल काय, जटायु इतना अधिक आहत हो चुका था कि उसका रक्तरंजित विशाल शरीर देख सहसा दोनों भाईयों को उसके राक्षस होने का भ्रम हो गया था। निकट जाकर देखने तथा उसकी पहिचान जानकर ही वास्तविकता का बोध हुआ था। जटायु से ही यह पता चला था कि मिथिलेशकुमारी का अपहरण कर राक्षसराज रावण उनको दक्षिण–दिशा की ओर ले गया है।

लंकापति रावण द्वारा सीता–हरण के प्रयास को विफल करने की चेष्टा में अपने प्राणों की बलि देने वला जटायु वेद–तत्वज्ञ तथा धर्म के मर्म को भलीभाँति जानने वाला था। विजन वन में एकान्त से परस्त्री का हरण करने को कृतसंकल्प रावण को उसके कृकृत्य से विरत करने के उद्देश्य से वृद्ध गृद्धराज ने राक्षसराज को धर्म, न्याय तथा नीति के अनुसरण का उपदेश दिया था। अपने उद्देश्य में सफलता न मिलने पर शस्त्रास्त्रहीन होते हुए भी उसने ध नुर्धर तथा कृपाणधारी राक्षसपति से लोहा लेने में संकोच नहीं किया था। द्वन्द्व–युद्ध में रावण के सारथि का वध करने तथा उसके धनुष को तोड़ डालने में सफल पक्षिराज ने अन्ततः अपना आत्मोसर्ग कर मैत्रीधर्म का निर्वाह किया था।

घूमन्तू के स्वभाव का जटायु का गृध–समूह तथा उसके काक, गृद्ध तथा कणिका नामक तीनों पुत्र घटना के समय श्री राम के पञ्चवटी–स्थित पर्ण कुटीर से कहीं दूर भ्रमणशील थे।[24] घटना के समय यदि जटायु का समूह पर्णशाला के आस–पास रहा होता, रावण विदेह राजकुमारी के अपहरण में कदापि सफल नहीं हुआ होता। जटायु का धैर्य तथा ज्योतिष–ज्ञान भी प्रशंसनीय था। मृत्यु के मुख में लगभग पहुँच चुके ग्रीधराज ने पत्नीहरण से दुःखी श्री राम

को सान्त्वना देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'विन्द' मुहुर्त्त में अपहृत जानकी उनको अवश्य प्राप्त होगीं। श्री राम तथा उनके अनुज ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जटायु का अत्यन्त सम्मानपूवक पितृवत् अंतिम संस्कार सम्पन्न किया था तथा उसको जलाञ्जलि दी थी।

जटायु के अग्रज सम्पात्ति के साथ हुई हमारी भेंट मुझको आज भी यथावत् स्मरण है। जनकात्मजा की खोज का कार्य अब तक निष्फल रहा था। वानरराज द्वारा निर्धारित एक मास की समय–सीमा व्यतीत हो चुकी थी। भूख–प्यास से व्याकुल वानरयूथ को मेरुसावर्णि के नष्टप्राय गिरिदुर्ग से अनति–दूर एक भव्य गुहा आश्रम देख किञ्चित् सन्तोष की अनुभूति हुई। हमको लगा कि थके हारे वानर दल को यहाँ भोजन–पानी सुलभ हो जावेगा। किन्तु हमें आश्चर्य तो तब हुआ जब आश्रम द्वार पर पहुँचते ही बिना किसी पूर्व चेतावनी एक सशस्त्र राक्षस ने हम पर आक्रमण कर दिया। सबसे आगे मैं ही था। इस अप्रत्याशित आक्रमण से क्रोधित मैंने अपनी गदा के एक ही प्रहार से आक्रमणकारी का सिर चूर्ण कर दिया। आश्रम की संरक्षिका स्वयं प्रभा नामक तपस्विनी ने हमसे बलपूर्वक आश्रम में आने का कारण जानना चाहा। उसको तपस्विनी जान हमने सच–सच अपना मन्तव्य उसके समक्ष प्रकट कर दिया। तपस्विनी ने हमारा आव–भगत तो किया किन्तु उसने स्वयं को सर्वज्ञ तथा सिद्ध तपस्विनी मानते हुए भी हमें माँ सीता का वास्तविक पता नहीं बताया। उसने लंकापति के सम्बन्ध में भी कोई लाभप्रद सूचना हमको प्रदान नहीं किया। यह तो बाद में हमें पता चला कि वस्तुतः स्वयंप्रभा मेघनाद की माँ मन्दोदरी की माता हेमा की प्रिय सहेली थी। इन्द्र की अप्सरा; नृत्य–संगीत में निपुण हेमा का हरण मय दानव कर ले गया था। इसी हेमा से उत्पन्न अपनी पुत्री मन्दोदरी का विवाह उसने रावण से किया था। स्वयं प्रभा हेमा की सखी तथा ऋक्षबिल नामक मय के गिरि दुर्ग के निकटवर्ती आश्रम के कुलाध्यक्ष मेघसावर्णि की

पुत्री थी। हेमा को वह गिरिदुर्ग अपने पति से मिला था, जिसकी देख–रेख उसकी अनुपस्थिति में उसकी प्रिय सखी स्वयं–प्रभा करती थी। हेमा ने नृत्य, गान तथा कला की शिक्षा अपने सखी के पिता मेरुसावर्णि के आश्रम में ही प्राप्त किया था। अपनी प्रिय सखी हेमा के दामाद रावण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की लाभदायक सूचना देने के स्थान पर स्वयं प्रभा ने हमें समुद्रतट तक पहुँचा कर ही अपने कर्त्तव्य की इति–श्री मान लेना श्रेयस्कर समझा था।

अब तक की खोज की व्यर्थता ने हमारा अवसाद बढ़ा दिया था। वानरराज के क्रोध की आशंका ने हमें आतंकित कर दिया था। अपने राजा के हाथों अपने मारे जाने की चर्चा हम कर ही रहे थे कि हमारे कानों में एक अत्यन्त कर्कश स्वर गूँज उठा, ''अहो! मेरा सौभाग्य है कि विधाता ने एक साथ इतने वानरों को हमारा आहार बनने के लिए लिए मेरे पास भेज दिया है। शरीर त्यागने को उत्सुक इतनी अधिक संख्या में एक साथ यहाँ वानरों का माँस–भक्षण कर आज हमारा पूरा यूथ आनन्दोत्सव मनायेगा।'' साहसा चौंक कर हमने आती हुई कर्कशध्वनि की दिशा में दृष्टिपात किया। ध्वनि की दिशा में एक विशालकाय बट–बृक्ष के तने से टेक लगाये बैठे एक विशालकाय व्यक्ति पर हमारी दृष्टि पड़ी। उसके सिर, दाढ़ी यहाँ तक कि शरीर के बाल भी पूणरूपेण श्वेत हो चुके थे। हमको अपनी ओर बढ़ते देख वह तन कर बैठ गया। पास ही में रखे ग्रीध पक्षी के चोंच वाले मुखौटे को सिर पर धारण कर हाथों की उँगलियों में 'बाघनख' पहिन वह मानों हम पर प्रहार करने को तत्पर हो उठा था।

आकिस्मक संकट की घड़ी में धैर्यवान व्यक्ति का विवेक जाग उठता है तथा उसकी प्रत्युत्पन्नमतिता चैतन्य हो उठती है। मेरी दृष्टि वृक्ष की चोटी पर फहराते 'गृद्ध–ध्वज' पर पड़ी। मैंने सहज अनुमान लगा लिया कि कहीं आस–पास के घने जंगल में गीधों की बस्ती है तथा इस व्यक्ति की हुँकार– मात्र पर उसके सहायक हम पर टूट पड़ेगें। माता की खोज तो हम कर नहीं पाये गृधों से अकारण

युद्ध उस कार्य में एक भयानक बाधा बनकर खड़ा हो जावेगा। सहसा मुझको जटायु–प्रकरण का स्मरण हो आया। ''एक ओर हम उस महाभाग गृद्धपति जटायु की स्मृति को प्रणाम करते हैं, जिन्होंने दशरथ–पुत्र श्री राम के कार्य के निमित्त अपने प्राणों की बलि दे दी थी तो दूसरी ओर एक ऐसे गृद्ध–मुख्य को देख रहे हैं जो अकारण हम विपत्ति में पड़े वानरों के प्रति अपने वैर का प्रदर्शन कर रहे हैं।''

''तुम गृद्धराज जटायु को कैसे जानते हो? कौन सी दुर्घटना घटित हुई उस महाबली के साथ? तुम लोग कहीं जटायु के मित्र अयोध्यापति दशरथ की बातें तो नहीं कर रहे हो? क्या तुम्हारा श्री राम उसी दशरथ का पुत्र है'' सहसा तन कर सामने खड़े गीधराज का स्वर अत्यन्त मृदु हो उठा। ''मैं जटायु का बड़ा भाई सम्पात्ति हूँ। उसका यूथ तो गोदावरी तट के निकट पञ्चवटी के आस–पास रह रहा है? मेरी विनती है तुम लाग मुझको जटायु के विषय में विस्तार से बतलाओ।'' उस महाकाय ने सहसा हम लोगों के समक्ष अपने दोनों हाथ जोड़ दिये।

मैंने अयोध्यापति दशरथ, उनके चारों पुत्रों– श्री राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के बचपन, श्रीराम तथा उनके अनुज लक्ष्मण के गुरुविश्वामित्र के साथ वन जाने, राक्षसों के दमन, सीता स्वयंवर, चारों भाईयों के विवाह, श्री राम, देवी सीता सहित लक्ष्मण के वनवास, वन में श्री राम द्वारा खर, दूषण सहित चौदह सहस्त्र राक्षस सेनाओं के विनाश तथा पञ्चवटी से देवी जानकी के हरण का प्रसंग सम्पात्ति को विस्तार पूर्व सुनाया। इसी क्रम में अपहर्ता रावण द्वारा छलपूवक एकाकी मैथिली के अपहरण को निष्फल बनाने के प्रयास में गृद्धराज जटायु के भयंकर प्रताप का भी विस्तार सहित विवरण प्रस्तुत किया। मैंने बताया कि वृद्धावस्था में भी रावण जैसे दुर्द्धर्ष धनुर्धर के दो–दो धनुषों को भंग कर, उसके सारथि का वध कर किस प्रकार जटायु ने अपने अपरिमित पराक्रम का परिचय दिया था। मैने इसी क्रम में यह भी बताया निरन्तर कई प्रहर के युद्ध के पश्चात् क्लान्त वीरवर

जटायु की दोनों भुजाओं को अपने चन्द्रहास खड्ग से काट रावण ने अपनी घोर नृशंसता का परिचय दिया था। कपटमृग मारीच के बध के पश्चात् बिलम्ब से लौटे सानुज श्री राम ने अपने पिता के मित्र जटायु को पिता तुल्य सम्मान देते हुए अपने हाथों से उनकी अन्त्येष्टि की थी। दोनों भाइयों ने गोदावरी के पवित्र जल में स्नान के उपरान्त गृद्धराज को सविनय जलाञ्जलि भी दी थी।

''हा बन्धु जटायु! मेरे प्राणप्रिय अनुज! सदा अपने अग्रज का अनुगमन करने वाले मेरे सहोदर मुझ अभागे ज्येष्ठ भाई के साथ ऐसा विश्वासघात क्यों किया? तुमने तो मेरे अन्तिम समय में अपनी उपस्थिति का वचन दिया था मुझको।'' चीत्कार करता वृद्ध सम्पात्ति धड़ाम से धरती पर गिरा और संज्ञाहीन हो गया। जाम्बवन्त जी ने त्वरा से इधर–उधर की झाड़ियों में देखा तथा लपक कर एक झाड़ी की कोमल पत्तियों को तोड़ दोनों हाथों से मसलते हुए दौड़ कर मूर्च्छित गृधपति के पास पहुँच कर उसके नथुनों में उन्होंने शीघ्रतापूर्वक झाड़ी की पत्तियें से निकले द्रव की कुछ बूँदों को टपका दिया। कुछ ही क्षणों साम्पात्ति की चेतना वापस लौटी तथा वह जटायु का नाम ले पुनः विलाप करने लगा। हमने मिल–जुलकर विलाप करते सम्पात्ति को समझा–बुझाकर शान्त किया। कुछ ही क्षणों में हमने स्वयं को पचास–साठ गीध–योद्धाओं के समूह से घिरा पाया। काले रंग, जटाजूटधारी, दाढ़ी–मूँछ वाले युवक सावधान की मुद्रा में हमारे चतुर्दिक खड़ा हो वृद्ध गृद्धपति के विलाप को सुन रहे थे। नवागत दल का नायक भयंकर रूपाकृति वाला घोर काले रंग का व्यक्ति था। प्रकृतिस्थ होने पर सम्पात्ति ने उसका परिचय अपने ज्येष्ठ पुत्र सुपार्श्व के रूप में दिया। सुपार्श्व ने हाथ जोड़ अपने पिता को बताया कि उसके दोनों छोटे भईयों– बभ्रु तथ शीघ्रग के नेतृत्व में अलग–अलग समूहों मं अधिकांश गृद्ध युवक दैनिक आखेट आदि के निमित्त अन्यत्र गये हुए हैं। सुबल नामक गृद्ध ने जो वहाँ प्रहरी के रूप में नियुक्त था उनको सूचना दिया कि वानरों का एक यूथ उनके बृद्ध कुलमुख्य

को घेर कर बातचीत में व्यस्त है। इस सूचना पर हम लोग लगभग भागते हुए यहाँ आये हैं। सम्पात्ति द्वारा हमारे परिचय के उपरान्त हमने एक बार पुनः एकत्रित गीधों को जटायु–प्रकरण से अवगत कराया। थोड़ी देर बाद सम्पूर्ण वानप्रान्तर ''राजा जटायु अमर रहे'' के गीधों के समवेत जयघोष से गूँज उठा था।

आत्म–परिचय देत हुए सम्पात्ति अपर नाम दमनपानी ने स्वयं को कश्यप ऋषि एवं विनीता से उत्पन्न अरुण के पुत्र गरुड़ को भ्रातृज तथा जटायु का अग्रज बताया। उसने बताया कि दोनों भाईयों में अगाध प्रेम रहा है। हम दोनों भाईयों ने एक बार अहंकार वश सूर्यदेव से प्रतिद्वंद्विता ठान लिया। सूर्य के कोप से मेरी दोनों भुजायें जड़वत हो गई थीं। निशाकर मुनि ने बाद में अपने प्रति मेरी सेवा–भावना से प्रसन्न होकर यह वरदान दिया था कि श्री विष्णु हरि के अंशावतार प्रभु श्री राम के भक्त वानरों के सान्निध्य में आने पर हमारी भुजाओं में पुनः पूर्वशक्ति का संचार हो जावेगा। संपात्ति ने अपने अनुज को जलाञ्जलि देने का प्रस्ताव किया। वृद्ध गृद्धराज के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए मैंने हठपूर्वक सम्पात्ति को अपने कंधों पर बैठाया तथा सागर के तट तक ले गया। सम्पात्ति तथा उनके परिजनों ने विधिपूर्वक स्नानादि के पश्चात् जटायु को जलाञ्जलि दिया। समुद्र से निकलते ही मानों चमत्कार हुआ हो। बूढ़ा सम्पात्ति प्रसन्नता से चिल्ला उठा– ''मुझको मेरे दोनों पंख वापस मिल गये हैं। मेरी भुजाओं का पुराना बल वापस लौट आया है।'' उसके दोनों हाथ प्रणाम की मुद्रा में आकाश की ओर उठ गये। 'जय श्रीराम' का जयघोष करता हुआ एक बच्चे की भाँति समुद्र तट पर वह नृत्य करने लगा था।

प्रकृतिस्थ होते ही उसने अपने पुत्र सुपार्श्व को निकट बुला कुछ दिनों पूर्व रावण द्वारा अपहृत महिला का प्रसंग सुनाने को कहा। सुपार्श्व ने हमें बताया कि आज से लगभग छः मास पूर्व की घटना है। एक दिन अपने साथियों के साथ वे दक्षिण में स्थित माल्यवान

पर्वत के घने वनक्षेत्र में आखेट में व्यस्त था कि तभी उसका ध्यान विमानारुढ़ रोती हुई महिला के करुणक्रन्दन ने अपनी ओर आकृष्ट किया था। उत्सुकतावश उसने गीधों की साहयता से उक्त विमान को रोक लिया तथा रोती हुई महिला एवं अपहर्ता का परिचय पूछा। अपहर्ता ने अपना परिचय लंकापति रावण के रूप में दिया। पीड़िता से पता चला कि वह जम्बूद्वीप के उत्तवर्ती भाग में स्थित विदेहराज जनक की पुत्री तथा अयोध्या के यशस्वी नरेश स्व. दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र रघुनन्द श्री राम की परिणीता सीता हैं। आततायी रावण उनकी पञ्चटी स्थित पर्णकुटी से छलपूर्वक उनका हरण कर लाया है।'' रावण ने राघव कुमारों द्वारा अपनी एक मात्र बहिन की नाक तथा कानों को काट कर विरूप कर देने के कृत्य को बढ़ा–चढ़ा कर बताते हुए प्रतिशोधपूर्ण हरण के औचित्य को प्रतिपादित करते हुए अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की दुहाई दी थी तब गीधों ने उसे लंका की ओर जाने दिया था। सुपार्श्व ने समुद्रसन्तरण में वानरों की भरपूर सहायता का आश्वासन दिया। सम्पात्ति ने भी अपने पुत्र के बल तथा बुद्धि के प्रति पूर्ण विश्वास प्रकट किया किन्तु हम वानरों का यह स्वभाव है कि हम किसी अज्ञात, अल्पज्ञात अथवा अर्द्धज्ञात व्यक्ति पर सहसा विश्वास नहीं कर पाते हैं। मैंने सम्पात्ति तथा सुपार्श्व के प्रस्ताव को धन्यवाद पूर्वक अस्वीकार कर दिया।[25]

शबर प्राचीन भारत की ''आखेट–जीवी'' जनजातियों में से प्रमुख रही है। मानव समूहों की विभिन्न सभ्यताओं तथा उनके संसर्ग से दूर रहने वाली इस घोर वनवासी जनजाति में आर्य सम्यता का प्रसार कुछ लोगों को आश्चर्यजनक लग सकता है। आर्य–संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित श्रमणी शबरी का जीवन पवित्रता, त्याग एवं तपस्या का अद्‌भुत मिश्रण प्रस्तुत करता है। प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण इस शबर–कन्या की तपस्या, त्याग भावना तथा भक्ति साधना के घोर प्रशंसक हैं। उत्तरभारत में हिमालय के तलहटी के वनक्षेत्रों से लेकर दक्षिण समुद्रतट के निकटवर्ती क्षेत्रों के वनों में यत्र–तत्र

घुमन्तू जीवन व्यतीत करने वाले माँसभक्षी शबर–समाज में शबरी जैसे भक्त पवित्रात्मा का उत्पन्न होना यही प्रमाणित करता है कि त्याग, तपस्या, साधना एवं पवित्रता पर किसी जाति अथवा वंश–विशेष का एकाधिकार नहीं हो सकता है। अपेने गुरु मतंग ऋषिका अनुसरण कर अग्नि में अपने शरीर का दाह करने का निर्णय ले चुकी उस शबर–कन्या ने राघव–बन्धुओं को भक्ति–साधना के जिन विभिन्न स्वरूपों का अन्यत्र दुर्लभ परिचय कराया वह भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर है। शबरी की राजनीतिक दृष्टि भी अत्यन्त तीक्ष्ण थी। उसने स्पष्ट शब्दों में ज्येष्ठ राघव को बताया था कि माता सीता की सकुशल वापसी तथा रावण के दमन का एक मात्र विकल्प श्री राम तथा सुग्रीव की मैत्री–सन्धि ही है।

सन्दर्भ–संकेत

1. ब्रह्माण्ड0 27.234।
2. पद्म0 पु0 9.13, 19–104, 48–185–95 आदि।
3. ''श्वेतो रजतसंकाश्चपलो भीमविक्रमः।।24।।
   बुद्धिमान् वानरः शूरस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
   तूर्णं सुग्रीवमागभ्य पुनर्गच्छति वानरः।।25।।
   विभजन् वानरीं सेनामनीकानि प्रहर्वयन्।।$25\frac{1}{2}$।।

   वा0 रा0 युद्ध0 26.24–$25\frac{1}{2}$

   (गुप्तचर सारण रावण को वानर महावीरो का परिचय देते हुए सुग्रीव के सैन्य–सहायक श्वेत के विषय में बताता है, ''यह जो चाँदी के समान रुपहले रंग का चंचल वानर है वह श्वेत है। यह बुद्धिमान् वानर तीनों लोक में विश्रुत (प्रसिद्ध) है। वह अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक सुग्रीव के पास आकर लौट जाता है। यही वानरी सेनाओं का विभाजन तथा सैनिकों में हर्ष एवं उत्साह बढ़ाने का काम करता है)।
4. ''यस्त्वेष सिंहसंकाशः कपिलो दीर्घकसेरः।
   निभृतः प्रेक्षते लंकां दिघक्षन्निव चक्षुषा।।30।।
   विन्ध्यं कृष्णगिरिं सह्यं पर्वतं च सुदर्शनम्।
   राजन् सततमध्यास्ते स रम्भो नाम यूथपः।
   शतं शतसहस्त्राशां त्रिंश्च हरिपुंगवाः।।31।।

   वा0 रा0 6 या युद्ध0 वही 30–31

   (सारण रावण से कहता है, (हे राजन!) यह जो सिंह के समान, कपिल वर्ण का, गर्दन पर लम्बे–लम्बे वानरों वाला है तथा जो नेत्रों में ज्वाला भर लंका को मानों भस्म करने वाली दृष्टि से देख रहा है वह रम्भ है। उसका अनुगमन एक करोड़ तीस श्रेष्ठ वानर करते हैं।
5. पदम0 पु0– सृष्टि खण्ड– 38 ।

6. महाभा0 वन0 267.6; 269.97 ।
7. पूर्वोक्त0 वन0. 267.4 ।
8. ''बाहू प्रगृह्य यः पद्म्यां महीं गच्छति वीर्यवान्।।14।।
   लंकाभिमुखः कोपादभीक्ष्णं च विजृम्भते।
   गिरिश्रंग प्रतीकाशः पद्मकिञ्जलसन्निभिः।।15।।
   स्फोटयत्यति संरब्धो लांगलं च पुनः पुनः।
   यस्य लांगल शब्देन स्वनन्ति प्रदिशो दश।।16।।
   एष वानरराजेन सुग्रीवेषाभिषेचितः।
   युवराजोऽङ्गदो नाम त्वामाह्नयति संयुगे।।17।।
   पूर्वोक्त0 26.14–17
   (रावण को सारण वालिकुमार का परिचय देते हुए बताता है, ''जो पराक्रमपुञ्ज वानर अपनी दोनों बाँहों को एक दूसरे में संलग्न कर धरती पर टहल रहा है, लंका की ओर मुख कर क्रोध पूर्वक देख रहा है और बार–बार अंगड़ाई ले रहा है, जिसका शरीर पर्वत शिखर के समान विशाल है, जिसके शरीर की कान्ति कमल के सर के समान सुनहली है, जो रोष में बार–बार अपनी पूँछ पटक कर उसकी ध्वनि से दसों दिशाओं को गुंजायमान कर रहा है वही युवराज अंगद है। वानरराज सुग्रीव ने (युवराज पद पर) उसका अभिषेक किया है। यह आपको युद्ध के लिए ललकार रहा है)।
9. ब्राह्मण0 पु0 3–7–172 ।
10. भागवत0 पु0 9.10.19–14।
11. पद्म0 पु0 (पातालखण्ड) 11.15 ।
12. वही (उत्तर) 143।
13. भगावत0 10.67.2; ब्रह्माण्ड0 37.220–238।
14. ''परितुष्टोस्मि भद्र तं राजपुत्रं महायशः।
   प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।।2।।

देवासुरगणान् वापि सगन्धर्वोरगान् भुवि।
वैरमित्रान् प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि।।3।।
तानिदिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणी सर्वशः।
दलुचक्रं महद् दिव्यं तव दास्यामि राघव।।4।।
धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च।
विष्णुचक्रं तथात्युग्रमैन्द्रं चकं तथैव च।।5।।
वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव।।6।।
ददामि ते महाबाहो ब्राह्मस्त्रमनुत्तमम्।
गदे द्वै चैव काकुस्थ मोद्की शिखरे शुभे।।7।।

.....

धर्मपाशमहम् राम कालपाशं तथैव च।।8।।
वारुणं पाशमस्त्रं च दादाम्यहमनुत्तमम्।
अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कान्द्रें रघुनन्दनम्।।9।।

वा0 रा0 बाल0 27 2–9।

27वें सर्ग के अगले श्लोक 10वें से लेकर 20वें श्लोक तक विभिन्न प्रदत्त अस्त्रों की सूची प्रदत्त है। 28वें सर्ग श्लोक 4 से 10 तक में उल्लिखित अस्त्रों के दान का वर्णन है।

(श्री राम द्वारा ताटकावध से प्रसन्न ऋषिवर विश्वामित्र द्वारा देव, असुर, गन्धर्व अथवा नागों तथा पराजित करने विभिन्न दिव्य अस्त्रों के दान का उल्लेख है। प्रदत्त दिव्यास्त्रों में दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्दचक्र, वज्रास्त्र, शिवत्रिशूल, ब्रह्मशिर, एषीकास्त्र, ब्रह्मास्त्र, मोदकी गदा, शिखर गदा, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, सूखी एवं गीली अशनियाँ, पिनाक (शिव का) नारायणास्त्र (विष्णु का), आग्रेयास्त्र या शिखररास्त्र, वायव्यास्त्र, हयशिर, क्रौञ्च, शक्तिद्वय, कंकाल, घोर, मूसल, कपाल, किंकिणी, वैद्याधर (नन्दन), सम्मोलन (गांधर्वास्त्र), प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य,

वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन, कामदेव का मादन, गन्धर्वों का मानवास्त्र, पिशाचों का मोहन तामस, सौमन, संवर्त्त, मौसल, दुर्जय, सत्य, मायामय, सूर्य का तेजः प्रभ, शिशिर, त्वाष्ट्र, भग, शीतेषु आदि का उल्लेख– बाल0 27वाँ सर्ग, श्लोक 4 से 20 तक)।

(पुनश्च– अस्त्रों के संहारविधि के उपदेश क्रम ऋषिवर द्वारा बाल काण्ड के अगले 28वें सर्ग के श्लोक 4 से लेकर 10वें तक में रघुनन्दन को प्रदत्त अन्य दिव्यास्त्रों में– सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख, अवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवकत्रा, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभं, दन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योति, शकुन, नैरास्य, विमल, दैत्यनाशक, यौगंधर, विनिद्र, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्फलि, विरुच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आन्तरंण, जृम्भक, सर्पनाथ, पन्थान और वरुण की गणना की गई है)।

15. ''तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रसितं त्वया।
अच्छलं मित्र भावेन सतां दारावलोकनम्।।6।।

वा0 रा0 किष्कि0 33–61

(वानर स्त्रियां की उपस्थिति के कारण संकोचवश द्वार पर ही श्री लक्ष्मण के खड़ा रह जाने पर उनको राजभवन में प्रवेश के लिए आमन्त्रित करते हुए वानरमहिर्षी तारा कहती है, ''हे महाबाहो! (परस्त्रियों की उपस्थिति के कारण) बाहर खड़ा रह कर आपने, अपने सदाचार की रक्षा कर ली है। अब आप भीतर आइए। सज्जनों द्वारा निष्कपट भाव से स्त्रियों पर दृष्टिपात करना अधर्म नहीं है।)

16. ''नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद विशेषतः।।2।।
वा0 रा0 किष्कि0 35–2

(''हे लक्ष्मण! आपको सुग्रीव से ऐसी (कटु) बात नहीं कहना चाहिए। सुग्रीव वानरो के राजा हैं अतएव उनके प्रति कठोर वचन उचित नहीं हैं। विशेषरूप से आप जैसे सुहृद् के मुख से तो ऐसा सर्वथा उचित नहीं है।2।'')

17. तैत्ति0 सं0 2.5.1 ।

18. ऋ0 वे0 140—10.87 ।

19. ''येन याति मुहुर्तेन सीतामादाय रावणः।
विपप्रणष्ट। धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते।।2।।
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुस्य सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झषवद बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।13।।
न च त्वक्या व्यथा कर्या जनकय सुतां प्रति।
वैदेद्दा रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्द्धनि।।14।।

वा0 रा0 अरण्य0 68.12—14

(श्री राम को देवी सीता की पुनर्प्राप्ति के प्रति आश्वस्त करते हुए जटायु कहता है कि, ''रावण जिस मुहुर्त में सीता को ले गया है उसमें खोई हुई सम्पत्ति उसके स्वामी को वापस मिल जाता है। वह 'बिन्द' नामक मुहुर्त्त था, जिसको रावण नहीं जानता ह। जिस प्रकार मछली बंसी पकड़ कर स्वयं अपनी मौत का वरण करती है वही कृत्य सीता—हरण कर रावण ने किया है। (अतएव हे श्री राम!) आप विदेह कुमारी के लिए अपने मन में खेद न करें। युद्धभूमि में रावण का वध कर आप पुनः देवी सीता के साथ विहार करेंगे)।

20. ''रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः।।3।।

वा0 रा0 अरण्य0 1—13

(श्री राम के स्वरूप, शारीरिक गठन, कान्ति, सुकुमारता, सुन्दर वेष को वनवासी मुनियों ने आश्चर्य–पूर्वक देखा)।

21. अर्थव0 15–2–1 (2) पञ्वविश ब्रा0– 17–1–14 ।
22. अभिज्ञानशाकुन्त0 1.14–15 ।
23. कृत्तिवास रामायण0 1027 ।
24. ब्रह्माण्ड0 पु0 3.7.448 ।
25. (1) ब्रह्माण्ड0 3.7.445–48, (2) वायु0 6.64.327
(3) भागवत0 9.10–12, 11.12–16; (4) प्राचीन चरित्र कोश, पृ0 ।

• • • •

–3–

प्रत्यक्ष

युद्ध को अपरिहार्य जान हमारे सर्वोच्च सेनानायक श्री राम ने वानरराज सुग्रीव को लंका के विरुद्ध युद्ध की औपचारिक घोषणा करने की अनुमति प्रदान कर दी। युद्ध की विधिवत घोषणा होते ही वानर सेनाओं ने पूर्व में दिये वृहत्त निर्देशों के अनुसरण में योजनाबद्ध ढंग से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। दुर्ग के चतुर्दिक निर्मित परिखा में संवेदनशील स्थानों का चयन हमारे सैन्य विशेषज्ञों द्वारा पहिले ही किया जा चुका था। पूर्व निर्धारित नीति के अनुसार आक्रमण की घोषणा होते ही मैने अपने लिए निर्धारित दक्षिण द्वार पर आक्रमण कर दिया। पूर्वी मुख्य द्वार जहाँ वानर–सेनापति नील के आक्रमण का लक्ष्य था, पवनपुत्र हनुमान वहीं अपनी सेनाओं के साथ पश्चिमद्वार पर जा पहुँचे। दक्षिण के वृहदाकार मुख्य द्वार पर आक्रमण का नेतृत्व स्वयं अपने अनुज के साथ श्री राम ने सम्भाल रखा था। वानरराज सुग्रीव, ऋक्षराज जाम्बवन्त तथा प्रभु श्री राम द्वारा लंकापति घोषित विभीषण अपने मुख्य सहायकों के साथ उनके आस–पास बने हुए थे। प्रभु श्री राम के दिशानिर्देशन में वानर सेनाओं को आवश्यकतानुसार सैनिकों तथा संसाधनों की सम्पूर्ति तथा नवीनतम निर्देशों एवं महत्त्वपूर्ण संसूचनाओं को सम्बन्धित तक पहुँचाना एवं नवीनतम गतिविधियों से अपने सर्वोच्च सेनानी को निरन्तर अवगत कराते रहना गुल्मनायकों एवं दलनायकों के प्रमुख कार्यों में से एक था।

लंका पर आक्रमण तथा उसके घिराव के पूर्व हम लोगों ने पवनपुत्र, मेरे, वानरचरों तथा विभीषण से प्राप्त सूचनाओं की गहन समीक्षा के पश्चात् लंका की सुरक्षा–व्यवस्था के कतिपय दुर्बल बिन्दुओं पर गहराई से विचार–विमर्श कर लिया था। समुद्र के मध्य स्थित घोर वनाच्छादित त्रिकूट पर्वत पर नदियों तथा सरोवरों का

जाल सा बिछा हुआ है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नदियों का जल विभिन्न स्थानों पर बने निर्धारित स्थलों से परिखा में गिरता रहता है। परिखा, मगर, घड़ियाल, जलनक्र, महाकाय सर्पों तथा विषैले जीव–जन्तुओं से भरी हुई है। विभीषण द्वारा प्रदत्त सूचनाओं से वीदित हुआ कि लंका में कतिपय गोपीनय स्थानों पर बने भाण्डार गृहों तथा आयुधागारों में अन्न एवं सामरिक संसाधनों का अक्षय भण्डार है। हनुमान जी द्वारा लंका दहन में इन भण्डार गृहों तथा आयुधागारों में पर्याप्त क्षति हुई अवश्य थी, किन्तु रावण की सामरिक क्षमता अभी भी दुर्दमनीय है। इसके प्रतिकारार्थ यह निर्णय लिया गया कि अवसर मिलते ही वानर सेनानी सर्वप्रथम इन अयुधागारों तथा अन्नागारों को अग्निदेव को समर्पित करेगें। यही नहीं युद्ध में सामान्य योद्धाओं की हत्या के स्थान पर हमारा लक्ष्य रावण, उसके पुत्रगण, सम्बन्धीजन तथा प्रमुख सेनानी होगें। यह भी निर्णय लिया गया कि यथा संभव राक्षस सेनानियों से छीने गये, शूलों, परिधों, कृपाण आदि शस्त्रों के द्वारा ही उनका वध कर उनमें आतंक का विस्तार करना होगा।

उभय पक्षों के मध्य तुमुल युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ ही समय पूर्व घटित एक घटना दोनों पक्षों के सामान्य सैनिकों तक में चर्चा का प्रमुख विषय बन गई। वानर–सेनाओं के स्कन्धावार के मध्य स्थित सुबेल पर्वत की चोटी पर चढ़ श्री राम, वानरराज सुग्रीव, ऋक्षपति जाम्ववन्त, मुझ अंगद, रावणानुज विभीषण, सेनापति नील आदि के साथ लंका के दुर्ग की आन्तरिक स्थिति का निरीक्षण कर रहे थे, उसी समय पास स्थित दुर्ग के कँगूरे पर कतिपय राक्षस सेनानियों के साथ चढ़े रावण द्वारा भी अपनी तथा शत्रु सेनाओं का निरीक्षण किया जा रहा था। निरीक्षण करता रावण सहसा सुबेल पर्वत के निकटवर्ती कंगूरे तक जा पहुँचा था। उधर वानरराज अत्यन्त सतर्ककतापूर्वक रावण की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे थे। अपने गुप्तचर प्रमुख शुक द्वारा वानरेन्द्र का परिचय देने पर रावण ने अब महाराज

सुग्रीव को ध्यान से देखा। दोनों की दृष्टियाँ क्या मिलीं रावण अत्यन्त उत्तेजित हो उठा। इसी बीच उसकी दृष्टि प्रभु श्री राम के पास खड़े विभीषण पर जा पड़ी। लगभग फूत्कारता हुआ सा रावण चिल्ला कर बोल उठा, ''क्या अद्‌भुत दृश्य है अपने–अपने कुल मुख्यों द्वारा अपने–अपने राज्य से निर्वासित तीन–तीन कुलांगार आज एक साथ मिलकर लंकेश से मृत्यु की याचना करने आ गये हैं?'' रावण के उक्त उद्‌गार ने उसके दर्शन मात्र से कुपित आशुकोपी वानरराज की क्रोधाग्नि में मानों घृत–पिण्ड का कार्य किया। सुबेल शैल की ऊँचाई की चिन्ता न करते हुए पितृव्य अपने दाँतों को किट–किटाते हुए रावण पर छलांग लगा बैठे। वेगाधिम्य के कारण दोनों धड़ाम से गिर पड़े किन्तु झपट कर पुनः खड़े हो गये। पितृव्य के दुस्साहस पर प्रभु श्री राम सहित हम सभी आश्चर्य चकित रह गये।

अब दोनों के मध्य विधिवत् मल्लयुद्ध होने लगा। एक ओर अनेक युद्धों का विजेता स्थूलकाय रावण था तो दूसरी ओर ताम्रवर्ण के स्वर्ण रोमा, सुडौल देहयष्टि के विशाल काय वानर राज सुग्रीव थे। रावण का प्रयास था कि वह किसी प्रकार कपिराज को अपनी भुजाओं के पाश में जकड़ ले तो दूसरी ओर क्षिप्रयोधी वानरेश्वर उछल–उछल कर, थप्पड़ों, मुक्कों, घुसों तथा पैरों के निरन्तर प्रहार से रावण पर आघात कर रहे थे। युद्ध की आपा–धापी में अन्ततः रावण पितृव्य को अपने बाहुपाश में लेने में सफल हो गया। एक क्षण के लिए मल्लयुद्ध प्रवीण वानराधीश ने अपने शरीर को ढीला कर दिया। रावण को लगा शत्रु मूर्च्छित हो गया है। उसने अपना बन्धन कुछ ढीला किया कि काका श्री अत्यन्त तीव्रता पूर्व धरती पर उकड़ूं बैठ गये। रावण कुछ समझ पाता कि वानरेश्वर ने शीघ्रतापूर्वक रावण के दोनों पैरों को झटके के साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर अपनी ओर खींचा। विशालकाय रावण धड़ाम से पीठ के बल जा गिरा इतना अवसर तेजस्वी सूर्यपुत्र के लिये पर्याप्त था। रावण के साथी राक्षस

योद्धा जब तक कुछ समझें काका श्री ने दौड़कर छलांग लिया। एक क्षण के लिए ऐसा लगा जैसे सूर्य का लाड़ला अपने पिता से मिलने सूर्य की ओर जा रहा हो। भैया लक्ष्मण ने एक बार हँसते हुए मुझसे कहा था कि उन्होंने पहिले तो विशालकाय तथा पंखहीन पितृत्व्य के इसे उड़ान को उनका दुस्साहस मात्र समझा था किन्तु उस समय उनको सुखद आश्चर्य हुआ जब वानरराज सुबेल की चोटी पर खड़ उनके अग्रज के चरणों के पास जा खड़े हुए।

''आपके इस दुस्साहस पर मैं तनिक भी प्रसन्न नहीं हूँ वानरराज! आप मेरे परम सुहृद ही नहीं वरन् असंख्य वानरों के हरीश्वर भी हैं। आपके बल पर ही मैंने इस समर–यज्ञ का आयोजन किया है। यदि आप को कुछ हो जाता तो क्या मैं आपके बिना सीता को लेकर वापस लौट पाता? यहाँ खड़े सभी लोग ध्यान से सुन लें अपने मित्रों तथा अनुज लक्ष्मण को गँवाकर यह दशरथ–पुत्र राम इस धरती पर जीवित नहीं रह सकेगा।'' प्रभु श्री राम यह कहते–कते साश्रुनयन हो उठे। लज्जित काका श्री क्षमायाचना की घोषणा करते हुए दोनों हाथों को एका कार करते हुए श्री राघव के चरणों में झुके ही थे कि प्रभु ने आगे बढ़कर उनको अपने अंक में भर लिया। कुछ क्षणेां के लिए मानों समयचक्र रुक सा गया हो। भक्त एवं भगवान दोनों की आँखें बरस रही थीं। यह दृश्य देख हम सभी की आँखें भी भर आईं थीं। हम अपने सेनाधिपति की मित्रवत्सलता पर मुग्ध हो उठे थे।

प्रत्युत्पन्नमति एवं वाग्विदग्ध हनुमत् ने सामयिक विषयान्तर कर स्थिति को और अधिक बोझिल होने से बँचा लिया। विनम्र स्वर में वह बोल उठे, ''हे प्रभु! यह आपके प्रताप का प्रभाव है कि हम वानरों ने आपके कृपापूर्ण आशीष से विश्व–इतिहास में पहली बार समुद्र–बन्धन के असंभव कार्य को संभव कर दिखाया है। आपके सथ जुड़ने से पूर्व हम वानरों को शेष मानव समाज, ''अर्द्धसभ्य वनेचर'' से अधिक कुछ मानने को भला प्रस्तुत ही कहाँ था? आपके कृपापूर्ण

सायुज्य ने ही मुझ एकाकी वानर को लंकादहन की शक्ति प्रदान किया। बालिकुमार अंगद अभी अल्पानुभवी तथा नवयुवक हैं। रावण जैसे अनुभवी राजनयिक की राजसभा में अपने वाक्–कौशल तथा शारीरिक बल से सफल आतंक उत्पन्न करने वाले हमारे युवराज की सकुशल वापसी आपके कृपाकटाक्ष के बिना कहाँ सम्भव थी? यह भी आपके आशीष का ही सुफल है कि एकाकी वानरराज रावण को धूल चटाकर सकुशल वापस लौट आये हैं।'' यह कह उन्होंने ''जय श्री राम'' की सिंहगर्जना किया। लंका का सम्पूर्ण नभ–मण्डल वानरों के समवेत जयघोष से निनादित हो उठा।

प्रथम दिवस का प्रथमार्द्ध वस्तुतः उभयपक्षीय महावीरों द्वारा एक दूसरे के बला–बल का अनुमान लगाने में व्यतीत हुआ। रावण को अपने युवराज इन्द्रजित् के पराक्रम पर अटूट विश्वास था। अपनी बाण–वर्षा से दूर से ही वानरों को आहत करने वाले मेघनाद को युद्ध के लिए ललकारते हुए मैं उससे जा भिड़ा। राक्षसवीर प्रजंघ से किष्किन्धावासी महाबली वानर–मुख्य, सम्पात्ति जा टकराया। पवनपुत्र ने जम्बुमाली तथ वानर यूथपति गज ने तपन नामक राक्षस वीरों को जा घेरा। वानरवीर सुषेण ने वानर सेनाओं की ओर बढ़ते विद्युन्माली को रोक लिया। उभयपक्षी योद्धागण अपना–अपना प्रतिद्वन्द्वी छाँट उनसे जा भिड़े।

रावणपुत्र मेघनाद को अपने बल पर अत्यधिक अहंकार था। इसी अहंकार के चलते वह हम वानरों को प्रिय गदा–युद्ध की चुनौती मुझको दे बैठा। मैंने इस स्वर्णिम अवसर को हाथ से न जाने देने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लगभग दोपहर को प्रारम्भ हमारा गदा–युद्ध सूर्यास्त तक चलता रहा। मैंने यह अनुमान कुछ ही देर में लगा लिया कि उसकी प्रहारक क्षमता धीरे–धीरे कम धारदार होती जा रही थी। दो प्रहर के गदा–युद्ध के पश्चात् राक्षस–युवराज बचाव की मुद्रा में आ गया। मैंने इसका लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। मेरी गदा के एक ही प्रहार से हम दोनों के बीच में सहसा आया मेघनाद का

सारथि रक्तवमन करता हुआ धराशायी हो गया। दूसरे प्रहार ने रथ को चकनाचूर कर दिया। रथ के अश्व भी आहत हुए। अब मैंने अपना पूरा ध्यान रावणपुत्र की ओर लगाया। कुछ समय तक बचाव करते–करते कान्तगात्र मायावी मेघनाद ने समझ लिया कि गदायुद्ध में उसकी हार निश्चित हैं। अंधेरे का लाभ उठा वह समर भूमि से भाग खड़ा हुआ। धनुष–बाण का आश्रय ले युद्ध करने वाले प्रजंघ को निकट आता न देख उसके बाणों से रक्तरंजित वानर वीर सम्पात्ति संक्रुद्ध हो उठा। पास ही में खड़े अश्वकर्ण वृक्ष को समूल उखाड़ उसने अपनी पूरी शक्ति से प्रजंघ के रथ पर दे मारा। प्रजंघ अपने रथ, अश्वों तथा सारथि सहित उस भीषण प्रहार से मूर्च्छित हो गया। उधर वायुकुमार कब तक शान्त रहते। उन्होंने रथाश्वों, सारथि एवं रथ सहित जम्बूमाली को दोनों भुजाओं से पकड़ कर ऊपर उठा लिया तथा धरती पर दे मारा। सारथि एवं अश्व मारे गये। रथ चूर्ण–चूर्ण हो गाय। जम्बुमाली रथ से कूद जाने में तेा सफल रहा किन्तु वह भाग नहीं पाया। बज्रबाहु हनुमान ने थप्पड़–प्रहार से ही उसका प्राणान्त कर दिया। राक्षस सेनानी धनुर्धर प्रतपन से महावीर नल जा भिड़ा। उसने महाकाय प्रतपन की आँखों में अपने नाखून घुसेड़ उसके वध के पूर्व उसको अन्धा कर दिया। अन्धा प्रतपन राक्षसों को ही वानर समझ उनका वध करने लगा। राक्षसवीर प्रघस को वानरेन्द्र सुग्रीव ने सप्तपर्ण नामक वृक्ष के दण्ड से प्रहार कर मार डाला। महाबली विरुपाक्ष रथारूढ़ हो अपने बाणों के प्रहार से वानरों को यमलोक भेज रहा था। सौमित्र से अपनी सेना की दुर्गति देखी नहीं गई। अपने क्षुरप्र नामक बाण से भैया लक्ष्मण ने विरुपाक्ष के सिर को उसके धड़ से पृथक् कर दिया। प्रभु श्री राम ने तो अपने क्षुरप्र बाणों से एक–एक कर अग्निकेतु, रश्मिकेतु सुप्तघ्न तथा यज्ञकोप नामक चारों राक्षसों का शिरोच्छेद कर दिया। मेरे आदरणीय श्वसुर तथा मातुल, वानरों के पूर्व सेनापति मैन्द ने अपनी बज्रमुष्टि के एक ही प्रहार से महाकाय राक्षसयोद्धा वज्रमुष्टि के सिर को चूर्ण कर

डाला। सेनापति नील ने द्वंद्वयुद्ध में कुम्भकर्ण के पुत्र निकुम्भ का सिर, उसी के चक्र को छीन कर उसके प्रहार से पृथक कर दिया। अशनिप्रभ नामक राक्षस–नायक के बाणों क प्रहार से आबिद्ध शरीर की चिन्ता न करते हुए अतुल विक्रम मामा द्विविद ने सालवृक्ष की शाखा से निर्मित अपने भारी–भरकम दण्ड के एक ही प्रहार से उसको यमलोक पहुँचा दिया। उसी प्रहार से सारथि एवं रथाश्व भी मारे गये। रथ तो चूर्ण–चूर्ण हो ही गया। द्वन्द्वयुद्ध का परिणाम पूर्णरूपेण वानरों के पक्ष में रहा। विलास–प्रिय एवं सुविधाभोगी राक्षसों पर व्यायामनिपुण तथ श्रम को महत्त्व देने वाले श्रमशील वानर भारी पड़े।

''कपटप्रिय राक्षसों का बल सूर्यास्त के पश्चात् प्रदोष काल से लेकर पूरी रात भर के लिए बढ़ जाता है'' यह लोकोक्ति बहुप्रचलित है। द्वंद्वयुद्ध में भारी पराजय से खिसियाये हुए रावण के आदेश पर रात्रि के गहन अन्धकार में राक्षसी सेनाओं ने मेघनाद के नेतृत्व में वानरी सेना पर आक्रमण किया। उनका प्रमुख लक्ष्य प्रभु श्री राम के निकट तक पहुँचना था। अभी कुछ ही प्रहर पूर्व गदायुद्ध में मुझसे पराजित हो भाग चुके मेघनाद की इस धृष्टता पर मुझे बहुत क्रोध आया।

मायायुद्ध में निपुण रावणपुत्र के साथ इस रात्रिकालीन आक्रमण में महापार्श्व, महोदर, महाकाय, तथा वज्रद्रंष्ट्र के आक्रमण के मुख्य लक्ष्य थे– राघव बन्धु। रात्रि के अन्धकार में अज्ञात स्थानों से हो रही बाणवर्षा से दोनों भाईयों का शरीर निरन्तर रक्तस्राव से विवर्ण हो रहा था। वानर सेनाओं में मची आपा– धापी का लाभ उठा अन्ततः मायावी मेघनाद श्री राम तथा भैया लक्ष्मण को नाग– पाश में आबद्ध करने में सफल हुआ। दोनों भाईयों के मूर्च्छित होने पर भी राक्षसों के आक्रमण की गति कम न हुई। आक्रामकों का घेरा कसता जा रहा था। स्थित की गम्भीरता का अनुमान लगा वानराधिपति महाराज सुग्रीव ने पवनपुत्र को, मुझको, सेनापति नील तथा मामाद्वय

मैन्द एवं द्विविद को ललकारते हुए कहा कि ''किसी भी मूल्य पर रात्रि के गहन अन्धकार का लाभ उठा राक्षस योद्धा प्रभु श्री राम तथा उनके अनुज के पास तक पहुँचने न पावें।''

युद्धभूमि में शत्रु के विनाश के लिए प्राणपण से जूझ रहे वानर, अपने नायकों का पतन, वियोग एवं पराभव सहन नहीं कर पाते हैं। राक्षसों द्वारा ''रामलक्ष्मण मारे गये'' तथा ''मेघनाद की जय'' के उद्घोषों ने दिवस–युद्ध में वानरों को मिली उल्लेखनीय सफलता के उत्साह को उदरस्थ कर लिया। हम लोगों के निरन्तर उत्साहवर्द्धन के प्रयास के पश्चात् भी समरभूमि में वानरों का हा–हाकार गूँज उठा। अधिकांश वानर युद्ध–विरत हो इधर–उधर भागने लगे।

अवसाद के इन विषम क्षणों में रावणानुज विभीषण की धैर्ययुक्त अमृतवाणी संजीवनी बन कर गूँज उठी। वानरों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने दहाड़ते हुए वानरों को वानरीभाषा में सम्बोधित करते हुए कहा, ''हे वानर वीरों! श्री राम अपने अनुज सहित जीवित हैं। उन दोनों भाईयों के मुख पर जीवन की कान्ति का अवलोकन मैंने स्वयं किया है। मृतकों को भी जीवनदान करने में सक्षम अपने भिषगाचार्य सुषेण जी की क्षमता पर आप सभी पूर्ण विश्वास रखें। मल्लयुद्ध में रावण को धूल चटाने वाले महाराज सुग्रीव, इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को समरभूमि से मार भगाने वाले पराक्रम–पुञ्ज युवराज अंगद, असंभव को संभव कर दिखाने वाले परमवीर हनुमान, यशस्वी सेनाधिपति नील तथा कालजयी जाम्बवन्त जी की बातों पर आप पूर्ण प्रत्यय (विश्वास) रखें।..... मुझ अनाथ विभीषण की बातों को ध्यान से सुनें। प्रभु श्री राम जैसे शरणदाता के न रहने पर मेरा क्या होगा? तनिक इस पर तो विचार कर लें। मैं आप से शपथ पूर्वक कह रहा हूँ हमारे सर्वोच्च नायक अपने अनुज सहित पूर्ण सुरक्षित हैं''।

विभीषण जी की बातों का वानर वीरों पर वाञ्छित् प्रभाव पड़ा। उनकी युक्तियुक्त बातें मेरे कानों में भी सुधा–वर्षण कर गईं। दोनों भाईयों के व्रण–परीक्षण के उपरान्त सर्वप्रथम वैद्यराज सुषेण

जी के मुख से 'जय श्री राम' का घोष उच्चारित हुआ। सबको सुनाते हुए उन्होंने उच्चस्वर में घोषणा किया कि दोनों भाईयों के प्राणों के लिए कोई भय नहीं है। वे घायल मात्र हैं तथा शीघ्र ही उपचारोपरान्त पूर्ण स्वस्थ हो जावेगें। उसी समय वैद्यरत्न द्वारा भेजे गये हनुमान जी के साथ लौटे गरुड़–जाति के एक 'विष विशेषज्ञ' का पदार्पण हुआ। सुपर्ण के उपचार से सानुज श्री राम तत्क्षण उठ बैठे। वैद्यराज सुषेण उन दोनों भाईयों को अपने उपचार से पहिले ही ब्रणरहित कर चुके थे। दोनों धनुर्धर महावीरों के उठ कर खड़ा होते ही वानरी सेनाओं का बारम्बार 'जयनाद' लंका के राक्षसों को आतंकित कर गया। लंका की अशोक वाटिका में माता सीता तथा वहाँ नियुक्त राक्षसियों ने भी वानरों का जयनाद सुना। मेघनाद के जयनाद से जहाँ पूरी लंका प्रसन्न थी, देवी वैदेही के तो मानों प्राण अधर में जा अटके थे। कुछ ही घड़ियों के पश्चात् 'जय श्री राम' का घोष क्या गूँजा स्थिति एकदम पलट गई।

प्रथम दिवस के युद्ध ने रावण सहित उसके अहंकारी पुत्रों तथा सेनानियों को भारी मानसिक आघात पहुँचाया था। उनकी आशा है के प्रतिकूल हजारों की संख्या में वानर वीर दुर्ग की परिखा को लांघ कर दुर्ग के प्राचीरों की अभेद्यता का मिथक तोड़ चुके थे। अनियन्त्रित वानरों ने अपने स्वभाव के अनुरूप जगह–जगह पर लूट–पाट तथा अग्निकाण्ड कर राक्षस प्रजा को जहाँ आतंकित किया वहीं अन्न के भण्डारों, राक्षसों के अश्वशालाओं तथा आयुधागारों को यथा संभव अग्नि को समर्पित किया था। विवश हो रावण को अपनी सेनाओं को दुर्ग के बाहर भेजना पड़ा था। उसका प्रमुख उद्देश्य वानर–वीरों को लंका–दुर्ग से बाहर निकल राक्षसी आक्रमण के प्रतिरोध को विवश करना था।

दूसरे दिन के युद्ध का प्रारम्भ रावण के विश्वसनीय सेनानायक तथा मामा सुमालीसुवन धूम्राक्ष के आक्रमण के साथ हुआ। वानर वीरों द्वारा पहिले ही दिन लंका दुर्ग के अन्दर घुस कर तोड़–फोड़ तथा

अग्निकाण्डों से उत्पन्न आतंक से उबरने के लिए रावण दुर्ग से बाहर युद्ध करने को विवश हो चुका था। अपने गदहों से खींचे जाते हुए रथ पर सवार सुमाली–पुत्र धूम्र ने समरभूमि में पहुँचते ही वानरों का वध प्रारम्भ कर दिया। उसके द्वारा पीड़ित वानरी सेना के रक्षार्थ केसरीनन्दन हनुमान जी धूम्राक्ष पर चढ़ दौड़े। उनकी क्रोध से रक्ताभ आँखों से मानों आग की लपटें निकल रही थीं। कोपाकुल पवनतनय द्वारा फेंकी विशाल शिलाखण्ड को अपनी ओर आता देख धूम्र अपने रथ से धरती पर कूद पड़ा। शिलाखण्ड के प्रहार से उसका रथ चूर–चूर हो गया। सारथि तथा रथ में जुते गदहे मारे गये। धूम्राक्ष ने तदूपरान्त अपनी कँटीली गदा से हनुमान जी पर प्रहार किया। इस प्रहार ने आञ्जनेस के क्रोधाग्नि में घृताहुति का कार्य किया। क्रोधोन्मत्त बजरंगी ने सामने पड़ी एक विशाल प्रस्तर–शिला को उठा उछल कर धूम्राक्ष के सिर पर दे मारा। उस प्रहार से छिन्न–भिन्न हुए सिर वाला राक्षस सेनानी विकीर्ण (बिखरे हुए) प्रस्तर–खण्डों की भाँति पृथ्वी पर धड़ाम से आ गिरा। धूम्राक्ष के मरते ही वानरों द्वारा मार खाती राक्षसी सेना लंका के दुर्ग में जा घुसी।[1]

धूम्राक्ष के बध के उपरान्त राक्षस सेनाओं के पलायन के समाचार से कोपाविष्ट रावण विषधर की भाँति फूत्कार सा करता हुआ अपने आसन से उठ खड़ा हुआ था। उसके नेत्र सभाकक्ष में बैठे विचित्र केयूर (भुजबन्ध) धारी धनुर्धर वज्रदंष्ट्र पर पड़ी। दोनों के नेत्र मिले। बज्रद्रंष्ट्र ने सिर झुका कर स्वामी को प्रणाम किया तथा हुँकार भरता हुआ सभाकक्ष के बाहर निकल पड़ा। भारी सैन्य समूह के साथ रावण की जयघोष करते वह दुर्ग के दक्षिणद्वार पर आ पहुँचा। दुर्ग का द्वार खुलते ही उसने मुझ को अपने स्वागत के लिए तत्पर पाया। प्रवेशद्वार के खुलते ही वानर–सेना लंका में प्रवेश के संकल्प के साथ पिल पड़ी। दुर्ग का दक्षिणद्वार उभयपक्षीय सेनाओं के मध्य तुमुल युद्ध का प्रमुख स्थल बन गया। मैं वज्रदंष्ट्र के पास पहुँचने का जितना अधिक प्रयास करता उतना ही उसकी वाण–वर्षा तीव्र हो

उठती थी। वह मुझसे सुरक्षित दूरी बनाये रखना चाहता था। अपने बाणों से वह मेरे दण्ड तथ शिला–प्रहारों को व्यर्थ बना दे रहा था। अन्त में उसके वाण–वर्षा की चिन्ता न करते हुए मैं उसके रथ के निकट तक पहुँचने में सफल हो गया। मेरे शिला प्रहार से वज्रदंष्ट्र के रथ का कूबर कई टुकड़ों में विभक्त हो गया तथा रथाश्व मारे गये। विवश ब्रज्रदंष्ट्र भूमि पर मुझसे गदायुद्ध को बाध्य हुआ। लगभग दो प्रहर के भीषण युद्ध के पश्चात् मैं बज्रदंष्ट्र के असि को छीन कर उसी के प्रहार से उसका सिर काटने में सफल हुआ।[2] बज्रदंष्ट्र के मरते ही राक्षस योद्धा रणक्षेत्र छोड़ भाग खड़े हुए। इस प्रकार तीसरे दिन का युद्ध समाप्त हुआ। तीसरे दिवस के युद्ध में राक्षसों तथा वानरों की व्यापक क्षति हुई किन्तु हमारा सौभाग्य रहा कि हमारे पक्ष के उल्लेखनीय वानर–वीर अथवा यूथप पूर्णतया सुरक्षित रहे। तीसरे दिन के युद्ध का प्रमुख नायक मुझको माना गया। प्रभु श्री राम, भैया लक्ष्मण तथा पितृव्य सुग्रीव ने जहाँ गले लगा कर मेरी भूरि–भूरि प्रशंसा की वहीं पर विभीषण जी ने मेरे द्वारा प्रचण्ड राक्षस योद्धा मायावी ब्रजदंष्ट्र के वध को मेरी चमत्कारिक उपलब्धि घोषित किया।

चौथे दिवस का युद्ध राक्षसराज रावण के आदेश पर समरभूमि में नये राक्षस सेनापति के रूप में आये अकम्पन ने प्रारम्भ किया। यह वही अकम्पन था जिसने एकाकी प्रभु श्री राम द्वारा खर तथा दूषणादि सहित चौदह सहस्र राक्षस सैनिकों के वध का समाचार देते हुए रावण को देवी सीता के अपहरण के लिए उकसाया था। विभिन्न अपशकुनों की चिन्ता किये बिना वह स्थारुढ़ हो धनुष–बाण का आश्रय ले वानर सेना में घुसता चला अया। उसके नेतृत्व में बढ़ रही राक्षसी सेना का बढ़ाव रोकने का दायित्व गोमती तटवर्ती रम्य, संरोचन–पर्वत पर रहने वाले वानर वीरों के यशस्वी यूथप महावीर कुमुद ने लिया। अपने अपरिमित बाहुबल का आश्रय ले उसने न केवल राक्षस–सेनानी का बढ़ाव रोक दिया वरन् थप्पड़ों से पीट–पीट कर अकम्पन को अध–मरा कर डाला। इसी बीच अपने चुने हुए

साथियों के साथ मातुलद्वय मैन्द तथा द्विविद भी कुमुद की सहायतार्थ आ पहुँचे। अब तो पासा पूरी तरह पलट गया। राक्षसों में भगदड़ मच गईं। संज्ञावान् होते ही आकम्पन ने अपने रथाश्वों की बल्गा ढीली कर अपने रथ तथा अश्वों को वानरसेनाओं में घुसा दिया। सैकड़ों वानर योद्धा अकम्पन की वाण–वर्षा का आखेट बने। प्रतापी प्रभञ्जनकुमार हनुमन्त से यह दृश्य देखा नहीं गया। हाथ में मूसलाकार दण्ड लिए वातात्मज ने उसके प्रहार से सामने पड़ने वाले राक्षसों का कचूमर निकालना प्रारम्भ कर दिया। अपने रथाश्वों को नियन्त्रित करने में असमर्थ अकम्पन क्रोधित हनुमानजी से जा टकराने की भूल कर बैठा। जब तक वह स्वयं को सम्भाल पाता अमितपराक्रम हनुमान का दण्ड चल चुका था। उस भीषण प्रहार को झेल सकने में असमर्थ अकम्पन, मुख से रक्त–वमन करता धराशायी हो गया।। अकम्पन के मरते ही राक्षसों में हा–हा–कार मच गया। भग्नमनोबल राक्षस सेनायें भाग कर लंका–दुर्ग के भीतर जा पहुँची। अकम्पन रावण का सगा मातुल जो था।

अकम्पन की मृत्यु ने रावण के परिजनों तथा पुरजनों को झकझोर कर रख दिया था। अकम्पन रावण के मातामह सुमाली का ज्येष्ठ पुत्र था, जिसकी माँ का नाम केतुमती था। अकम्पन के अन्य भाईयों में प्रहस्त, विकट, कालिका मुख, दण्ड, धूम्राक्ष, सुपार्श्व, संह्वादिन्, प्रभस तथा भासकर्ण थे। रावण ने अकम्पन तथा धूम्राक्ष नामक दोनों मामाओं के बध के प्रतिशोध के निमित्त अपने प्रधान सेनाधिपति तथा अमात्य मातुल प्रहस्त को नियुक्त किया था। अपने दो–दो सगे भाईयों के बध से संतप्त राक्षस सेनाधिपति अपने साथ लंका की चतुरंर्गिणी सेनाओं का लगभग एक तिहाई भाग लेकर निकला। उसके चारों अमात्य नरान्तक (रावण पुत्र से भिन्न), कुम्भहनु (कुंभकर्ण–पुत्र से भिन्न), महानाद तथा समुन्न्त उसके साथ थे।

महासमर के पाँचवें दिन युद्धभूमि में लंका की लगभग एक तिहाई सेनाओं के साथ आये महाकाय राक्षस सेनाधिपति प्रहस्त का

विभीषण जी से परिचय जान प्रभु श्री राम ने वानर सेनाओं के प्रमुख सेनापति नील को बुलाकर प्रहस्त को रोकने की आज्ञा दी। विक्षुब्ध–महासागर की लहरों की गर्जना को अपने सिंहनाद से दबाती उभयपक्षीय सेनायें परस्पर जा भिड़ी। रथारुढ़ प्रहस्त अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी भूमि पर आरुढ़ प्रचण्ड विक्रम नील के शरीर को अपने निरन्तर बाण–प्रहारों से बींध रहा था। रक्तरंजित नील अपने शरीर से हो रहे रक्तस्राव की चिन्ता किये बिना हिमवान् की भाँति अडिग रहा। वह प्रतीक्षा करता रहा कि किसी प्रकार प्रहस्त उसकी पहुँच के अन्दर आ जाय। प्रहस्त के रथ के निकट पहुँचते ही नील ने सालवृक्ष के मोटे तने के प्रहार से रथ को चूर–चूर कर दिया। रथ के घोड़े तथा सारथि मारे गये। प्रहस्त ने भूमि पर कूद कर अपनी प्राण रक्षा की। नील इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। ललकारते हुए उसने प्रहस्त को जा पकड़ा। मल्लयुद्ध में स्वयं को नील से उन्नीस पा प्रहस्त ने किसी प्रकार अपने को प्रतिस्पर्द्धी की पकड़ से छुड़ाया तथा टूटे हुए रथ के पास खड़े अपने धनुष को उठा लिया। क्षिप्रयोधी नील ने उछल कर प्रहस्त के धनुष को खींच कर तोड़ डाला। अब प्रहस्त की दृष्टि रथ के पास पड़े भारी मूसल पर पड़ी। प्रहस्त भारी–भरकम मूसल को उठा कर नील की ओर दौड़ पड़ा तथा उसके सिर पर दे मारा। झटके से नील ने अपना सिर बँचाया किन्तु बँचाते–बँचाते भी उसका सिर मूसल की चपेट में आ ही गया। नील इस आघात को सहन कर सकने में असमर्थ भूमि पर जा गिरा। उसके सिर से रक्त की तीव्र धार बह निकली। कोई दूसरा होता तो उसके सिर के चिथड़े उड़ गये होते किन्तु वह तो अग्निपुत्र नील था– पराक्रमपुञ्ज नील। रक्त में स्नान किये नील को देख प्रहस्त ने उसको मूर्च्छित समझ लिया तथा अपने तलवार से उसका सिर उड़ाने के निमित्त नील के अत्यधिक निकट जा पहुँचा। राक्षस सेनापति की क्षणिक शिथिलता उसके लिए मँहगी पड़ी। एक झटके के साथ वानर सेनापति उछल कर अलग जा खड़ा हुआ। उसका सम्पूर्ण शरीर रक्त

में पूर्ण रूपेण भीग जाने के कारण अत्यधिक भयानक दीख रहा था। पास में पड़ी एक विशाल प्रस्तर शिला को दोनों हाथों में उठाये नील ने एकाएक उछल कर उक्त शिलाखण्ड को प्रहस्त के सिर पर दे मारा। प्रहस्त का सिर कच्चे घड़े के समान फटाक की ध्वनि करता हुआ कई टुकड़ों में विभाजित हो गया।[3] उसके पाण पँखेरु उड़ चुके थे। इसके पूर्व प्रहस्त का प्रमुख अमात्य एवं पुत्र नरान्तक अमित बलशाली मातुल द्विविद के हाथों कालकवलित हो चुका था। उसके अन्य सचिव समुन्नत पर कपिप्रवर दुर्मुख भारी पड़े थे। तीसरा अमात्य कुम्भहनु मातुल तारके हाथों यमलोक पहुँचाया जा चुका था। महानाद ने ऋक्षपति जाम्ववन्त को बूढ़ा समझने की भूल की थी। उस भूल का मूल्य उसको प्राण देकर चुकाना पड़ा। तटबन्ध के टूटते ही जिस प्रकार नदी का पानी जिधर स्थान पाता है, अनियन्त्रित हो उसी ओर दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार प्रहस्त के मरते ही लंका की सुविशाल सेना रोती–चिल्लाती लंका के दुर्ग में जा घुसी। आज के युद्ध के प्रमुख नायक सेनापति नील का अभिनन्दन स्वयं सानुज श्री राम ने किया। प्रभु श्री राम तथा अग्निपुत्र नील के जय–घोष ने लंका–वासियों के हृदय में शोक की लहर को कई गुना विस्तार दे दिया।

अपने सेनाधिपति एवं विश्वसनीय अमात्य मातुल प्रहस्त के मारे जाने पर रावण को हार्दिक कष्ट पहुँचा। वह भली–भाँति समझ गया कि वानर योद्धाओं को दुर्बल तथा राक्षयोद्धाओं से हीन समझने की भूल लंका की सेनाओं के लिए घातक सिद्ध हो रही है। प्रतिपक्षी सेनाओं के मनोबल को तोड़ने के लिए उसने समरभूमि में स्वयं पहुँचने का निर्णय लिया। उसके साथ ही अपनी विशालकाया के भार से अपने गजराज के मस्तक को प्रकम्पित करता प्रातःकालीन सूर्य की आभा के समान लाल मुख वाले अकम्पन ने भी प्रस्थान किया। लंका का मायावी युवराज इन्द्रजित अपने बहुमूल्य स्वर्णरत्नजटित सिंहध्वज रथ पर आरूढ़ हो अपने पिता के पीछे–पीछे लंका के दुर्ग

से निकला। रावण की दूसरी पत्नी धन्यमालिनी के गर्भ से उत्पन्न महेन्द्र पर्वत की भाँति स्थूलकाय धनुर्धर अतिकाय अपने सुविशाल धनुष को बार–बार टंकारता एक दूसरे भव्य–युद्धरथ पर सवार हो लंका से बाहर निकला। रावण का एक अन्य पुत्र महोदर भी गर्जन करता हुआ अपने गज पर आरूढ़ हो बाहर निकला। अपने सुवर्णसज्जित श्वेत रथ पर आरूढ़ पिशाच अपने चमचमाते लम्बे प्रास के कारण दूर से ही दिखलाई पड़ रहा था। राक्षसराज का त्रिशिरा नामक पुत्र अपने श्वेत वर्ण के विशालकाय रथ पर सवार हो त्रिशूल धारण किये हुए अपने पिता के पीछे–पीछे युद्ध भूमि के लिए चला। मेघ के समान कृष्णा वर्ण का कुम्भकर्ण का ज्येष्ठपुत्र कुम्भ नागराज वासुकि चिन्हांकित अपने भव्य रथ पर आरूढ़ हो अपने ज्येष्ठ पिता का अनुगामी बना। उसका परिघ धारी अनुज निकुम्भ दूसरे रथ पर सवार था। रावण–पुत्र नरान्तक अपने अलंकृत रथ पर सवार आयुधसज्ज हो निकला। देवताओं का दर्पहन्ता ''लोकरावण'' (संसार को रुलाने वाला) रावण राक्षसी सेनाओं का नेतृत्व कर रहा था। राक्षस सेनाओं के गिरते मनोबल को ऊपर उठाने के उद्देश्य से छठवें दिन के युद्ध का नेतृत्व स्वयं रावण ने संभाला था।

वानर वीरों को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि लंका से बाहर निकल कर रावण ने साथ मे आये महावीरों को एक–एक कर दुर्ग के चारों द्वारों की रक्षार्थ भेज दिया। उसको यह भय सता रहा था कि कही नगरी को अरक्षित जान वानर योद्धा उसमें घुस लूट–पाट एवं उपद्रव न मचाने लगें। साथ के राक्षस वीरों को नगर की रक्षा में भेज रावण व्याघ्र, ऊँट, हाथी, हिरन एवं अश्व आदि का मुखौटा पहिने विवृत्त (फैले हुए) नेत्रों वाले राक्षसों, पिशाचों की सेना के साथ आगे बढ़ा। उसको आगे बढ़ते देख पुरुषोत्तम श्री राम ने अपने धनुष को बार–बार टंकारित किया तथा आगे बढ़ रावण का मार्ग रोक कर खड़े हो गये।

कपीश्वर सुग्रीव रावण को प्रभु श्री राम की ओर बढ़ते देख पुनः क्रोधाकुल हो उठे। अपने सामने स्थित वृक्षों एवं शिखरों के निरन्तर प्रहार से उन्होंने रावण की गति बाधित करनी चाही किन्तु रावण उन आक्रमणों को विफल करता हुआ प्रभु श्रीराम की ओर बढ़ता रहा। युद्ध की पूर्व बेला में वानरराज द्वारा कृत अपने अपमान का स्मरण कर उसने एक मन्त्रपूत वाण से पितृव्य का वक्षस्थल विदीर्ण कर दिया। वानरपति उस आघात से मूर्च्छित हो गये। वानरपति के धराशायी होते ही रावण सहित राक्षसों ने समवेत स्वर में हर्षनाद किया। राक्षसों के हर्षनाद का कारण जान पास ही में युद्धरत वानर यूथपगण गवाक्ष, गवय, नाना सुषेण, वानर महावीर ऋषभ, तेजपुज्ज ज्योतिर्मुख एवं अग्निपुंज के समान तेजस्वी अग्निपुत्र नल एक साथ रावण की ओर दौड़ पड़े। ऐसा लग रहा था मानों रावण आज ही युद्ध को समाप्त करने का संकल्प लेकर आया था। उसने दिव्यास्त्रों की अनवरत बाण–वर्षा से वानर वीरों को आहत करने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रभु श्रीराम से वानर वीरों की यह दशा देखी नहीं गई। उनको राक्षसराज से युद्ध करने के लिए आगे बढ़ते देख सौमित्र ने उनसे स्वयं रावण से युद्ध करने की अनुमति माँगी। यह देख वायुनन्दन हनुमान हुँकार करते हुए रावण की ओर दौड़ पड़े।

वायुपुत्र को गर्जना करते हुए अपनी ओर बढ़ता देख तथा लंकादहन कर्ता को पहिचान रावण ने अपना रथ रोक लिया। कुछ क्षणों के परस्पर वाक्–युद्ध के पश्चात् बज्रांग हनुमत् रावण के बाणों के प्रहार को झेलते हुए उसके रथ पर जा चढ़े। दोनों में द्वन्द्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। अपने शरीर की सम्पूर्ण शक्ति हाथों में संजो रावण ने विद्युत्गति से केसरीनन्द की छाती में दोहत्थड़ दे मारा। आञ्जनेय ने उस भीषण प्रहार को सायास झेल लिया। अब हनुमान की बारी थी। अपने शरीर का सम्पूर्ण बल लगा उन्होंने रावण के वक्षस्थल पर अपनी वज्रमुष्टि से वज्रप्रहार किया। मानों भूकम्प आ गया हो। उस

प्रहार से लड़खड़ा कर गिरते रावण ने रथध्वज को पकड़ स्वयं को धराशायी होने से बँवाया। रावण द्वारा थप्पड़–प्रहार की शक्ति की प्रशंसा पर वह और अधिक कोपाकुल हो उठे। उक्त प्रहार के पश्चात् भी रावण के बँच जाने पर स्वयं को धिक्कारते हुए श्री रामदूत ने आत्म–दण्ड के रूप में रावण को बिना किसी प्रतिकार के एक थप्पड़ मारने तथा तत्पश्चात् उनके एक और थप्पड़ को सहन करने का आमन्त्रण दिया। इस आमंत्रण से रावण मानों अर्द्धविक्षिप्त हो चिल्ला उठा, ''वानराधम! सुरासुरजेता, त्रैलोक्य–विजयी रावण को इस प्रकार की चुनौती देने का साहस आज तक किसी ने नहीं किया। पिता द्वारा राज्य से निष्कासित वनवासी मानव के क्रीतदास!! आज तेरा बध करना ही पड़ेगा।'' इतना कह उसने बज्रांग हनुमत् की वज्रदेह पर थप्पड़ों का प्रहार प्रारम्भ कर दिया। इन प्रहारों से विचलित मात्र आंजनेय ने रावण के गाल पर एक तमाचा जड़ दिया। लड़खड़ाता हुआ रावण रथ के पिछले भाग में जा बैठा। कुछ क्षणों के लिए वह चेतना शून्य हुआ। चैतन्य होते ही उसने अपने हाथ में चन्द्रहास खड्ग उठा लिया उधर अनिलात्मज रथ से उछल कर धरती पर कूद खड़े हुए तथा राक्षसों का बध करने लगे। इसी बीच वानर सेनापति नील रावण से आ भिड़ा। दोनों को युद्धरत देख पवनतनय हनुमान ने ललकारते हुए रावण से कहा, ''इस समय तुम किसी अन्य के साथ युद्धरत हो अतएव तुम पर मेरा मुष्टि प्रहार भविष्य के लिए उधार रहा।''

अग्नि के समान प्रज्वलित रोष से युक्त अग्निपुत्र नील ने अपनी चमत्कारिक क्षिप्रता, अलौकिक शौर्य, अप्रतिम पराक्रम तथा दुर्दभनीय दुस्साहस से समर भूमि में उससे जूझ रहे रावण के साथ ही साथ अपने पक्ष के प्रभु श्रीराम, सौमित्र, महामति हनुमान सहित अन्य महावीरों को भी आश्चर्य चकित कर दिया। रावण की वाणवर्षा से रक्तरंजित शरीर की चिन्ता किये बिना वानर सेनापति अपनी त्वरायुक्त उछल–कूद के कारण कभी रावण के कन्धों पर कभी रथ

के ध्वज पर, कभी रथाग्र पर तो कभी रावण के पीछे दिखलाई पड़ रहा था। अपने थप्पड़ों की मार, नाखूनों तथा दाँतों के प्रहार से वह राक्षसराज को निरन्तर व्यथित कर रहा था। रावण बार–बार प्रयास कर भी नील को पकड़ नहीं पा रहा था। विवश हो उसने अपने तूणीर से अभिमंत्रित आग्नेयास्त्र को निकाल कर अपने धनुष पर चढ़ा लिया।

पिताश्री वानरेश्वर श्री बाली द्वारा बन्दी बनाये जाने के समय ही रावण ने वानरों की युद्धनीति, निश्च्छल एवं सरल व्यवहार की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर लिया था। नील के बारम्बार पहारों से व्याकुल, लोककण्टक रावण को आग्नेयास्त्र के सन्धान के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा थी। वानर सेनापति से इसी बीच एक चूक हो गई। रावण के हाथों से उसका शरासन छीनने के स्थान पर नील ने उसको जोर का एक थप्पड़ मारा तथा रावण के ध्वजाग्र पर बैठ गर्जना करने लगा। इस प्रकार उन्होंने अनजाने में कपटप्रिय रावण को शर–सन्धान हेतु आदर्श दूरी प्रदान कर दिया। राक्षसराज के धनुष से छूटा मंत्राभिषिक्त वाण नील के वक्षस्थल को भेदता हुआ बाहर निकल गया। वाण के प्रहार से ध्वजारूढ. नील धड़ाम से पृथ्वी पर जा गिरे। कोई अन्य होता तो उसके प्राणपखेरू उड़ गये होते। यह तो उनके पिता श्री अग्निदेव की कृपा तथा उनकी अतुलित शारीरिक शक्ति का प्रभाव था कि वह इस प्रहार से मूर्च्छित मात्र हुए।

निहत्थे प्रतिद्वन्द्वी पर रावण द्वारा आग्नेयास्त्र जैसे घातक दिव्यास्त्र के प्रयोग ने रामानुज को कोपाकुल कर दिया। लंकेश को चुनौती देते हुए वह उससे जा भिड़े। लगभग एक प्रहर के युद्ध में दोनों महावीर एक दूसरे के प्रहारों को व्यर्थ करते रहे। सौमित्र को रावण से भिड़ते देख विभीषण से नहीं रहा गया। रावणानुज अपने अग्रज को ललकारता हुआ आगे बढ़ा। विभीषण को अपनी ओर आते देख रावण क्रोध से उन्मत्त हो उठा। उसने मंत्रपूरित शत्रुघातिनि

शक्ति को विभीषण पर दे मारा। अपने मित्र एवं सहायक के प्राणों पर संकट देख लक्ष्मण भैया ने विभीषण को खींचकर अपने पीछे कर लिया। मित्रवत्सल सुमित्रानन्दन के वक्षस्थल को भेदने के पश्चात् वह शक्ति पुनः रावण के पास वापस लौट गई। विदीर्णवक्षस्थल सुमित्राकुमार अपने को सम्भालने के प्रयास में धराशायी हो गये। हतप्रभ एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ विभीषण की चिन्ता किये बिना रावण अपने रथ से कूद कर श्री लक्ष्मण को उठाने का प्रयास करने लगा। किसी समय अपने बाहुबल से कैलाशशिखर को प्रकम्पित करने वाला दशकन्धर लाख प्रयास कर भी रामानुज को अपनी बाँहों में भी नहीं भर सका। श्री लक्ष्मण को टस से मस करने में असमर्थ लंकापति अभी कुछ और सोचता कि प्रभञ्जन के झोंके के समान वायुपुत्र हनुमान वहाँ आ पहुँचे। उनके एक मुष्टि प्रहार से रावण की आँखों में अंधेरा छा गया। उसके मुँह, नाक और कानों से रक्तस्राव प्रारम्भ हो गया। किसी प्रकार अपने को सम्भालता वह अपने रथ पर जा पहुँचा तथा उसके पृष्टभाग में पहुँचते–पहुँचते उसकी चेतना जाती रही। कुछ काल के उपरान्त ही उसकी मूर्च्छा समाप्त हुई। चैतन्य होते ही वह पुनः वानरी सेना से युद्ध करने लगा। तब तक पवनपुत्र, शेषावतार भैया लक्ष्मण को सुरक्षित वानर–शिविर में पहुँचा चुके थे।

अपने अनुज की मूर्च्छा से संक्रुद्ध श्री राम ने हनुमान के कन्धों पर बैठ रावण को ललकारा। दोनों ने अपने–अपने हस्तलाघव अपनी क्षिप्रता तथा अपनी बाण–विद्या से उभयपक्षीय वीरों को चमत्कृत कर दिया। अपनी ओर से किसी दिव्यास्त्र के प्रयोग की पहल न कर सीतापति ने मात्र रावण के दिव्यास्त्रों को व्यर्थ कर रावण पर अपनी सामरिक श्रेष्ठता का परिचय दिया। रावण को चेतते न देख ज्येष्ठ दशरथनन्दन ने रावण के रथ को तोड़ कर, उसके धनुष को भंग कर उसे निश्शस्त्र योद्धा की दयनीय स्थिति में ला दिया। दोनों पक्ष के हजारों योद्धाओं के सामने श्री राम ने रावण को प्राणदान देते हुए पुनः नये रथ पर नये शास्त्रास्त्रों से सज्जित हो

समर भूमि में आने का आमंत्रण दे छोड़ दिया। इस प्रकार छठवें दिन के युद्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना प्रभु श्री राम के हाथों रावण की अपमान जनक पराजय थी। इस महत्त्वपूर्ण घटना ने युद्धरत वानरी सेना के मनोबल को कई गुना बढ़ा दिया।

अपनी पराजय से सन्तप्त रावण ने अपने महाबली अनुज कुंभकर्ण को जगवा कर समरभूमि में भेजा। विशाल परिध हाथ में लिए पर्वताकार कुंभकर्ण के रणक्षेत्र में प्रवेश करते ही वानरों में भयंकर आतंक व्याप्त हो गया। जिधर अवसर मिला उधर ही वानर यूथप पलायन करने लगे। उधर कुम्भकर्ण वानरों का भक्षण करता, उनको अपने पैरों से कुचलता आगे बढ़ता आ रहा था। वानरों का यह अपमानजनक पलायन मुझसे सहन नहीं हो सका। मैंने पास ही में युद्धरत वानर सेनापति नील, उनके पराक्रमी अग्रज नल, क्षिप्रयोधी गवाक्ष, महाबली कुमुद को ललकारते हुए कहा, ''हे वानरी वीरों! अपने श्रेष्ठ कुलों की अलौकिक कीर्ति तथा श्रेष्ठ परम्पराओं का विस्मरण कर सामान्य वानरों की भाँति पराङ्मुख कदापि न बनो।''[4] उनको ललकार कर मुझको आगे बढ़ता देख उक्त महावीरों के नेतृत्व में वानर सेनायें वापस लौट पड़ी। हमें आगे बढ़ते देख महावीर हनुमान चलते–फिरते पर्वत के समान कुम्भकर्ण से जा टकराये। वानरों के सभी प्रहारों को तृणवत् झेलता रावणानुज निरन्तर आगे बढ़ता रहा। पवनपुत्र उसके परिध के प्रहार से आहत हो गये। अन्य वीरों को भी उसने मर्मान्तक चोटें पहुँचाई। उसके शूल की चिन्ता किये बिना मैं उछल कर उसके वक्ष–स्थल पर अपना पूरा बल लगा दोनों हाथों को मिला कर वज्रप्रहार कर बैठा। इस आकस्मिक प्रहार से वह अर्द्धमूर्च्छित होता हुआ धड़ाम से धरती पर जा गिरा। उसके शरीर के नीचे दब कर अनेक राक्षस तथा वानर योद्धा कालकवलित हो गये। अत्यधिक उत्साह में मैं उसके निकट जा पहुँचा। मेरी आशा के सर्वथा प्रतिकूल कुंभकर्ण सहसा उठ खड़ा हुआ तथा मेरे सीने पर अपने दाहिने हाथ की मुष्टिका का प्रहार कर बैठा। इस बार मूर्च्छित होने की बारी मेरी थी।

कुम्भकर्ण ने अब अपना ध्यान कपिराज सुग्रीव की ओर लगाया। वह शीघ्रतापूवक हरीन्द्र की ओर बढ़ा ही था कि उसके परिध–प्रहार से आहत आञ्जनेय प्रकृतिस्थ होते ही उसका मार्ग रोक कर खड़े हो गये। अभी कुछ देर पूर्व आहत पवन पुत्र को पुनः सामने देख रावणानुज क्रोधित हो उठा। उसने पूर्णरूपेण काले लोहे से बने अपने भारी–भरकम शूल को वायुपुत्र पर दे मारा। उस घातक शूल को अपनी ओर आते देख अनिल–कुमार ने उछल कर उस शूल को बीच ही में पकड़ लिया तथा अपने पैरों के प्रहार से खण्ड–खण्ड कर दिया। शंकर–सुवन हनुमान के इस अद्‌भुत पराक्रम पर वानर सेना में ''जयहनुमान'' का हर्षनाद गूँज उठा। उधर क्रोधित राक्षस–प्रवीर–शीघ्रतापूर्वक महाराज सुग्रीव के निकट जा पहुँचा तथा एक हाथ में पकड़े शिला खण्ड को वानरेन्द्र पर दे मारा। मूर्च्छित कपिराज को कन्धे पर उठा कर वह लंका की ओर लौट पड़ा। लंका के मुख्य द्वार पर कुम्भकर्ण पर अभिषेक जल के छिड़काव से महाराज सुग्रीव की मूर्च्छा समाप्त हो गई। मूर्च्छा भंग होते ही वानरराज अपने तीक्ष्ण दाँतों तथा लम्बे नाखूनों से कुम्भकर्ण की नाक तथा कानों को क्षति पहुँचाने में सफल हुए। कुछ ही छलांगों में हरिगणों के अधीश्वर सकुशल अपनी सेना में वापस आ पहुँचे। रंग में भंग देख कुंभकर्ण पुनः समरांगण में लौट आया। रामानुज की बारम्बार चुनौती की चिन्ता किये बिना वह प्रभु श्री राम के समक्ष जा खड़ा हुआ।

दशरथनन्दन श्री राम की रक्षार्थ उनके आगे आ खड़े हुए गदाधारी विभीषण को देखते ही कुम्भकर्ण की मुखमुद्रा सहसा परिवर्तित हो उठी। अपने मुख पर कोमल भाव लाते हुए कुम्भकर्ण ने अपने समक्ष अभिवादन हेतु नतमस्तक अनुज विभीषण का अभिनन्दन करते हुए उनको राक्षस कुल का एक मात्र आधार बतलाया। विभीषण को आधार बताते हुए उसने अपने अनुज को सामने से हटाया तथा श्री राम पर निरन्तर प्रहार करने लगा। लक्ष्मणाग्रज ने प्रथमतः उसके प्रहारों को व्यर्थ कर ही सन्तोष लिया, किन्तु अपने सेनानियों की

व्यग्रता देख अन्ततः उनको उग्र होना ही पड़ा। अपने वायव्यास्त्र से सीतापति श्री राम ने उसकी दोनों भुजायें काट डालीं। भुजाओं के कट जाने पर रावणानुज ने वानर सैनिकों को अपने पैरों से कुचलना प्रारम्भ किया। विवश हो ज्येष्ठ राघव ने अर्द्धचन्द्र बाण का प्रयोग कर उसके दोनों पैरों को भी काट डाला। कुंभकर्ण की पीड़ा का अनुमान लगा लोकरंजक प्रभु श्री राम ने अभिमन्त्रित ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग कर उसके कुण्डल युक्त सिर को धड़ से अलग कर दिया। कुम्भकर्ण के मरते ही हा–हा करती राक्षस सेनायें रणभूमि से भाग खड़ी हुईं। प्रभु श्री राम ने कुम्भकर्ण में नैतिक गुणों का समावेश बताते हुए उसके शव को सम्मानपूर्वक लंका भिजवाया।

महाबली कुंभकर्ण के पतन के साथ ही लंका वासियों के आशा तथा विश्वास का अन्तिम कीर्तिस्तम्भ धराशायी हो गया। महारानी मन्दोदरी ने एक बार पुनः रावण को देवी सीता को लौटा श्री राघव से सन्धि करने लेने के लिए समझाने का असफल प्रयास किया। युद्ध के सातवें दिन हठी दशानन के आदेश पर रावण के पुत्रगण त्रिशिरा, देवान्तक, नरान्तक तथा अतिकाय एवं विमाता पुष्पोत्कटा के गर्भ से उत्पन्न सौतेले भाई महोदर ने अपने अनुज महापार्श्व के साथ रणभूमि में आधुनिकतम आयुधादि से सुसज्ज होकर आगमन किया। भयंकर युद्ध के उपरान्त रावणकुमार नरान्तक का प्राणान्त मेरे मुष्टि प्रहार से हुआ। कपिकुञ्जर हनुमान ने द्वन्द्वयुद्ध में देवान्तक को यमलोक पहुँचा दिया। वस्तुतः नरान्तक के वध से संतप्त रावण के पुत्रगण त्रिशिरा तथा देवान्तक ने अपने पितृव्य महोदर के साथ मिल कर मुझको घेर लिया था। मेरी रक्षा के लिए आये हनुमान जी ने देवान्तक के स्वर्णभूषित परिध को तोड़ अपने मुष्टि प्रहार से उसका मस्तक खण्डित कर दिया था।[5] रावण का विमाता–पुत्र महोदर अपने कृष्णवर्ण के पर्वताकार गजराज पर आरूढ़ होने के कारण दूर से ही दिखलाई पड़ रहा था। इस गजारूढ़ धनुर्धर तथा उसके गजराज का प्राणान्त सेनापति नील के हाथों हुआ।

देवान्तक के बध से कुपित रावण तनय त्रिशिरा अपनी चमचमाती तलवार को भाँजते हनुमानजी से जा टकराया। उसके नग्न खड्ग को छीन प्रचण्ड विक्रम हनुमान ने उसी खड्ग से त्रिशिरा का किरीट–कुण्डल–युक्त सिर काट गिराया। महावीर ऋषभ ने हनुमानजी द्वारा शत्रु के आयुध से ही शत्रुवध की नीति का अनुसरण महापार्श्व के विरुद्ध किया। दशानन के इस सौतेले भाई के गदाप्रहार से आहत् वानर–यूथप ऋषभ ने उसी गदा को छीन अत्यन्त वेग के साथ महापार्श्व के सिर पर दे मारा। पटके हुए तरबूज की भाँति कई टुकड़ों में विभक्त सिर वाले महापार्श्व का तत्काल प्राणान्त हो गया। त्रिशिरा, नरान्तक, देवान्तक नामक भाईयों तथा महोदर एवं महापार्श्व जैसे पितृव्यगण के वध से संतप्त रावणकुमार अतिकाय समरभूमि में अपने बाणों की वर्षा से वानरसेना का सामूहिक विनाश करने लगा। उसने किसी भी वानर–प्रवीर को अपने निकट आने का अवसर नहीं दिया। धन्यमालिनी कुमार अतिकाय द्वारा वानरसेनाओं का ध्वंस देख अपने आदरणीय अग्रज की अनुमति ले भैया लक्ष्मण ने मेरे कन्धों पर सवार हो अतिकाय पर बाण–वर्षा प्रारम्भ कर दिया। शरीर से स्थूलकाय होते हुए भी वह क्षिप्रयोधी तथा धनुर्वेद का कुशल ज्ञाता था। सौमित्र के बाण अतिकाय के अभेद्य कवच का भेदन नहीं कर पा रहे थे। अब भैया लक्ष्मण ने दिव्यास्त्रों का प्रयोग आवश्यक समझा। रामानुज के आग्नेयास्त्र का अतिकाय ने जब अपने आग्नेयास्त्र से निराकरण कर दिया तब उनसे नहीं रहा गया। भैया ने मंत्रपूरित ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर अतिकाय के सिर को धड़ से अलग कर दिया। अतिकाय के मरते ही अनाथ राक्षस सेनायें लंका की ओर भाग खड़ी हुईं। युद्ध का सातवाँ दिन राक्षसेनाओं की भयंकर पराजय के साथ समाप्त हुआ।

शोक–संतप्त पिता को सान्त्वना दे युद्ध के आठवें दिन इन्द्रजित ने स्वयं मोर्चा सम्भाला। माया–युद्ध का आश्रय ले वह अदृश्य हो गया तथा घातक दिव्यास्त्रों के प्रयोग से लगभग सम्पूर्ण

वानरी सेना को मोहग्रस्त कर दिया। अन्धेरे का लाभ उठा अपने ब्रह्मास्त्र से सानुज श्री राम तक को भी मूर्च्छित करने में वह सफल रहा। पकड़े जाने अथवा घायल होने के भय से वह राघव–बन्धुओं के निकट नहीं आया तथा दशरथकुमारों के बध की घोषणा के बीच अपना जयघोष कराता लंका लौट गया। राक्षसकुल का होने के कारण विभीषण तथा उनके सचिवों पर मेघनाथ के दिव्यास्त्रों का प्रभाव नहीं पड़ा। अपने सचिवों की सहायता से प्राथमिक उपचार कर विभीषण ऋक्षराज जाम्बवन्त, वायुपुत्र हनुमान, वानरराज सुग्रीव तथा मुझको चेतना प्रदान कराने में सफल हुए। हम सभी लोगों ने मूर्च्छित होने के पूर्व प्रभु श्री राम को अपने अनुज के साथ मूर्च्छित होते देखा था। महाराज सुग्रीव, मैंने तथा स्वयं हनुमान ने मूर्च्छा समाप्त होते ही सर्वप्रथम राघव बन्धुओं की कुशलता पूछी थी। किन्तु जैसा कि बाद में विभीषण ने हमें बताया था अपनी मोह–निद्रा से जगते ही ऋषराज ने विभीषण जी से पूछा था, ''वायुनन्दन हनुमान कैसे हैं?'' आश्चर्य विस्फारित नेत्रों से विभीषण जी को अपनी ओर ताकते देख जाम्बवान जी ने विभीषण से कहा था, ''हे राक्षराज विभीषण! मेरे प्रश्न पर आप किसी प्रकार की शंका न करें। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यदि महाप्राज्ञ हनुमान सुरक्षित है तो सम्पूर्ण वानरी सेना सुरक्षित है। यदि वायुनन्दन समरभूमि में सुरक्षित उपस्थित हैं तो हमारे पूज्य श्री राम तथा उनके प्रिय अनुज के अहित की कल्पना तक मैं नहीं कर सकता हूँ।'' ऋक्षपति इतना कहते–कहते भावुक हो उठे थे। कुछ पलों के पश्चात् हनुमान की ओर स्नेह–सिक्त आँखों से देखते हुए वह कह उठे, ''देवासुर संग्राम में देवताओं की सहायता तथा युगों–युगों से अर्जित अपने सम्पूर्ण 'संचित पुण्यकोश' की शपथ ले मैं यह यह कहीं भी घोषणा कर सकता हूँ कि अञ्जना के लाल तथा महादेव के अंश मेरे हनुमान के रहते हमारे स्वामी श्री राम तथा उनके प्राणप्रिय अनुज लक्ष्मण की कौन कहे उनके द्वारा संरक्षित कोटि–कोट वानरों के प्राण भी पूर्णतया सुरक्षित हैं।'' इतना कहते हुए ऋक्षराज ने आगे बढ़

हनुमान जी को गले लगा लिया था। हनुमान जी के प्रति ऋक्षपति के इस आत्मविश्वास पर कपिराज सुग्रीव सहित हम वानरों के नेत्र भी अश्रुपूरित हो उठे। ये आँसू गर्व के थे, पवनपुत्र के प्रति अनिर्बन्धित आत्मविश्वास के थे। हमारी इस प्रतिक्रिया पर वृद्ध वानरमुख्य केसरी का वक्षस्थल गर्व से फूल उठा था। अपने आनन्दाश्रु के वेग को रोकने में असफल वह सहसा उठ कर दूर हट गये थे। इतना होने पर भी हनुमान जी के मुखमण्डल पर किसी प्रकार के अहंकार की छाया तक नहीं दिखलाई पड़ी। उन्होंने दोनों हाथ जोड़ वानर श्रेष्ठ सुग्रीव, ऋक्षेश जाम्ववान तथा भिषगाचार्य सुषेण को प्रणाम करते हुए मात्र इतना ही कहा, ''सानुज प्रभु श्री राम तथा वानर–वीरों के शीघ्र उपचार के लिए मुझसे क्या अपेक्षा है?''

वैद्यराज सुषेण से विचार–विमर्श कर ऋक्षराज ने वानर शिरोमणि हनुमान जी को बताया कि नागाधिराज हिमालय के शिखर पर मृत्संजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा संधानी नामक औषधियों का प्राचुर्य्य है। अद्‌भुत, चमक वाली इन दिव्य औषधियों में चमत्कारिक गुण हैं। विशल्यकरणी जहाँ शरीर में धंसे हुए वाणों तथा अन्य आयुधों के ब्रणों को तत्काल उपचारित कर पीड़ा–हरण में सक्षम है, वहीं पर सुवर्णकरणी अथवा सावर्ण्यकरणी में शरीर को ब्रणरहित कर पूर्व की रूपकान्ति को लौटाने की अद्‌भुत क्षमता है। संजीवनी में जहाँ मूर्च्छित व्यक्ति को तत्काल चेतना प्रदान करने की शक्ति है, वहीं पर संधानी अंग–भंग का तत्काल निराकरण करने में सक्षम है। वायु के समान गति वाले पवनपुत्र द्वारा औषधि शिखर उखाड़ कर समय से वापसी पर वानर वीरों के तुमुलनाद एवं श्री राम–लक्षण के अपूर्व जयघोष से लंकावासियों में आतंक की लहर फैल गयी। औषधियों की सुगन्ध मात्र से श्री राम तथा भैया लक्ष्मण तत्काल स्वस्थ हो उठे। उनको स्वस्थ देख विभीषण ने आनन्दाश्रु बहाते हुए हनुमन्त को गले लगा लिया। गद–गद कंठ से वह इतना ही कह सके, ''सानुज प्रभु श्री राम को स्वस्थ कर आप ने इस विभीषण के प्राणों की रक्षा कर लिया है अञ्जनाकुमार!''

मेघनाद के बर्बर माया–युद्ध का समुचित उत्तर देने के लिए प्रभु श्री राम की आज्ञा से प्रातः काल आकस्मिक आक्रमण कर लंका के दुर्ग में प्रवेश कर उसके दहन का निर्णय लिया गया। इस आक्रमण का उद्देश्य स्पष्ट रूप से राक्षसों को यह अवगत कराना था कि वानरों का प्रतिशोध कितना घातक एवं दुष्प्रभावी होता है। युद्ध के नवें दिन सूर्योदय के साथ ही वानरों के विभिन्न यूथों ने अपने–अपने नायकों थवा यूथपों के नेतृत्व में लंका के दुर्गों के द्वारों की सुरक्षा के भेदते हुए लंका में प्रवेश कर लिया। उनके हाथों की बुझी मशालों का उद्देश्य जब तक राक्षसों का पता चलता सम्पूर्ण लंका नगरी धू–धू कर जल उठी। वानरों के आक्रमण के प्रमुख लक्ष्य राजकीय गजशालायें, अश्वशालायें, भाण्डार गृह, पशुओं के चारागृह बने। युद्ध गजों तथा अश्वों को जीवित बँचाने के लिए पीलवानों, अश्वसादों ने उनको बन्धनमुक्त कर दिया। आग की लपटों से बचने के लिए गज, अश्व, ऊँट, गर्दभ, बकरियाँ, गाय तथा अन्य पशु बन्धन तोड़ इधर–उधर भाग निकले। अनेक राक्षस तथा उनके परिजन जो प्राण बचाने के लिए खुले स्थानों में भाग आये थे कुचल कर मारे गये। भाण्डार गृहों में सुरक्षित अन्न, पशुओं का चारा, खाद्य सामग्रियाँ आदि धू–धू कर जल उठीं। जब तक राक्षस योद्धा वानरों से भिड़ने पहुँचते वानरी सेनायें लंका का दहन कर मशालें बुझा सुरक्षित वापिस लौट चुकी थीं।

लंका दहन कर लौटते वानर वीरों का पीछा करती राक्षस सेनाओं के दुर्ग से बाहर निकलते ही पूर्वयोजनानुसार नई वानर सेनाओं ने आक्रमणकारी राक्षसी सेनाओं को घेर लिया। शीघ्र ही दोनों पक्षों के मध्य तुमुल युद्ध होने लगा। मेरी पहली मुठभेड़ गदायोधी कम्पन से हुई। उसके गदा–प्रहार से एक क्षण के लिए मुझको मूर्च्छा आ गई। पृथ्वी से उठते ही मैंने हाथ में उठाई शिला को उसके सिर पर दे मारा कम्पन का सिर कई टुकड़ों में विभक्त हो गया। इस प्रहार ने उसका प्राणान्त कर दिया था। कम्पन को मरता

देख रथारुढ़ राक्षस सेनानी शोणिताक्ष मुझ पर अपने धनुष से क्षुर (छुरी के समान अग्रभाग वाले), क्षुरप्र (अर्द्धचन्द्राकार) नाराच (लौ निर्मित), वत्सदन्त (बछड़े के समान दांतो वाला) शिलीमुख (बगुले की भाँति चोच वाला) आदि बाणों की वर्षा करता मुझ पर चढ़ आया। मुझको थका हुआ जान वह अपने रथ से नंगी तलवार लिए मुझ पर कूद पड़ा। मैंने दूसरे क्षण उसकी तलवार को छीन उसके एक प्रहार से उसके शरीर को इस प्रकार चीर दिया मानों उसने यज्ञोपवीत पहिन रखा हो। उसके कवच ने तलवार की मारक क्षमता का निरोध कर उसके प्राणों की रक्षा कर ली। इसी बीच राक्षस–नायक प्रजंघ तथा यूथप वहाँ आ धमके। एक साथ तीन–तीन राक्षस नायकों से मुझको अकेले जूझते देख मेरे मातुल तथा श्वसुर वानरप्रवीर मैन्द तथा महाबली मातुल द्विविद से नहीं रहा गया। उनके वहाँ पहुँचते ही युद्ध का पलड़ा सहसा हमारे पक्ष में झुक गया। मुझसे द्वन्द्वयुद्ध कर रहे प्रजंघ का शिर मेरे एक ही मुष्टि–प्रहार से उसके धड़ से पृथक हो धरती पर जा गिरा। प्रजंघ, शोणिताक्ष तथ यूपाक्ष नामक दोनों भाईयों का सगा चाचा था। उसको मरते देख एक बार पुनः यूपाक्ष तथा शोणिताक्ष ने मुझ पर धावा किया किन्तु उनको मातुल द्वय ने बल पूर्वक रोक लिया। मल्लयुद्ध विशेषज्ञ भातुल द्विविद ने शोणिताक्ष को धरती पर पटक कर धरती से उसके सिर का बार–बार रगड़ रगड़ अन्ततः मार डाला। अपने अनुज के पराक्रम से उत्साहित वानर महावीर मैन्द ने यूपाक्ष को अपनी बलिष्ट भुाजाओं के बन्धन से पीसकर मार डाला।[6] तीनों राक्षस नायकों के वध से आतंकित राक्षसों को रोकते हुए कुंभगर्ण–पुत्र कुम्भ ने अपनी बाण–वर्षा से द्विविद को व्यथित करना प्रारम्भ कर दिया। अपने अनुज की रक्षार्थ आगे बढ़े वानरो के पूर्व सेनापति मैन्द भी कुंभ के घातक बाणों का लक्ष्य बन गये। यह देख मैं स्वयं उससे भिड़ने आगे बढ़ आया। निरन्तर युद्ध में क्लान्त होने के कारण मैं बहुत देर तक कुम्भ के बाणों का अनवरत प्रहार झेल नहीं पाया। वानर वीरों के समरभूमि में मेरे मुर्च्छित होने का समाचार प्रभु श्री राम तक जा पहुँचा। चिन्तित कोसलेश ने इस

सूचना को अत्यन्त गम्भीरता से लिया। उनकी आज्ञा पा चारों दिशाओं से वानर वीर मेरे रक्षार्थ दौड़ पड़े। ऋक्षपति जाम्ववान, नाना सुषेण तथा परवीर वेगदर्शी ने एक साथ कुम्भकर्णपुत्र पर आक्रमण कर दिया।[7] मेरे आहत होने का समाचार सुन पितृव्य सुग्रीव से नहीं रहा गया वह स्वयं ही कुंभ से जूझने उसके समक्ष जा खड़े हुए। दुस्साहसप्रिय पितृव्य ने कुंभ के बाणों के प्रहार को झेलते हुए उसको उसके रथ पर जा पकड़ा। कुम्भकर्ण के ज्येष्ठपुत्र निकुम्भ के बड़े भाई क्रूरकर्मा कुम्भ के शौर्य एवं पराक्रम की प्रशंसा करते हुए वानराधिपति ने उसको द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारा। परस्पर द्वन्द्वयुद्ध में रत दोनों महावीर धरती पर लड़ते–लड़ते समुद्रतट पर जा पहुँचे। पितृव्य यदि उसको समुद्र में फेंकने में सफल हुए तो कुम्भ कपिराज का कवच खण्डित करने में। अन्ततः अनुभव, यौवन पर भारी पड़ा। मुक्कों के निरन्तर प्रहार से चाचा श्री कुम्भ को यमलोक भेजने में सफल हुए।[8] कुंभ के मरते ही राक्षस सेनाओं में भगदड़ मच गई। अपने भक्तों पर श्री राम की कृपालुता के पग–पग पर मिलते उदाहरणों में इस घटना ने एक और अध्याय जोड़ दिया। साथ ही मेरे प्रति पितृव्य की परिवर्तित मानसिकता एक पुष्ठ प्रयाण भी इस घटना ने मेरे मानस पटल पर अंकित कर दिया।

अपने अग्रज के बध से संतप्त निकुम्भ आञ्जनेय से टकराने की आत्मघाती भूल कर बैठा। अब तक का महासमर इस बात का साक्षी बन चुका था कि जब केसरी कुमार क्रोधित हो उठते हैं तो मानों उनके रोष का ज्वालामुखी बड़ों–बड़ों को निगल जाता है। ऐसी स्थिति में उनसे टकरा निकुम्भ यम–सदन जा पहुँचा। कुंभकर्ण के दोनों पुत्रों की किञ्चित् अन्तराल के साथ हुई मृत्यु से शोकार्त्त दशानन ने अपने भतीजे खर–पुत्र मकराक्ष को समर भूमि में भेजा। अपने पिता खर तथा चाचा दूषण की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए रथारुढ़ मायावी मकराक्ष प्रभु श्री राम के समक्ष पहुँच कर उनको ललकारने लगा। ज्येष्ठ दशरथनन्दन ने मकराक्ष की बाण–वर्षा को व्यर्थ करते हुए अपने आग्नेयास्त्र से उसके किरीट–कुण्डलधारी सिर

को उसके धड़ से पृथक् कर दिया।

वानर–सेना मकराक्ष के बध का आनन्द बहुत देर तक नहीं मना सकी। वानर वीरों ने विस्फरित नेत्रों से देखा कि मेघनाद ने 'हाराम'' का करुणक्रन्दन करती देवी सीता का केशकर्षण कर रखा था। मुझको मानों साँप सूंघ गया। हनुमान जैसे दृढ़चित्त एवं 'स्थितप्रज्ञ' व्यक्ति भी यह देख अपना आँसू नहीं रोक पाये। ''समस्त विवादों की जड़ तथा राक्षसों के विनाश का कारण बन रही इस सीता का बध कर आज सम्पूर्ण बखेड़े का अन्त कर देता हूँ।'' विलाप करती वैदेही के रुदन की चिन्ता किये बिना उसने हमारे देखते–देखते अपने तलवार के एक ही प्रहार से सीता मैया का शिरोच्छेद कर डाला। जनकनन्दिनी के कटे हुए सिर तथा धड़ को रथ पर लाद हर्षनाद करता इन्द्रजित शीघ्रता पूर्वक लंका लौट गया।

हा–हा करते, रोते–चिल्लाते वानरों द्वारा अपनी प्राणप्रिया के वध का समाचार सुनते ही प्रभु श्री राम शोक–विह्वल हो उठे। पुनरपि उन्होंने निकट आते वायुपुत्र की प्रतीक्षा किया। शोकाकुल हनुमान से मलिनवसना दीन अवस्था में पड़ी जनककिशोरी की इन्द्रजित द्वारा हत्या का समाचार सुनते ही रघुननदन शोक–मूर्च्छित हो उठे। प्रभु श्री की मूच्छा की सूचना पर समस्त कपि–यूथप तत्काल वहाँ पहुँच गये। ज्येष्ठ राघव पर उनके द्वारा सुगन्धित कमल तथा उत्पल मिश्रित जल (प्रद्मोत्पलसुगन्धिभिः) का छिड़काव किया गया। वहाँ उपस्थित हम लोगों ने पहली बार सौमित्र का नया रूप देखा। अपने अग्रज के समक्ष यथासंभव कम बोलने वाले शेषावतार श्री लक्ष्मण सहसा मानो वयोवृद्ध हो उठे। शोक से विलखते अपने अग्रज को अपनी भुजाओं में बाँध श्री लक्ष्मण उनको नीति, धर्म, धैर्य एवं साहस का उपदेश देने लगे। बड़े भाई के आँसुओं को अपने उत्तरीय से पोंछते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला, ''हे महावीर! मेघनाद ने आज हम लोगों को जो कष्ट दिया है, उसका प्रतिशोध मैं लंका के सर्वनाश के द्वारा लूँगा। आप चिन्ता छोड़िए। नरश्रेष्ठ! आप

उत्तम व्रत का पालन करने वाले, परम बुद्धिमान्, साक्षात् परमात्मा हैं। आप अपने आत्मरूप को क्यों नहीं समझ पा रहे हैं? .....आप शोक छोड़ पुरुषार्थ में अपना चित्त लगावें'' अन्ततः उन्होंने यह प्रतिज्ञा किया कि यदि उनके अग्रज की आज्ञा हो तो आज ही वह राक्षसराज रावण सहित सम्पूर्ण लंका को धूल में मिला देगें।[9]

अन्ततः एक बार पुनः विभीषण, प्रभु श्री राम तथा हम वानर वीरों का शोक–हरण में सफल हुए। घटना के समय वह अपने साथियों सहित अन्यत्र युद्धरत थे। उन्होंने श्री दशरथनन्दन को समझाया कि सीतावध की तथा कथित घटना इन्द्रजित के मायायुद्ध का एक अंश मात्र है। उन्होने हमें समझाया कि मेघनाद ने जिस यज्ञ का आयोजन किया है सफलता पूर्वक उसकी समाप्ति, रावणपुत्र की सामरिक शक्ति तथा उसके मनोबल को बढ़ाने वाली होगी। रावण के सबसे छोटे अनुज ने प्रभु श्री राम को स्पष्ट रूप से बताया कि दुराग्रही दशग्रीव ने जिस देवी सीता के लिए लंका की लगभग सम्पूर्ण सामरिक–संसाधनिक स्थिति को दॉव पर लगा दिया है, जिसने विदेह कुमारी को लौटाने की सलाह पर मेरा तथा पूज्य नाना माल्यवान्, कुंभकर्ण, राजरानी मन्दोदरी तक का अपमान किया हो, वह किसी को भी उनके वध की अनुमति कदापि नहीं देगा। विभीषण ने निकुंभिला मंदिर में साधनारत मेघनाद के वध में विलम्ब को भविष्य के लिए घातक बताते हुए श्री रामानुज को उस पर तत्काल आक्रमण की सलाह दिया। रावणानुज के अनुसार मेघनाद ने राघवेन्द्र सहित सम्पूर्ण वानर सेना का ध्यान अपने यज्ञ की ओर न जाने देने के उद्देश्य से ही देवी सीता के कपट वध का नाटक किया था।

अपने आदरणीय अग्रज की अनुमति से यशस्वी सौमित्र ने विशाल वानर–वाहिनी के साथ निकुम्भिला मन्दिर की ओर प्रस्थान किया। श्री रामभक्त विभीषण हमारे मार्ग दर्शक बने। प्रभु के निर्देश के अनुसरण में पवनपुत्र हमारे साथ थे। आवश्यकता पड़ने पर अपने कन्धों पर भैया श्री लक्ष्मण को आरूढ़ कराने के लिए मैं उनके निकट

रहा। निकुम्भिला के निकट पहुँचते ही हमने राक्षसी सेना को मेघनाद की सुरक्षा में सन्नद्ध पाया। वायुनन्दन द्वारा बार–बार दी गई मल्लयुद्ध की चुनौती को अस्वीकार करता रावणपुत्र निकुम्भिला मन्दिर के बाहर नहीं निकला। रावणपुत्र का यह व्यवहार देख विभीषण जी ने रामानुज को तत्काल हस्तक्षेप के लिए उकसाया। इसी समय वानरराज सुग्रीव द्वारा ऋक्षपति जाम्बवन्त जी के नेतृत्व में भेजी गई सुविशाल वानर सेना ने राक्षसी सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया। राक्षसों में भगदड़ सी मच गई। रामानुज की ललकार पर विवश मेघनाद उनसे लड़ने को रथारूढ़ हो आया किन्तु तभी उसकी दृष्टि अपने चाचा विभीक्षण पर पड़ी। कुछ समय तक दोनों में वाक्युद्ध चला। अन्ततः रावणपुत्र तथा रामानुज परस्पर युद्धरत हो ही गये। मेरे मना करने पर भी हनुमान जी ने अपनी उपस्थिति में मुझ युवराज को इस कार्य से विरत करते हुए भैया लक्ष्मण को अपने विशाल कन्धों पर आरूढ़ करा लिया था।

श्री रामानुज इस बार मायावी मेघनाद को कपटयुद्ध अथवा माया–प्रयोग का कोई अवसर नहीं देना चाहते थे। वह इस मायावी के हाथों दो–दो बार मूर्च्छित होने की घटनाओं का स्मरण कर इस बार नितान्त सजग एवं पूर्णरूपेण सन्नद्ध थे। रावणानुज विभीषण अपने अमात्यों, ऋक्षपति जाम्ववान तथा हम वानर वीरों द्वारा राक्षसी सेना का अनवरत संहार कर सुमित्राकुमार में नई स्फूर्ति, नई ऊर्जा तथा निरन्तर बर्धमान उत्साह भर रहे थे। उनके ''भल्ल'' नामक बाण से सारथि का वध हो जाने पर लंका के प्रशिक्षित रथाश्व खड़े हो गये। चतुर्दिक प्रहारों से विवश मेघनाद एक साथ रामानुज, विभीषण, हम वानर वीरों पर बाण चला रहा था। न चाहते हुए भी इससे उसका ध्यान बंट रहा था, एकाग्रता भंग हो रही थी। इसका पूरा लाभ हम उठा रहे थे। शोभा–सम्पन्न वीरवर् लक्ष्मण ने अन्ततः अपने अमोघ ऐन्द्रास्त्र को अभिमंत्रित कर इन्द्रजित पर सन्धानित कर दिया। इस प्रकार इन्द्र पर विजय प्राप्त कर इन्द्रजित् नाम को सार्थक करने वाले रावणपुत्र का शिरस्त्राण कुण्डल युक्त मस्तक

ऐन्द्रास्त्र के प्रहार से तत्क्षण भू–लुण्ठित हो उठा। मायावी की माया, उसका अभेद्य कवच तथा दुर्जय धनुष उसकी रक्षा न कर सके। सम्पूर्ण राक्षसी सेना 'हा युवराज।'' ''हा। इन्द्रजित्'' की चीत्कार करती भाग खड़ी हुई। वैद्याचार्य सुषेण जी के सामयिक उपचार से घायल श्री रामानुज, ऋक्षराज, वानर–यूथप, विभीषणादि योद्धा गण ब्रणरहित एवं स्वस्थ हो उठे।

वानरेन्द्र सुग्रीव, राक्षसशिरोमणि विभीषण, वायुपुत्र हनुमान, मुझ युवराज अंगद, सेनापति नील, मातुलद्वय मैन्द एवं द्विविद तथा विभीषण जी के सचिवों तथा वानर वीरों के द्वारा अतुलपराक्रम श्री लक्ष्मण के जयघोष से वायुमण्डल प्रकम्पित हो उठा। विनयशील रामानुज ने करबद्ध हो जयनाद को बन्द करवाया। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा ''यह मात्र मेरी विजय नहीं है। यह सत्य प्रतिज्ञ श्री राम के धर्मबल, विभीषण जी तथा जाम्बवन्त जी के बुद्धिबल, पवनपुत्र हनुमान, बालिकुमार अंगद तथा महापराक्रमी वानरराज सुग्रीव तथा अन्य वानर वीरों के अप्रतिम सैन्य बल की विजय है।'' अपने शिविर की ओर आते अनुज को देखते ही प्रभु श्री राम ने दौड़ कर उनको अपनी भुजाओं में बांध लिया था। देर तक प्रभु श्री राम अपने अनुज के सिर तथा शरीर पर अपने हाथ फिराते रहे थे।

शोक एवं निराशा का संवेग मनुष्य के विवेक को उदरस्थ कर लेता है। ऐसा व्यक्ति हत्या अथवा आत्महत्या तक कर लेता है। रावण अब तक अपने सभी पुत्रों तथा परिजनों का वध करा चुका था। अब उसकी आशा का एक मात्र आधार इन्द्रजित भी कालकवलित हो चुका था। इस आधार–स्तम्भ के ढहते ही उसने युद्ध में विजय की रही सही आशा भी छोड़ दिया। लंका में चतुर्दिक आर्तनाद एवं विलाप के स्वर गूँज रहे थे। स्यात् ही कोई ऐसा घर बँचा था जिसका एकाधिक सदस्य युद्ध में काम न आया हो। अब तक लंका के घर–घर में यह बात प्रचारित हो चुकी थी कि रावण के आदेश पर रणक्षेत्र में मारे गये राक्षसों के शवों को समुद्र में फेंक दिया जाता है

ताकि लंका में आतंक न फैले और राक्षस परिवारों में मृतक राक्षसों के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति फैलाई जा सके कि उनके परिजन युद्ध भूमि से, पलायन कर चुके है अथवा वानरों के बन्दी है। अब लंकावासी रावण की इस चाल से परिचित हो चुके थे। वह यह जान चुके थे कि उनके परिजन वस्तुतः कालकवलित हो चुके हैं तथा यह तथ्य जान बूझ कर उनसे छिपाया जा रहा है। घर की महिलाओं, बूढ़ों, यहाँ तक बच्चों तक के मन में रावण के प्रति घृणा का ज्वार हिलोरें लेने लगा था। प्रारम्भ में जिन लोगों ने विभीषण को कुलद्रोही माना था वे ही अब उसके प्रशंसक बनने लगे थे। वानर वीरों ने लंका की महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों तथा निरपराध नागरिकों के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया था। इसका श्रेय लंका में, प्रभु श्री राम के शरणागत रावणानुज विभीषण को दिया जाने लगा। राक्षसकुल को समूलोच्छेदन से बचाने का श्रेय मिलने से राक्षस–प्रजा में विभीषण की छवि लंका तथा राक्षों के रक्षक के रूप में स्थापित होने लगी थी।

पुत्र–वियोग से व्यथित रावण–रुदन–विलाप के समय राक्षसों के मुख से यह सुनकर कि इन्द्रजित द्वारा माया की सीता के वध का स्मरण कर कुपित लक्ष्मण ने उसके युवराज का वध किया था, क्रोधोन्मत्त हो उठा। क्रोध से दाँतों को किटकिटाता अश्रुपात करता वह हाथ में नंगी तलवार ले मिथिलेश कुमारी के पास जा पहुँचा। रावण के अमात्य सुपार्श्व ने राक्षसेश्वर के गत गौरव तथा हित का चिन्तन कर उसको देवी सीता का वध करने से विरत किया। सुपार्श्व ही ने उसके यश के अनुरूप त्रैलोक्य विजयी रावण को श्री राम के विरुद्ध अन्तिम युद्ध के लिए सुसज्ज करने के लिए सहमत किया।

कृष्णापक्ष की चतुर्दशी को युद्ध के दसवें दिन रावण ने अपने सौतेले भाई महापार्श्व अथवा मत्त, अपेन पुत्र महोदर तथा नाना माल्यवान के पुत्र और अपने सेनापति एवं मातुल विरुपाक्ष के साथ समरांगण में आगमन किया। रावण आज अपने जीवन के अन्तिम युद्ध के लिए तत्पर लंका के दुर्ग से बाहर निकला था।

कृष्णापक्ष की अमावस्या की तिथि रावण के जीवन में सर्वत्र अन्धकार के पूर्वाभास के साथ आई। रण–प्रयाण के समय हो रहे अपशकुनों की चिन्ता किये बिना वह ''करो या मरो'' की भावना के साथ लंका से बाहर निकला था। उसके स्वर्णरत्नखचित रथ एवं अश्वों के पीछे विरूपाक्ष, महोदर तथा महापार्श्वा भी अपने–अपने सुसज्ज रथों पर आरूढ़ हो कर निकलें। उसके आक्रमण की गहनता देख वानर राज सुग्रीव ने भी नाना सुषेण को वानरों की रक्षा का भार सौंप रावण का सामना करने का निर्णय लिया। राजा सुग्रीव को सामने देख राक्षस सेनापति रावण–मातुल, विरुपाक्ष जो रावण के बँचे हुए सेनानियों में सर्वाधिक अनुभवी योद्धा था, हाथ में धनुष लिए हुए अपने रथ से कूद गजराज पर आरूढ़ हो अपना नाम पुकारता हुआ वह कपिराज पर चढ़ दौड़ा। विरुपाक्ष के बाणों से आहत हरिराज ने मन ही मन राक्षस–सेनानी के वध का निर्णय लिया। उनके भीषण बृक्ष–प्रहार से विरुपाक्ष का हाथी एक धनुष पीछे हट जमीन पर पसर गया तथा पीड़ा से आर्त्तनाद करने लगा। गजारूढ़ विरुपाक्ष हाथ में तलवार लिए भूमि पर कूदा तथा असि, धारण किये हरीन्द्र पर प्रहारार्थ दौड़ पड़ा। उसके असिप्रहार से वानराधीश मूर्च्छित हो धराशायी हो गये। तलवार के प्रहार से उनक कवच कट कर गिर गया था। कवचरहित महाराज सुग्रीव पर पुनः प्रहार को उद्यत विरुपाक्ष आगे बढ़ा ही था कि विगत मूर्च्छा वानरेश उछल कर खड़े हो गये। कुछ समय के मल्लयुद्ध के पश्चात् सूर्यपुत्र विरुपाक्ष को थप्पड़ों तथा मुक्कों के प्रहार से मार गिराने में सफल हुए। पितृव्य के इन वज्र–प्रहारों से बाहर निकल आई आँखों वाला विरुपाक्ष वास्तव में 'विरुपाक्ष' (कुरूप नेत्रों वाला) हो गया था। सेनानी विरुपाक्ष के वध से कोपाकुल रावण ने अपने सर्वनाश की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ा दिया। अपने एक मात्र बचे पुत्र महोदर को उसने विजयी सुग्रीव से भिड़ा दिया। विरुपाक्ष के वध ने वानराधीश में नया उत्साह भर दिया था। इस स्थिति में दोनों परस्पर आमने–सामने आ डटे। वानरपति के हाथों में परिध था तो रावण–पुत्र के हाथ में गदा।

पितृव्य के परिध–प्रहार से राक्षस सेनानी की गदा उसके हाथों से छिटक कर गिर पड़ी तथा गदा से टकरा परिध के भी दो टुकड़े हो गये। अब हरीश्वर ने जमीन पर पड़े भयंकर मूसल को उठा लिया तो महोदर ने पास गिरी अपनी गदा को। परस्पर आघात से गदा और मूसल दोनों टूट गये। कुछ काल तक बाहुयुद्ध के पश्चात् दोनों खड्ग–युद्ध में लग गये। पितृव्य के कवच में फँसी अपनी तलवार को दोनों हाथों से खींच कर निकालने के प्रयास की क्षणिक भूल महोदर के लिए प्राणान्तक बनी। कपिकुञ्जर के खड्ग के भयंकर प्रहार से रावणपुत्र का कुण्डल शिरस्त्राण धारी सिर कट कर दूर जा गिरा। वानरराज के जयनाद तथा राक्षसों के हा–हा कार के मिश्रित स्वर से रणभूमि कोलाहलयुक्त हो उठी।

पितृव्य के पराक्रम ने वानर सेना में आतंक मचाने वाले रावण के विमातापुत्र महापार्श्व से लड़ रहे मुझ में नई ऊर्जा का समावेश कर दिया। सूर्य की भाँति दीप्त विशाल लौह–परिधि हाथ में लिए महापार्श्व की बाण–वर्षा को झेलता मैं दौड़ता हुआ उसके रथ के निकट जा पहुँचा। परिध के एक ही प्रहार से रथारूढ़ महापार्श्व अपने सारथि सहित धरती पर जा गिरा। उसी समय वहाँ ''नीलाञ्जनचयोपम'' (कोयले के समान काले रंग के) ऋक्षराज जाम्बवान जीआ पहुँचे। हाथों में उठाये एक भारी शिला के प्रहार से उन्होंने उसके रथाश्वों तथा रथ को चूर–चूर कर दिया। उधर कुछ घड़ी उपरान्त संज्ञा–प्राप्त महापार्श्व ने अपने भयंकर नाराच–प्रहार से ऋक्षपति जाम्बवन्त जी तथा रीछों के राजा गवाक्ष को मूर्च्छित कर दिया। इस घटना से कोपाकुल मैंने घूमा कर फेंकी गई परिघ के प्रहार से राक्षस सेनानी के धनुष तथा शिरस्त्राण को धरती पर गिरा देने में सफलता प्राप्त किया। महापार्श्व के परशु–प्रहार को व्यर्थ करते हुए मैंने उसके हृत्देश पर अत्यन्त वेग के साथ मुष्टि प्रहार किया। मेरे इस प्रहार से राक्षस का हृदय विदीर्ण हो गया तथा कटे हुए वृक्ष की भाँति घहराकर वह धरती पर जा गिरा। विश्रवा के इस पुत्र के मरते ही उसकी सेना समरभूमि से भाग निकली।

सहयोगी वीरों के पतन के पश्चात् एकाकी महायोद्धा रावण के पास अन्तिम युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया। अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी से युद्ध के निमित्त वह आगे बढ़ा ही था कि रामानुज श्री लक्ष्मण तथा राक्षस श्रेष्ठ विभीषण उसका मार्ग रोक खड़े हो गये। अपने पंखयुक्त बाण से सारथि का वध कर सुमित्रातनय ने क्षुरप्र प्रहार से रावण के रथध्वज को काट कर गिरा दिया। क्रोधान्ध रावण ने आगे बढ़ते ही देखा कि उसका अनुज विभीषण अपने सचिवों सहित रामानुज के बगल में खड़ा हो राक्षसों पर निरन्तर प्रहार कर रहा है। राक्षासाधिपति ने अपने अनुज पर शक्ति प्रहार किया जिसको कनिष्ठ दशरथनन्दन ने मार्ग में ही रोक दिया। अपनी शक्ति को खण्डित देख रोष–संतप्त रावण ने मंत्रपूरित दिव्यशक्ति अपने हाथों में लिया तथा विभीषण पर प्रहार कर दिया। विभीषण के प्राणान्त को अवश्यम्भावी जान मित्र–वत्सल सौमित्र ने उक्त अमोघ शक्ति को अपने वक्षस्थल पर रोक लिया। अमोघ कवच के कारण कोसलकुमार का हृदय विदीर्ण होने से बँच अवश्य गया किन्तु उसके दुष्प्रभाव से वह स्वयं को नहीं बँचा सके तथा मूर्च्छित हो धरती पर गिर पड़े। कवच को भेदती शक्ति ने हृदय विदीर्ण भले न किया हो वह उनको गम्भीर रूप से घायल करने में सफल अवश्य हुई थी। अनुज को मूर्च्छित देख भ्रातृस्नेह के कारण प्रभु श्री राम अत्यन्त व्यथित हो उठे। उनकी घातक–बाण–वर्षा को रोकने में विफल रावण ने समरभूमि से पलायन में ही अपना भला समझा। उसका सारथि मारा जा चुका था रथाश्वों के मरते ही रथ भी खण्डित हो चुका था। वह पैदल ही वापस भागा।

वानर वीरों के लिए समरभूमि से रावण का पलायन एक विस्मयकारी घटना थी किन्तु रामानुज की मूर्च्छा तथा प्रभु श्री राम की आकुलता ने उनको हर्षनाद करने से विरत कर दिया था। पवनात्मज द्वारा महोदय पर्वत से लाई गई औषधियों ने अपना चमत्कार दिखलाया। श्री लक्ष्मण मूर्च्छारहित हो उठ बैठे। वानर सेना हर्ष से अभिभूत हो उठी। रावण के अकल्पनीय पलायन के समाचार

से लंका की भयभीत प्रजा वानरों के हर्षनाद से और अधिक भयभीत हो उठी। जिस लंकेश को देखते ही लंका वासी अनायास जयनाद कर उठते थे, पलायित रावण को देख उसी प्रजा ने आज प्राण–दण्ड की चिन्ता किये बिना उसके समक्ष अपना मुँह फेर लिया था असीम घृणा से।

मूर्च्छित श्री लक्ष्मण ने चैतन्य होते ही अपने अग्रज को उसी दिन सूर्यास्त के पूर्व रावण के वध के लिए बार–बार प्रोत्साहित किया। हम वानरों ने रघुनन्दन श्री राम को पहली बार इतना अधिक कुपित देखा। वह तत्काल लंका पर चढ़ाई को व्यग्र हो उठे। उसी बीच अपनी ग्लानि जनक पराजय से दुःखी रावण अपने प्रति लंकावासियों का अवज्ञापूर्ण व्यवहार सहन न कर एक दूसरे रथ पर सवार समरभूमि में वापस लौट आया। वह यह भूल गया कि इस बार परमोदार रघुबर के स्थान पर महा–योद्धा रघवेन्द्र उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जनस्थान से एकाकी तथा अरक्षित नारी का अपहरण करने वाले रावण की कटु भर्त्सना करते हुए रघुबीर ने रावण के बाण–प्रहारों को व्यर्थ करते हुए अपने सायकों के प्रहार से उसको बींध डाला। मूर्च्छित रावण को रथ के पृष्ट भाग में पसरा देख सारथि रथ को युद्ध भूमि से बाहर भगा ले गया। प्राथमिक उपचार से मूर्च्छावस्था के समाप्त होने पर पहिले तो रावण अपने सारथि पर बिगड़ा किन्तु तदूपरान्त उसकी प्रशंसा करता पुनः युद्धभूमि में लौट आया। इस बार की वापसी को उसके जीवन की अन्तिम भूल प्रमाणित होनी थी।

रावण को पुनः अपने सामने देख रघुकुलतिलक श्री राम को रोष के साथ किञ्चित् खिन्नता की अनुभूति हुई। ताड़का–सुबाहु को एक–एक प्रहार से मार गिराने तथा खर, दूषण एवं त्रिशिरा का चौदहसहस्र योद्धाओं सहित एकाकी वध करने वाला उनका पराक्रम क्या रावण के समक्ष कुण्ठित हो गया है? सहसा उनको महामुनि अगस्त्य द्वारा सिखलाये गये ''आदित्य–हृदय'' स्तोत्र का स्मरण हो आया। मुनिवर ने उनको समझाया था कि रघुवंशियों के कुलदेवता

श्री सूर्यदेव का स्मरण सर्वसिद्धिदायक है। समर–भूमि में खड़े–खड़े ही उन्होंने सूर्य देव को प्रणाम किया तथा मन ही मन 'आदित्य हृदय स्तोत्र' का त्रि–आवृत्ति–पाठ प्रारम्भ कर दिया। ज्यों ही पाठ पूरा हुआ श्री राम के मन तथा शरीर में नई ऊर्जा, नया उत्साह, नई स्फूर्ति का समावेश होता प्रतीत हुआ। अब श्री राम तथा रावण का महासंग्राम प्रारम्भ हुआ। उनके निकट खड़े भैया लक्ष्मण वीरवर् हनुमान् तथा मैं उनके द्वरा माँगे गये शस्त्रास्त्र उनको उपलब्ध कराते रहे। हमने लक्ष्य किया कि रघुकुलभूषण दिव्यास्त्रों का प्रयोग मात्र रावण के दिव्यास्त्रों को व्यर्थ करने के लिए कर रहे थे। हमने यह भी लक्ष्य किया कि तपस्वी श्री राम के समक्ष विलासप्रिय, आचरणहीन तथा स्त्री–लोभी रावण धीरे–धीरे शिथिल पड़ता जा रहा था पुनरपि दिव्यास्त्रों के अपरिमित भण्डार के कारण वह अब तक रणक्षेत्र में टिका हुआ था।

कई प्रहर तक रक्षात्मक युद्ध कर रावण को थका देने वाले श्री राम ने हमारी समवेत ललकार पर रावण–वध के संकल्प के साथ महर्षि अगस्त्य द्वारा प्रदत्त सूर्य के समान जाज्वलमान, सुवर्णभूषित, पंखयुक्त ब्रह्मास्त्र को अपने धनुष पर रख लिया। वज्र के समान दुर्द्धर्ष तथा कृतान्त (यमराज–मृत्यु से) के समान अमोघ उस ''परमास्त्र'' को धनुष पर रखते ही आकाश में बिजली चमक उठी। पुरुषोत्तम के शरासन से मुक्त वह महास्त्र लोकण्टक रावण के हृत्स्थल को विदीर्ण करता हुआ रावण के प्राणों के साथ ही धरती में समा गया। कुछ क्षण के उपरान्त धरती की गोद से बाहर निकला वह पवित्र एवं रक्तहीन दिव्यास्त्र एक विनीत सेवक की भाँति पुनः श्री राम के तूणीर में वापस आ शान्त हो गया। बाण के वेग से उड़ता हुआ दुरात्मा दशानन का शव रथ से उछल कर दूर धरती पर जा गिरा। अत्याचार, अन्याय, अधर्म, अनीति एवं लोक–पीड़ा के इतिहास के काले राक्षसी अध्याय का अन्त हो चुका था।

अग्रज के मृत शरीर को देखते ही विभीषण अपना आत्मनियन्त्रण खो बैठै। कुछ क्षणों पूर्व उनकी दृष्टि में अन्याय, अधर्म, अनीति,

अदूरदर्शिता की प्रतिमूर्ति बना उनका अग्रज अब उनकी ही दृष्टि में सहसा धर्मपरायण, नीतिज्ञ, राक्षसकुल–शार्दूल, वेदान्तज्ञ, यज्ञ–यागादि में निपुण, महातपस्वी, परमकर्मठ तथा अग्निहोत्र–परायण आदि न जाने किन–किन आप्तगुणों का आश्रयस्थल बन गया था। लंकापति रावण के जीवनकाल में ही नीति–निपुण श्री राम द्वारा प्रदत्त ''लंकाधिपति'' विरुद् को ससम्मान ग्रहण करने वाले विभीषण का दुहरा चरित्र देख सहसा मुझको अपने पिता के कपट–वध का स्मरण हो आया। मेरे परम पराक्रमी तथा प्रजारञ्जक यशस्वी पिताश्री के सम्बन्ध में उल्टी–सीधी प्रायः मिथ्या अपवादों का आश्रय ले श्री राम को वानरेन्द्र श्री वाली के प्रतिकूल कर लेने में सफल पितृव्य ने भी अपने अग्रज के वध पर ऐसे ही विलाप किया था। कुछ ही महीनो की अल्प–अवधि में इतिहास स्वयं को दुहरा रहा था। मेरे सामने मेरे पिता की मृत्यु के पश्चात् का नाटक एक बार पुनः दुहराया जा रहा था। उस बार पात्र यदि पितृव्य सुग्रीव थे तो इस बार नाटक के दूसरे पात्र विभीषण लगभग उन्हीं शब्दों तथा भावों की पुनरावृत्ति कर रहे थे।

अपने मन की प्रतिक्रिया को, अपने मुख पर आने से मैंने, बलपूर्वक रोका तथा मुँह फिरा कर खड़ा हो गया। साधु तथा निश्छल व्यक्ति सरलता पूर्वक दूसरों पर विश्वास कर लेता है। यही पुरुषोत्तम श्री राम के साथ हुआ। महामति हनुमान, प्रज्ञाशील कुलमुख्य जाम्बवान, शौर्यपूत नील जैसे सचिवों के सान्निध्य ने पितृव्य की विश्वसनीयता बढ़ा दी थी। यह सभी का सम्मिलित प्रभाव था कि राघवेन्द्र श्री राम की दृष्टि में देवी सीता का अपहर्ता रावण तथ गृहकलह का केन्द्र बने किष्किन्धानाथ श्री वाली तराजू के एक ही पलड़े में खड़ा कर दिये गये। सत्यप्रतिज्ञ रघुवीर प्रभु श्री राम को वस्तुस्थिति का पता उसी समय आहत पिताश्री एवं दुःखी माता श्री की बातों से चल गया था। इसी लिए उन्होंने तत्क्षण मुझको अपने संरक्षण में लेते हुए मुझे वानर राज्य का युवराज घोषित कर दिया था। यही नहीं मेरे तथा वानरों के दूरगामी हितों की रक्षार्थ उन्होंने वानर प्रजा में सबके स्नेह,

सम्मान तथा विश्वास की पात्र बन चुकीं माता श्री को धर्म, नीति तथा कुल परम्परा का सन्दर्भ देते हुए पितृव्य के साथ महारानी के रूप में रहने हेतु पुनर्विवाह के लिए सहमत किया था। रावणवध के समय प्रभु श्री राम का परमोदार स्वरूप पुनः दिखलाई पड़ा। विभीषण द्वारा रावण के प्रेत–कृत्य करने की अनुमति मांगने पर उदारचेता रघुनाथ ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, ''विभीषण! वैर, जीवन काल तक ही रहता है। मृत्यु के पश्चात् उसका अन्त हो जाता है। .....अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय रावण मेरे लिए भी उतना ही स्नेह तथा सम्मान का पात्र है जितना तुम्हारे लिए।''[10] परमकारुणिक पुरुषोत्तम श्री राम की यही उदारता तो उनको देवोपम बनाती है। उनके गुणों पर रीझ कर विधाता ने मानो उनको शारीरिक अद्वितीयता प्रदान किया है। चौड़ी छाती, उन्नतस्कन्ध, मॉसल टोढ़ी, अजानु बाहुयुगल, प्रशस्त ललाट, सुविशाल नेत्र, सुन्दर ग्रीवा, सुपुष्ट तथा निर्दोष देहयष्टि विधाता ने मानो अतिरिक्त समय निकाल कर उनको गढ़ा है। वेदविद्या–विशारद, धनुर्वेदपारंगत, शरणागतवत्सल धर्मज्ञ रघुवीर क्रोध में कालाग्नि, क्षमा में पृथिवी तथा गाम्भीर्य में समुद्र के समान हैं। उनके अतिमानवीय गुणों के कारण ही उनके जीवन काल में ही उनको श्री विष्णुहरि का अंशावतार माना जाने लगा है।

दशरथनन्दन श्री राम के व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षक के कारण मैं जितना अधिक उनके निकट गया उनके गुणों को निकट से जानने का अवसर मिलता गया। इस कार्य में भैया लक्ष्मण का निकट का सहयोग तथा मार्गदर्शन मुझको मिलता रहा। अपने आकर्षक व्यक्तित्व एवं सर्वप्रिय सरलता के कारण वह बचपन में ही प्रजा की आँखों का तारा बन गये थे। किशोरावस्था में ही उन्होंने अपने अपौरुषेय कार्यों से गंगा–घाटी को राक्षसों तथा दस्युओं से मुक्ति दिलाने में सफलता प्राप्त किया था। जनकपुरी में, जम्बूद्वीप तथा द्वीपान्तरों से आये राजागण जिस शिवधनुष को हिला तक नहीं सके उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा अपने अपरिमित शारीरिक बल का परिचय देने वाले रघुकुलदीपक श्रीराम सर्वख्यात् हो चुके थे।

राज्याभिषेक की पूर्व वेला में अपने पिता की आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक वनवास स्वीकार करने वाले इस महामानव ने तापसवेष में भी ऋषियों, मुनियों, अन्तेवासियों तथा वनवसियों को आतंक मुक्त कराने के पवित्र कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान किया था। विराध, कबन्ध, खर, दूषण अथवा त्रिशिरा किसी से भी उनका व्यक्तिगत वैर नहीं था। वनक्षेत्र को उनके अन्यायपूर्ण आतंक से मुक्ति दिलाने के परम उद्देश्य ने ही राघव को रावण एवं राक्षस आततायियों का व्यक्तिगत शत्रु बनाया। त्रैलोक्यविजयी रावण से प्रतिशोध लेने में भी उन्होंने अपने राज्य अथवा प्रजा के संसाधनों की चाह नहीं किया। वन में भटकते हुए भी महाप्राज्ञ हनुमान को अपना आजीवन अनुगत तथा सुग्रीव से मैत्री–संधि स्थापित कर शक्तिशाली वानरों को अपना भक्त बना लेना उनके राजनीतिक चातुर्य्य की पराकाष्टा है। शक्तिशाली राक्षसों के विरुद्ध वनवासी वानरों के साथ ही गीधों, सुपर्णों, शबरों, नागों तथा निषादों जैसे दलित एवं अपेक्षया कम शक्ति सम्पन्न समूहों को अपना मित्र एवं सहायक बना लेना साधारण कृत्य नहीं था। किसी व्यक्ति अथवा समूह की सहायता अथवा उपकार को सहज भाव से कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करने का अद्भुत गुण उनमें कूट–कूट कर भरा था। लंका विजय के पश्चात् अयोध्या लौटने के उपरान्त राजकुमार भरत से सुग्रीव का परिचय देत हुए राघवेन्द्र ने अत्यन्त सहज भाव से कहा था, ''कान्तार में निवास, पत्नी–वियोग का महाकष्ट, रक्षा का एक मात्र साधन धनुष, रावण जैसे दुर्दान्त शत्रु, समुद्र के पार उसका निवास (ऐसी स्थिति में) यदि सुग्रीव की मित्रता न प्राप्त हुई होती तो हमारी क्या गति हुई होती।''[11] एक सर्वशतिसम्पन्न जननायक द्वारा विनम्रता के चरम प्रदर्शन के अनेक उदाहरणों में से एक है– 'यह'।

उनके राजनीतिक कौशल तथा मानवीय संवेदनशीलता के अति उज्वल पक्ष का अप्रतिम उदाहरण रावणानुज विभीषण की शरणागति है। यह प्रकरण हमारे सामने अकस्मात् उठ खड़ा हुआ था। बिना किसी पूर्व सूचना के राक्षसराज रावण के अनुज का अपने

कतिपय साथियों के साथ हमारे युद्ध–शिविर में सहसा आना तथ शरण मांगना साधारण विषय नहीं था। स्वयं प्रभु श्री राम ने प्रकरण को अत्यन्त गम्भीर मानते हुए विभीषण की शरणागति पर अपने प्रमुख सहायकों की सुविचारित सम्मति मांगी थी। वानरराज सुग्रीव, मैं युवराज अंगद, ऋक्षपति जाम्बवन्त, सेनापति नील, जाम्बवन्तपुत्र शरभ, मातुल मैन्द, सभी रावण के अनुज को शरण देने के विरुद्ध थे। मात्र पवन पुत्र की राय इसके विपरीत थी। वह विभीषण की शरणागति के पक्षधर थे। अन्त में रघुनन्दन ने शरणागत को अपनाने का महत्त्व समझाते हुए मधुर मुस्कान सहित हनुमान जी से कहा था, ''वायुनन्दन! तुम सम्मानपूर्वक विभीषण को मेरे पास लाओ।'' शरणागत यदि स्वयं रावण होता तो उसे भी शरण अवश्य मिलती। श्री राम ने न केवल विभीषण को शरण दिया वरन् उसी क्षण उसको 'लंकेश्वर' घोषित कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। वस्तुतः यह उनकी सोची–समझी नीति का महत्त्वपूर्ण अंग था। इससे अपने राक्षस मंत्रियों सहित विभीक्षण न केवल उनका अनुगत दास बन गया वरन् लंका के अतिगोपनीय रहस्य भी हमारे सेनाधिपति के लिए सहज में ही ज्ञेय बन गये। अशोक वाटिका में बन्दिनी देवी जानकी की कुशलता का समाचार रघुनन्दन को बिना विशेष यत्न के ही मिलने लगे।

घटना का स्मरण आते ही विभीषण की शरणागति के समय प्रकट किये गये राघवेन्द्र के उद्‌गार आज भी मेरे कानों में गूँजने लगते हैं। अपने अनुज सहित हम सब पर एक बार स्नेहिल दृष्टि दौड़ा उन्होंने कहा था, ''मित्रों! आप लोग मेरे परम हितैषी सुहृद् हो अतएव मेरी इच्छा है कि आप सब शरणागति के सम्बन्ध में मेरे आत्मिक विचारों को जान लें। .... जो भी मेरे समक्ष मित्र–भाव से आ जाता है, मैं उसे किसी प्रकार से भी त्याग नहीं पाता हूँ चाहे उसमें स्वभावगत दोष ही क्यों न हो। महापुरुषों के लिए शरणागत को आश्रय देना ही अर्ह है।''[12] वानरराज सुग्रीव समर्थक वानर महावीरों तथा अपने अनुज श्री लक्ष्मण की ओर प्रशंसात्मक दृष्टि डालते हुए उन्होंने पुनः कहा था, ''हम लोग विभीषण के स्वजन नहीं हैं। अतएव

उससे हमारा स्वार्थ सम्बन्धी कोई टकराव नहीं है। वह राजपद का आकांक्षी है, अतः हमारा साथ नहीं छोड़ेगा।'' पितृव्य को सम्बोधित करते हुए उनका मधुर स्वर पुनः गूँजा था, ''परंतप! शत्रु? भी शरण में आ जाय तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। यदि शरणागत उसके मान्य रक्षक के देखते–देखते नष्ट हो जाये तो वह उसके समस्त पुण्यों का फल अपने साथ ले जाता है। .... यद मेरा व्रत है कि मैं शरणागत को उसके समस्त शत्रुओं से अभयदान देता हूँ। मित्रवर सुग्रीव ऐसी स्थिति में शरणागत चाहे विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न हो मैंने उसे अभयदान दिया है।'' बाद में हरिराज सुग्रीव के मुख से अयोध्यानाथ के उदगारों को सुन गद–गद कंठ, काँपते हुए विभीषण साश्रुनयन हो सीतापति के चरणों में गिर पड़े थे। मर्यादा पुरुषोत्तम ने विभीषण को अपने अंक में भरते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था, ''मित्र का स्थान हृदय में होता है चरणों में नहीं।''

श्री राम को भगवान विष्णु का अंशावतार मानने में संदेह की स्थिति भले ही बन सकती हो, उनके कतिपय अतिमानवीय कृत्य उनको देवराज इन्द्र, वरुण, यमादि सहित अन्य देवताओं से भी बढ़–चढ़ कर प्रमाणित अवश्य करते हैं। प्रभु श्री राम ने सुबेल पर्वत शिखर से लंका के दुर्ग के कँगूरों से वानरी सेना के राक्षसराज रावण द्वारा निरीक्षण के समय खेल–खेल में एक बाण से उसके अनेक श्वेत छत्रों तथा राज–मुकुट को धराशायी कर दिया था।[13] इसी भाँति बल तथा विक्रम में राक्षसों में सर्वश्रेष्ठ कुम्भकर्ण के विशाल सिर को एक ही बाण–प्रहार से उसके धड़ से पृथक् कर अकल्पनीय दूरी तक फेंक दिया था।[14]

दिव्यास्त्रों के अन्वेषक एवं अनेक अमानवीय सिद्धियों के स्वामी देवताओं को पराजित करने वाले रावण तथा उसके परिजन आधुनिकतम दिव्यास्त्रों, नवीनतम् स्तमरिक संसाधनों से सुसज्ज थे। माया अथवा कपटयुद्ध में अतुलनीय थे। उनके विरोध में उतरी वानर सेना नियुद्धकला में निपुण होते हुए भी धनुर्वेद से लगभग अपरिचित

थी। मात्र प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण ही ऐसे थे जो धनुर्वेद में निष्णात् तथा दिव्यास्त्रों के ज्ञाता थे। किन्तु उनका पाला त्रैलोक्य विजयी, सर्वसाधनसम्पन्न तथा सुप्रशिक्षित रावण की चतुरंगिणी सेना से पड़ा था। विश्व इतिहास में अन्य कोई युद्ध ऐसा नहीं हुआ है जिसमें आधुनिकतम शस्त्राास्त्रों से सज्ज चतुरंगिणी सेनाओं के सामने ऐसे पदाति सैनिक रहे हों जिनके प्रमुख आयुध उनके नाखून, दाँत, हाथ, पैर, प्रस्तरखण्ड एवं वृक्ष की शाखायें मात्र रही हों। सुरक्षित दूरी तथा ऊँचे स्थान पर खड़ा एक धनुर्धर ही सैकड़ों शत्रुओं पर भारी पड़ता है। इस युद्ध में तो रथ एवं गज के रूपों में चलते फिरते दुर्गो पर आसीन कवचधारी राक्षसों के विरुद्ध सदियों पुरातन आयुध धारण किऐ वानर पदाति थे। यदि हमारे पक्ष में कुछ था तो वह था– धर्म एवं न्याय तथा उसके मूर्तिमान स्वरूप प्रभु श्री राम। क्या यह किसी अलौकिक चमत्कार से कम है कि राक्षसों तथा आर्य मानवों की तुलना में अर्द्ध–सभ्य, साधनहीन तथा दलित माने जाने वाले वानरों ने दस दिनों के महासमर में राक्षसों की अजेय शक्ति को ध्वस्त करके रख दिया था?

मैंने किञ्चित् विलम्ब से ही अब यह भली भाँति जान लिया है कि प्रभु का अगाध स्नेह, अखण्डित विश्वास तथा कृपापूर्ण सान्निध्य पाने के लिए यदि कोई वस्तु आवश्यक है तो वह है प्रभु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की भावना। प्रभु की कृपा प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा यदि कोई है– तो वह है समर्पण के प्रति किञ्चित् सन्देह अथवा द्वैधीभाव। मुझे भलीभाँति स्मरण है कि इसी द्वैधीभाव अथवा सन्देह के चलते मैंने देवी सीता के अनुसंधान के समय समुद्रसंतरण की अपनी क्षमता के प्रति आवश्स्त होते हुए भी वापस लौटने के प्रति अपने मन का संशय प्रकट किया था। आज मैं स्वीकार करता हूँ कि प्रभु ने जब मुझको अपना दूत बना लंकेश के पास भेजा था तो एक क्षण के लिए मेरे मन में उसी द्वैधीभाव की उपस्थिति का आभास हुआ था। किन्तु तात श्री के अन्तिम वचनों का स्मरण कर उस भाव को समूल उखाड़ फेंकते ही मन में एक अभूतपूर्व उत्साह का सागर तरंगे लेने लगा

था। यही कारण है कि जब मुझको श्री राम–दूत के रूप में रावण की राजसभा में प्रस्तुत किया गया मैं आत्मविश्वास से परिपूर्ण वानरेन्द्र श्री वाली की प्रतिमूर्ति बन चुका था। राक्षसों की सभा में क्रोधपूर्वक की गई मेरी सिंहगर्जना तथा पादप्रहार से मानों भूचाल आ गया था। राक्षसों के आसन कम्पायमान हो उठे थे। राजसभा के मण्डप की छत तक भहरा पड़ी थी।[15] मुझको बन्दी बनाने के प्रयास में आगे बढ़ रहे राक्षस योद्धाओं को एकाकी धूल चटाता मैं राजसभा के मुख्य द्वार तक पहुँचा ही था कि तभी भक्तवत्सल श्री राम द्वारा भेजे गये केसरी नन्दन हुँकार भरते तथा राक्षसों को मारते हुए वहाँ आ पहुँचे थे। अब तो राक्षसों को एक साथ दो–दो हनुमानों से पाला पड़ा था। राक्षसों में मची भगदड़ का लाभ उठा हम दोनों सकुशल अपने स्वामी के पास आ पहुँचे थे। ''आओ पुत्र अंगद! आओ!! तुम्हारा बार–बार स्वागत है'' कहते हुए राघवेन्द्र ने मुझको गले लगा लिया था। उनके स्नेह बन्धन से मानो मेरे सम्पूर्ण शरीर में बिजली सी कौंध उठी हो। अब प्रभु श्री राम की बाँहों में एक दूसरा अंगद खड़ा था– सिर से पाँव तक पूर्णतया परिवर्तित। श्री राम प्रभु के प्रति पूर्णतया समर्पित भक्त 'अंगद'। अब रामानुज श्री लक्ष्मण तथा पितृव्य श्री सुग्रीव की बारी थी। मेरा बारम्बार साधुवाद करते दोनों ने बारी–बारी मुझे गले लगा मेरा उत्साह बढ़ाया था। इस घटना के पश्चात् मैं अनुज सहित प्रभु श्री राम का उतना ही अंतरंग बन गया। जितना वानरराज सुग्रीव तथा भक्तराज हनुमान थे। भैया लक्ष्मण ने तो मुझको अपना सुहृद पहिले ही मान लिया था।

सन्दर्भ–संकेत

1. ''धूम्राक्षस्य शिरोमध्ये गिरिश्रृंगमपातयत्।
स विस्फारितसर्वांगो गिरिश्रृंगेरन ताड़ितः।।36।।
पपात सहसा भूमौ विकीर्ण इव पर्वतः।
धूम्राक्षं निहतं दृष्टवा हतशेषाः निशाचराः।
त्रस्ताः प्रविशिुर्लंकां वध्यमानाः प्लवंगमैः।।37।।

वा0 रा0 युद्ध0 52–36–37

(हनुमान जी द्वारा चलाया गया पर्वत शिखर धूम्ररक्ष के सिर में लगा। उसकी चोट से धूम्राक्ष के अंग छिन्न–भिन्न हो गए और वह बिखरे हुए पर्वत की भाँति साहसा धरती पर जा गिरा। उसके मरते ही शेष बँचे निशाचर भयभीत हो वानरों की मार खाते हुए लंका में जा घुसे।)

2. ''निर्मलेनसुधौतेन खड्गेनास्य महच्छिरः।
जघान बज्रदंष्ट्रस्य वालिसूनुमर्हाबलः।।34।।
सधिरोक्षित गात्रस्य बभूव पतितं द्विधा।
तच्च तस्य परीताक्षं शुभं खड्गहतं शिरः।।35।।
वज्रदंष्ट्रं हतं दृष्टवा रक्षसाः भयमोहिताः।
त्रस्ता ह्यभ्यद्रवंल्लभं वध्यमाना प्लवड्गयैः।
विषण्णवदना दी ह्रिया किंचिदवाङ्गुखाः।।36।।

वा0 रा0 युद्ध0 54–34–36

(महाबली बालिकुमार ने निर्मल एवं तीक्ष्ण धारवाली चमकीली तलवार से वज्रदंष्ट्र का विशाल मस्तक काट डाला।34। रक्तरंजित शरीर वाले उस राक्षस का खड्ग से कटा मस्तक धरती पर गिर दो टुकड़ों में विभाजित हो गया।35। वज्रदंष्ट्र को मारा गया देख उसके साथी राक्षस भय से अचेत हो गये। वानरों की मार खा भय के मारे वे सब लंका को पलायन कर गये। दुःखी एवं दीन भागे वानरों का मुख लज्जा से झुका हुआ था।36।)

3. ''नीलेन कपिमुख्येन विमुक्ता महती शिला।
विभेद बहुधा घोरा प्रहस्तस्य शिरस्तदा।।54।।
(कपि मुख्य (वानरप्रमुख अथवा वानरसेनापति) नील द्वारा चलाई गई भारी शिला ने (रावण के सेनापति) प्रहस्त के मस्तक को कई टुकड़ों में विभक्त कर दिया)।

4. ''तांस्तु विप्रदुतान् दृष्ट्वा राजपुत्रोऽङकदोऽब्रवीत्।
नलं नीलं गवाक्षं च कुमुदं च महाबलम्।।4।।
आत्मनस्तानि विस्मृत्य वीर्याणिऽभिजनानि च।
क्व गच्छति भयत्रस्ताः प्राकृतो हरयो यथा।।5।।
(कुम्भकर्ण के समक्ष पलायमान वानरों को देख राजकुमर अंगद ने नल, नील, गवाक्ष एवं कुमुद जैसे महाबली वानरप्रमुखों को सम्बोधित करते हुए कहा कि अपने उत्तम कुल एवं अलौकिक पराक्रम को विस्मृत (भुला कर) कर साधारण बन्दरों की भाँति भयाक्रान्त हो कहाँ भागे जा रहे हो?)

5. स मुष्टिनिष्पष्ट विभिन्नमूर्ध विर्वान्त दन्ताक्षिविलम्बि जिह्व।
देवान्तको राक्षसराजसुनुर्गतासुरुव्यों सहसा पपात।।26।।''
वा0 रा0 युद्ध0 70.26
(हनुमान जी मुष्टि प्रहार से देवान्तक का सिर फट तथा पिस गया। उसके दाँत, आँखें, तथा लम्बी जीभ बाहर निकल आईं। इस से राक्षसराज ावण का पुत्र देवान्तक गतप्राण हो सहसा पृथ्वी पर आ गिरा।)

6. ''द्विविदः शोणिताक्ष तु विददार नखैर्मुखैः।
निष्पिपेश स वीर्येण क्षितावाविध्य वीर्यवान्।।34।।
यूपाक्षमभि संक्रद्धौ मैन्दो वानरपुंगवः।
पीडयामास बाहुभ्यां पपात स हतः क्षितै।।35।।'' वा0 रा0 युद्ध0
(द्विविध एवं मैन्द के साथ समरभूमि में छीना–झपटी तथा पटका–पटकी कर रहे राक्षस सेनानी भाई शोशीताक्ष एवं यूपाक्ष

में से– 'पराक्रमी द्विविध ने अपने नखों से शोणिताक्ष का मुख नोंच लिया। तदूपरान्त बलपूर्वक धरती पर पटक कर पीस डाला।34। अत्यन्त क्रोध से भरी हुए वानरश्रेष्ठ द्विविध के बेटे भाई मैन्द ने यूपाक्ष को अपनी बाँहों में भर इतने बल के साथ दबाया कि वह निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।35।)

7. ''सयमस्त व्यथितं श्रुत्वा वालिपुत्रं महाहवे।
व्यादिदश हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवप्रमुखांस्ततः।।58।।
.....
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः।
कुम्भकर्णात्मजं वीरं क्रुद्धा समभिद्रुद्रुवुः।।61।।''

(महायुद्ध में वालिपुत्र अंगद को व्यथित अथवा मूर्च्छित हुआ सुन कर श्री राम ने जाम्बवन्त आदि प्रमुख वानरों को युद्ध में जाने का आदेश दिया।58।..... (इस आज्ञा के अनुपालन में) जाम्बवान, सुषेण और वेगदर्शी ने कुपित हो कर कुम्भकर्णपुत्र (कुम्भ) पर क्रोधित हो, आक्रमण किया।61।।)

8. ''मुष्टिनाभिहतस्तेन निपपाताशु राक्षसः।
लोहिताङ्ग इवाकाशाद दीप्तरश्मिर्यदृच्छया।।92।।''

वा0 रा0 युद्ध0 76.923

(सुग्रीव के मुक्के के आघात से राक्षस (कुम्भ) आकाश से गिरे उल्कापिण्ड की भाँति धरती पर आ गिरा)।

9. ''अयमनघ तवोदितः प्रियर्थं री जनकसुता निधनं निरीक्ष्य रुष्ठः।
सरथगजहयां स राक्षसेन्द्रां भृशमिषुभिर्विनिपातयामि लङ्काम्।।44।।

वा0 रा0 युद्ध0 83.84

(मेघनाद द्वारा सीतवध के समाचार से शोक मग्न अग्रज श्रीराम को विस्तार से समझाते हुए श्री लक्ष्मण अन्त में कहते है।, 'हे अनघ! (निष्पाप रघुवीर!) यह जो कुछ मैंने आपसे कहा है, वह सब आपका प्रिय करने अथवा आपका शोक हरने के लिए ही

कहा है। जनकसुता की मृत्यु का वृतान्त जान कर मेरा रोष बढ़ गया है, अतएव आज अपने बाणों द्वारा रथ सहित, हाथी, घोड़े और राक्षसराज सहित सम्पूर्ण लंका को धूल में मिला दूँगा)।

10. ''मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।''25।।

वा0 रा0 युद्ध 107–25

(रावणवध के पश्चात् श्री राम ने विभीषण से कहा, ''शत्रुता जीवनकाल तक ही रहती है। मरने के बद उसका स्वतः अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है। अतएव अब तुम इसका अन्तिम संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे लिए (सम्माननीय) है, उसी प्रकार मेरे लिए भी है)।

11. हनुमन्नाटक

12. ''मित्र भवेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्।।3।।
(शरणागत की स्वीकार्यता के सम्बन्ध में श्री राम की स्पष्ट घोषणा है कि 'जो मित्र भाव से मेरे पास आ गया हो, उसका मैं किसी भी परिस्थिति में त्याग नहीं कर सकता हूँ। सम्भव है उसमें दोष भी हों किन्तु ऐसे को भी आश्रय देना सत्पुरुष के लिए निन्दित नहीं है (अतएव विभीषण मुझको स्वीकार्य है)।

13. आध्यात्म रामायण 1.10–246, (2) अग्निवेश रामामाण 65, (3) भावार्थ रामायण 6–2

14. रंगनाथ रामायण 6.80 (2) वा0रा0 युद्धकाण्ड, सर्ग 67 श्लोक 170 के अनुसार कुम्भकर्ण का पर्वताकार मस्तक लंकर में गिर था। उसके धक्के से अनेक भग्न, द्वार, ऊँचे प्रकार (परकोटे) भी धाराशायी हो गये थे। (3) हनुमन्नाटक (अंक 11) के अनुसार वह दूरस्थ हिमालय पर जा गिरा था – फादर बुल्के–रामकथा, पृ. 455–56)।

15. आनन्द रामायण 3.10.237–42।

• • • •

– 4 –

प्रयोग

'जिजिविषा' अथवा जीवति रहने की स्वाभाविक इच्छा प्राणिमात्र में समान रूप से विद्यमान रहती है। जीवित रहने के लिए भोजन–पानी एकत्र करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का सफलतापूर्वक सामना करने अथवा वनों में रहने वाले अधिक शक्तिशाली तथा भयानक जीव–जन्तुओं से आत्मरक्षा की भावना ने मानव–समूह के लिए आयुधों की स्वीकार्यता अथवा ग्राह्यता को अनिवार्य बनाया। कालान्तर में जब विभिन्न मानव–समूहों का आकार बढ़ने लगा उनके लिए आवास एवं भोजन–सामग्री जुटाने के लिए अतिरिक्त क्षेत्र एवं संसाधनों की आवश्यकता की अनुभूति हुई। इसी आवश्यकता ने विभिन्न समूहों में टकराव, आक्रमण–प्रत्याक्रमण तथा अन्ततः बड़े–बड़े युद्धों को जन्म दिया।

आयुध, शस्त्र–अस्त्र अथवा हथियार उस वस्तु का अभिधान है, जिससे किसी को शारीरिक क्षति अथवा भौतिक हानि पहुँचायी जा सकती है; आदिम मानव गुहावासी वनचर था। कन्दमूल, फल एवं पशु–पक्षियों के मांस आदि के भक्षण से जीवन–यापन करने वाला मानवसमूह पत्थर के टुकड़ों अथवा दण्ड–प्रहार से फल तोड़ने, कन्द उखाड़ने, पशु–पक्षियों के आखेट का कार्य सम्पादित करता था। विकासक्रम में आयुधों की मारक–क्षमता और सुरक्षात्मक शक्ति ने उनके स्वरूप में उत्तरोत्तर सुधार की प्रेरणा दिया। कालक्रमानुसार 'आयुधजीवी' मानव, कृषिकर्मी ग्राम–वासी बना। परिवार बढ़े, कृषि–क्षेत्र कम होने लगे, फलतः विभिन्न मानव समूहों की विस्तारवादी नीति युद्ध का प्रमुख कारण बनी। इसी विस्तारवादी नीति के कारण आगे चलकर नये–नये जनपद, राज्य एवं अधिराज्य अस्तित्व में आते गये; एवं रक्षा एवं विनाश के संसाधन विकसित होते गये।

वैदिक आयुधों में प्राणी को प्राणों से रहित कर देने वाले 'वज्र' का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। इसी 'वज्र' ने किसी समय तत्कालीन देवराज 'इन्द्र' को अजेयता प्रदान किया था। उसकी अचूक मारक क्षमता के कारण वज्रधारी इन्द्र का आंतक शत्रुओं पर भारी पड़ने लगा था। इसका निर्माण विभिन्न वस्तुओं से किया जाता था। जनश्रुति के अनुसार– देवराज ने दधीचि की अस्थियों से निर्मित 'वज्र' से वृत्रासुर का वध किया था। बाद में ताँबा, काँसा एवं अयस (लोहा) आदि धातुओं से इसका निर्माण होने लगा। इसके संचालन के लिए शारीरिक बल के अतिरिक्त क्षिप्रता तथा हस्तलाघव आवश्यक था। जब तक देवताओं के लिए असुरों से अस्तित्व का संकट बना रहा इन्द्र–पद पर उसी देवता का चयन किया जाता था जो वज्र के संचालन के लिये आवश्यक गुणों से युक्त होता था। श्री विष्णु हरि के अभ्युदय के पश्चात् असुरों के प्रभावी दमन के कारण देवताओं को मिलने वाली चुनौती समाप्तप्राय हो गई। परिणामस्वरूप देवगण विलास प्रिय होते गये। इन्द्र पद पर आसीन देवता भी शिथिलाचारी होते गये। रावण के नेतृत्व में राक्षसी शति के अभ्युत्थान तक देवगण 'वज्र' प्रहार की कला, प्रायः विस्मृत कर चुके थे। परिणामस्वरूप यम, वरुण जैसे देवगण पददलित तो हुए ही स्वयं इन्द्र को रावणपुत्र मेघनाद के हाथों बन्दी होना पड़ा।

कालक्रम से अस्थिनिर्मित वज्र का परिष्कृत रूप लोहायस अथवा ताम्र (ताँबा) निर्मित वज्र के रूप में सामने आया। तांबे की नमनीयता ने मनुष्य को त्रपु (टिन) एवं अयस् (लोहा) की ओर झुकने को विवश किया। वज्र के अग्रभाग में अथवा आन्तरिक भाग में लोहे के टुकड़े सम्पूरित कर अयोमुखी वज्र का निर्माण किया गया।[1]

वज्र को अधिक घातक तथा प्रभावशाली बनाने के प्रयास निरन्तर चलता रहे। धूमाक्षी[2], धूमशिखर[3], अग्निजिह्व[4], अश्रुमुखी[5] वज्र शत्रुपक्ष को अन्धकार से आच्छादित कर अश्रुपात को विवश कर देते थे। वज्र की धार को तीक्ष्ण बनाने के लिये 'शायण' किया जाता

था। काव्य उशनस, अश्विन तथा सरस्वती द्वारा वज्र निर्माण किया जाता था। किन्तु देवशिल्पी लष्ट्रा सर्वाधिक कुशल निर्माता था। त्वष्ट्रा के इस गुण ने ही उसको इन्द्र का शत्रु बना दिया। आशंकित इन्द्र ने त्वष्ट्रा का वध कर दिया।

प्रक्षेपणास्त्र के रूप में प्रयुक्त वज्र मानव शरीरांगों के ही नहीं वरन् पर्वत शिखरों तक के भेदन, मर्दन तथा ध्वस्तीकरण में सक्षम है। महर्षि विश्वामित्र ने श्री राम को इन्द्र के वज्र का प्रयोग–प्रशिक्षण दिया था। सामने पड़ने वाले शत्रु–मित्र के लिए समान रूप से घातक इस भयानक अस्त्र का प्रयोग प्रभु श्री राम द्वारा कभी नहीं किया गया।

वज्र के अपर नामों में विद्युत्, नेमि, हेति, नम, पणि, शुक, अर्क, कुत्स, कुलिश, तिग्य, मेनि तथा स्वाधिति बहु प्रयुक्त हैं। घातक–प्रहारक क्षमता तथा सरल संचालन विधि के कारण अस्तित्व में आये धनुष्य (धनुष) तथा बाण के अनुसंधान ने निर्माण तथा संचालन में जटिल वज्र को कालान्तर में अप्रयोगी बना कर रख दिया।

धनुष अथवा 'धनुष्य' युद्ध अथवा आत्म–रक्षा का सर्वाधिक लोकप्रिय आयुध है। धनुष अथवा शरासन पर आरूढ़ 'शर' अथवा बाण से दूरस्थ लक्ष्य का अचूक भेदन इसका सबसे बड़ा गुण है। अपने इस गुण के कारण धनुष वैदिक काल से आज तक सर्वप्रिय आयुध बना हुआ है। धनुष की लोकप्रियता, सामर्थ्य, शक्ति, लक्ष्यभेदन की अचूक क्षमता के कारण कालान्तर में धनुर्वेद एक अलग 'उपवेद' के रूप में अस्तित्व में आया। अपनी शारीरिक शक्ति, क्षिप्रता, हस्तलाघव तथा अतुलनीय चपलता के पश्चात् भी वानर यदि अखिल भारतीय शक्ति नहीं बन पाये तो इसका प्रमुख कारण वानर योद्धाओं का इस महत्त्वपूर्ण आयुध के सन्धानकला से अपरिचत रहना रहा है। धनुष–बाण आज के 'युद्ध का सबसे अधिक लोकप्रिय आयुध बन चुका है। वस्तुतः यह आधुनिक युद्ध की विकसित कला का प्रतीक बन चुका

है। आर्यमानव, राक्षस, दैत्य, दानव, देवता यहाँ तक कि वनवासी शबर तक धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त कर चुके हैं। वानरों को भी इस कला से सुपरिचित होना ही होगा। यह उनके निरापद अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है।

'ज्या' (डोरी) तथा 'बाण' मिल कर धनुष को पूर्णता प्रदान करते हैं। प्राचीन मनीषियों के अनुसार धनुष वह आयुध है जो अपनी 'ज्या' से जुड़ कर 'ध्वनि' या 'टंकार' उत्पन्न करता है। 'ज्या; से जुड़ते ही उसमें गति तथा विजय प्रदान करने और वाणों के माध्यम से शत्रुओं का वध करने की शक्ति आ जाती है।[6] धनुष के निर्माण में सामान्यतया लकड़ी, बॉस एवं पशु–शृंगों का प्रयोग किया जाता है। भगवान श्री विष्णु हरि के शृंग–निर्मित धनुष का नाम 'शारंग' है। राघवेन्द्र श्री राम भी शृंगनिर्मित धनुष का ही प्रयोग करते है।[7] 'कार्मुक' धनुष ताड़ (ताल) अथवा कृमुक वृक्ष की लकड़ी से बनता है। श्री विष्णु हरि एवं श्री राम की धनुष की भाँति भगवान शंकर के 'अजगव' तथा पिनाक' भी सुख्यात् धनुष हैं। 'पिनाक' की श्रेष्ठता ने देवाधिदेव महादेव को 'पिनाकी' बना दिया। धनुष की महत्ता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि सेनापति को शुभाशीष देते समय कहा जाने लगा, ''जब तक आप के धनुष से प्रत्यञ्चा सन्नद्ध रहेगी तब तक कोई भी आपको पराजित नहीं कर सकता है और आपका राष्ट्र सदा समृद्धिशाली रहेगा।''[8] धनुर्वेद की यह उक्ति अहंकार मात्र नहीं है कि जिस प्रकार एकाकी सिंह सम्पूर्ण वन की सुरक्षा करता है उसी प्रकार अकेला धनुर्धर किसी ग्राम की सुरक्षा में समर्थ होता है।[9]

'बाण' अथवा 'शर' प्रायः दो प्रकार का होता है– विषयुक्त तथा विष–हीन। स्थूलरूप में बाण के पुच्छ (पूँछ), 'शरदण्ड' तथा 'शरुगु' ये तीन प्रमुख भाग हैं। बाणाग्र में 'अनीक', 'कुल्मल' अथवा नोंक उसका ग्रीवा मात्र होता है। ग्रीवा– भाग 'शरदण्ड' से जुड़ा होता है। बाण प्रायः नरकुल, बेंत, बाँस अथवा सरकण्डे से बना होता

है। इसके पुच्छ–भाग अथवा पिछले भाग में कौवे, हंस, श्येन, क्रौञ्च, गृद्ध एवं तित्तिर आदि पक्षियों के पंख लगे होते हैं। ये पुच्छ बाण को गति तथा दिशा प्रदान कराने में सहायक होते हैं। बाण की लम्बाई तीन हाथ तक हो सकती है। प्रारम्भ में बाणाग्र में बाण की नोंक लकड़ी अथवा पत्थर की होती थी किन्तु विकासक्रम में इनका स्थान पशुओं के दाँत, हड्डियाँ, टीन, ताम्बा अथवा लोहा ने ले लिया। कतिपय 'इषुकारों' (बाण–निर्माता) ने बाणों की नोंकों विष से सिक्त करना प्रारम्भ कर दिया है। बाणों को तूणीर में रखा जाता है। लौहाग्र बाणों को 'नाराच' कहा जाता है।

धनुर्वेद में शर–संधान तथा धनुष धारण करने की अनेक विधाओं, बहुसंख्यक भंगिमाओं तथा विन्यासों का विवरण दिया गया है। उदाहरण स्वरूप कतिपय मुद्राओं का उल्लेख किया जा रहा है। ''सम्पद्'' विधि में सीधा खड़े धनुर्धर की एड़ियाँ तथ पिण्डलियाँ तनी हुई होती हैं। हाथ की हथेलियाँ तथा अँगूठे उसको छूते रहते हैं। 'विसम्पद' में बाँया पैर आगे की ओर निकला होता है दायाँ पैर पीछे की ओर तथा शरीर किञ्चित् नत (झुका हुआ) होता है। 'आलीढ़' मुद्रा में बायाँ पैर किञ्चित् मुड़ा, दाहिना पैर आगे निकला तथा किञ्चित, झुका होता है। अन्य प्रकार की मुद्राओं में 'विशाख', 'निराक्षत्र' 'विकट', 'दृध' तथा 'चित्र–धुस्कर' की गणना की जाती है।

विकास–क्रम में धनुष को आश्रय बना दिव्यास्त्रों एवं विभिन्न प्रकार के घातक रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग ने धनुष–बाण को आज का सर्वाधिक प्रभावशाली तथा घातक आयुध बना दिया है। माया–युद्ध में निपुण राक्षसों में अनेक योद्धा दिव्यास्त्रों अथवा घातक रासायनिक अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हो चुके थे, किन्तु राक्षसराज रावण, युवराज इन्द्रजित, रावणपुत्र अतिकाय, राक्षस सेनापति प्रहस्त, धूम्राक्ष तथा खर–पुत्र मकराक्ष की गणना लंका के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धरों में की जा सकती है।

राघवेन्द्र श्री राम के पास दो–दो दिव्यधनुष, दो–दो अक्षय तूणीर तथा अमोघ दिव्यास्त्रों का अक्षय भण्डार है। रामानुज श्री लक्ष्मण भी धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रों के प्रयोग में अपने अग्रज से कम निपुण नहीं हैं। दिव्यास्त्रों के अक्षय–कोश के स्वामी राघव–बन्धुओं ने प्रतिद्वन्द्वी के साथ ही उसके आस–पास खड़े सामान्य योद्धाओं को क्षति पहुँचाने वाले दिव्यास्त्रों के प्रयोग तक में नितान्त सावधानी अपनाई। यदि दोनों भाई चाहते तो अपने घातक परमास्त्रों का आश्रय ले एक ही दिन के अल्पांश में युद्ध की समाप्ति हो गई होती, किन्तु लंका की निर्दोष प्रजा, पशु–पक्षियों के प्राणों की रक्षा के प्रति सतत जागरुकता एवं पर्यावरण की रक्षा के प्रति उनकी संवेदनशीलता ने युद्ध को दस दिनों तक खींचने दिया। उनकी दृष्टि में माता जानकी तथा विभीषण–समर्थक राक्षसों की सुरक्षा का अधिक महत्त्व था।

लोकप्रियता एवं प्रभाव की दृष्टि से धनुष–बाण के पश्चात् सर्वाधिक प्रयोग में आने वाला आयुध 'असि' अथवा खड्ग है। विशनस्, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्री गर्भ, विजय एवं 'धर्मपाल' इसके अन्य बहुप्रचलित नाम हैं। कुछ लोग आकार–प्रकार के भेद से इसको कुठार अथवा कृपाण भी कहते हैं। इसके जन्म की एक कथा के अनुसार एक बार ब्रह्मा जी सुमेरु पर्वत पर यज्ञ कर रहे थे कि उसका विध्वंस करने को एक धातुनिर्मित कवचधारी दैत्य वहाँ उपस्थित हो गया। चिन्तित ब्रह्मदेव ने अग्निकुण्ड से एक सशक्त व्यक्ति उत्पन्न किया जिसके हाथ में 'नन्दक' खड्ग था। देवताओं के अनुरोध पर भगवान् विष्णु ने उस दिव्यपुरुष से 'कोष' या कोश सहित नन्दक को प्राप्त किया तथा दैत्य को मार भगाया।[10] दूसरी कथा के अनुसार भगवान शिव ने विश्व के सर्वोत्तम तत्वों को मिला कर उससे खड्ग का निर्माण किया था।[11]

आचार्यों ने असि सम्बन्धी कतिपय निषेधों का प्राविधान किया है। उनके अनुसार इसका दर्पण के रूप में प्रयोग नितान्त अशुभ फलदायक है। प्रयोगकर्त्ता द्वारा बिना स्नान–ध्यान के इसका स्पर्श

तक नहीं करना चाहिए। इसको सिर के नीचे रख कर सोना सर्वथा वर्जित था। खड्ग में प्राणरक्षा तथा शत्रुनाश की दैवी शक्ति की कल्पना ने 'असिपूजन' को लोकप्रिय बनाया।

असि–संचालन की भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आबिद्ध, आप्लुप्त, विप्लुत, सम्पात्, श्येनपात, आकुल, उदभुत, स्रत, अवधूत, सव्य, दक्षिण, अनालक्षित विस्फोट, करालेन्द्र, महासख, वराह एवं कुलित आदि अनेक विधियाँ हैं। युद्धभूमि में इसका प्रयोग काट डालने, मार गिराने, शत्रु को दूर फेंक देने, शत्रुओं के व्यूहभेदन तथा अपने समर्थकों में उत्साह उत्पन्न करने में किया जाता है। बायें हाथ का प्रयोग करने वाले कतिपय योद्धाओं को छोड़ कर अधिकांश असि योद्धा अपने कमर के बाँऐं भाग से लटकते खड्ग चर्म अथवा असिकोष से दाहिने हाथ से उसे निकालकर प्रहार करते हैं। आदर्श असि पचास अंगुल लम्बी होती है। मध्यम श्रेणी का खड्ग पच्चीस अंगुल लम्बा होता है। उससे छोटी कृपाण युद्ध के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती है। लौहनिर्मित खड्ग का भरपूर प्रहार प्रायः असहनीय तथा प्राणान्तक होता हे। प्रहारित वस्तु अथव अंग को अपने तीक्ष्ण धार से काट कर दूर फेंक देने की क्षमता इसमें विद्यमान है।

प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण असि–संचालन की कला में अत्यन्त निपुण होते हुए भी सुरक्षात्मक कारणों से असि–युद्ध से विरत रहने को बाध्य हुए। दोनों भाई धनुष–बाण का आश्रय ले असि की भाँति तीक्ष्ण अपने क्षुरप्र बाणों से शत्रुओं के अंगभंग मं पूर्णरूपेण सक्षम थे। मुझको यह स्वीकार करने में कोइ संकोच नहीं है कि वानर युद्ध–विज्ञान की विभिन्न विधाओं में आर्यों, राक्षसों, दैत्यों, देवों, गन्धर्वों आदि की तुलना में आज भी बहुत पिछड़े हुए हैं। गदा–युद्ध, मुद्गरयुद्ध तथा मल्ल युद्ध में वे अवश्य अद्वितीय हैं। वानर महावीरों में कपिराज सुग्रीव, वायुपुत्र हनुमान, सेनापति नल, पूर्व वानर सेनापति मैन्द, द्विविद तथा मुझ बालिपुत्र अंगद ही असियुद्ध में राक्षसों से तुलनीय हैं। आवश्यकता पड़ने पर शत्रु के खड्ग को छीन उसी से

उसके शिरोच्छेद के हमने कई उल्लेखनीय उदाहरण लंका–युद्ध में प्रस्तुत किया है।

परशु प्राचीन काल से ही बहुप्रयोजनीय आयुध रहा है। शान्तिकाल में वृक्षों अथवा झाड़ियों की काँट–छाँट में प्रयुक्त होने वाला पराशु रणक्षेत्र में शत्रु के अंगों का छेदन करता है। कहा जाता है कि राघव–बन्धुओं द्वारा मानभंग होने के पूर्व परशुराम ने इसी आयुध का आश्रय ले अपने शत्रुओं का दमन किया था। लंकापति रावण ने भी बलिद्वीप के राजा नागराज वज्रनाभ का बध अपने परशु से किया था। लगभग चार हाथ लम्बे लकड़ी के दण्ड के अग्रभाग में धातु–निर्मित परशु को संयुक्त किया जाता है। प्रारम्भ में ताम्र निर्मित परशु की नमनीयता के कारण कालान्तर में इसका स्थान लोहे के परशु ने ले लिया। लंका के राक्षस योद्धाओं का यह प्रिय आयुध रहा है। पाषाणकालीन आयुधों की परम्परा के कुल्हाड़ी अथवा हस्त–कुठार को इसका पूर्वज माना जाता है। वैदिक काल में परशुधारी परशुवों अथवा पारशव्यों[12] का एक अलग वर्ग अस्तित्व में आ चुका था, जिन्होंने इसका आश्रय ले कुरु–श्रवणों को पराजित किया था।[13]

प्राचीन भारतीय आयुधों में 'गदा' का स्थान अत्यन्त सम्मान जनक रहा है। गदा योधी के लिए शारीरिक बल की प्रचुरता अनिवार्य थीं कौमुदकी नाम की गदा भगवान विष्णु को अतिप्रिय है। वानरों में मल्लयुद्ध विशारद सम्राट बाली अपने समय के सर्वश्रेष्ठ गदाधर थे। वानर महावीरों में वानरराज सुग्रीव, हनुमान, नील, नल, मैन्द, द्विविद, शरभ, गवाक्ष, गय, कुमुद, गन्ध मादन तथा मुझ अंगद की गणना श्रेष्ठ गदाधारों में की जाती है। गदा वानरों का सर्वप्रिय आयुध हैं यही कारण है कि राक्षस सेनानी वानर वीरों के साथ गदायुद्ध की संभावना से सायास बँचते रहे। प्रारम्भ में गदा पूर्णतया काष्ठनिर्मित बनती थी, जिसका अग्रभाग अधिक स्थूल तथा भारी होता था। पश्चात्वर्ती समय में काठ के स्थान पर अग्रभाग में प्रस्तर तथा लौहनिर्मित गोलार्द्ध लगाये जाने लगे। गदा की मारक क्षमता में

वृद्धि के निमित्त उसमें कीलें तथा तीक्ष्णधार जुड़ने लगीं। महाबली हनुमान ने धूम्राक्ष की कॉटेदार गदा के प्रहार को व्यर्थ करते हुए उसी से उसका वध किया था। गाधितनय महर्षि विश्वामित्र ने ज्येष्ठ रघुवर को अन्य परमास्त्रों के साथ 'मोदकी' एवं 'शिखरी' नामक दो दिव्य गदायें भी प्रदान किया था। लंका के महासगर में इनके प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी।

शूल अथवा त्रिशूल भगवान शिव के प्रिय आयुधों में से एक है। राक्षसों में प्रिय इस आयुध का वानरों के विरुद्ध अनेक राक्षस वीरों ने प्रयोग किया। लगभग चार हाथ लम्बे लौहदण्ड के अग्रभाग में निकले तीन शूलों के कारण इसको त्रिशूल अभिधान प्राप्त हुआ। सिद्धाश्रम की सम्यक् सुरक्षा तथा राक्षसों के दमन के पश्चात् गुरु विश्वामित्र ने ज्येष्ठ राघव को भगवान शिव का त्रिशूल भी सविधि प्रदान किया था। लंका के महासमर में पापात्मा रावण ने श्री राम की बाण–वर्षा से विक्षुब्ध हो उन पर अपने शूल का प्रहार किया था। आठ घण्टियों से युक्त उक्त महाशूल घनघनाता हुआ आकाश मार्ग से श्री राम की ओर बढ़ा था। उस महाभयंकर शूल को तीव्र गति से अपनी ओर आता देख प्रभु राम ने मातलि द्वारा लाई देवेन्द्र प्रदत्त महाशक्ति के प्रहर से उसको जलाकर भस्म कर दिया था।[14]

'पाश' आधुनिक युद्धों में प्रयोग में आने वाला एक महत्त्वपूर्ण 'आयुध' है। देवताओं में वरुण, स्कन्द (देवसेनापति कार्तिकेय), घण्टाकर्ण, विश्वरूप तथा चण्डी देवी का विशेष प्रिय आयुध है– पाश। इसके साम्य, वाम्य, संदेश्य, विदेश्य, दैव तथा मानुष छः प्रकार अथवा भेद बताये गये हैं। मूञ्ज (मूँज) चमड़ा अथवा पशु–स्नायु (ताँत) से निर्मित पाश की लम्बाई प्रायः दस हाथ होती है, जिसके अन्त में एक फन्दा लगा होता है। योद्धा इस शस्त्र को प्रायः अपने कटि–प्रदेश में बाँध कर रखता है। परावृत्त, अपावृत्त, ग्रहीत, लघुसमीत, ऊर्ध्वसिप्त, अधोसिप्त, सन्धारित, विधारित, श्येनपात, गजपात तथा ग्राह–ग्राह्य इसके प्रयोग की ग्यारह विधियाँ हैं।[15] महर्षि विश्वामित्र ने

ककुस्थकुलभूषण श्री राम को धर्मपाश, कालपाश तथा वरुणपाश नामक परमायुध प्रदान किया था। लंका में सर्वप्रथम मेघनाद ने आञ्जनेय के विरुद्ध अशोक वाटिका में ब्रह्मपाश का प्रयोग किया था। बाद में महासमर में उसने राघव बन्धुओं को नाग–पाश से आबद्ध किया था। राघवेन्द्र द्वारा अप्रयुक्त शक्तिशाली 'वरुणपाश' का उल्लेख अनेकशः हुआ है।[16]

धातुनिर्मित गोल आकार का चक्र अपनी अचूक मारक क्षमता के लिए सर्वख्यात् आयुध है। भगवान विष्णु को अतिप्रिय इस परमायुध की प्रमुख विशेषता यह है कि यह लक्ष्य का पीछा कर उसका भेदन कर वापस पुनः अपने स्वामी के पास लौट आता है। इन्द्र के पास भी धातु–निर्मित चक्र रहा है।[17] महर्षि विश्वामित्र ने ज्येष्ठ दशरथनन्दन को 'ऐन्द्र–चक्र' के प्रयोग की विधि बतलाई थी। किन्तु उन्होंने इसका प्रयोग कभी नहीं किया। चक्र के धारण, सेवन एवं उपबृंहण की प्रक्रिया के जटिल होने के कारण कालान्तर में यह अस्त्र उतना अधिक लोकप्रिय नहीं रह सका। इसके धारणकर्ता में अदभुत शारीरिक बल, मानसिक पवित्रता, मंत्रों को आत्मसात् करने की क्षमता तथा चमत्कारिक हस्त–लाघव आवश्यक है।

लंका के महासमर ने हम वानरों को युद्ध के आधुनिकतम् आयुधों की महत्ता से सुपरिचित करा दिया है। अन्यथा हम अश्मयोधी (प्रस्तर खण्डों से लड़ने वाले) अथवा वृक्ष–योधी वानर अपने शारीरिक सौष्ठव एवं चपलता को ही अपना प्रमुख आयुध मान शत्रुओं के समक्ष अपने अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न कर लेते। यही कारण है कि अपने अयोध्या प्रवास में मन ही मन किये गये निश्चय के अनुरूप हमने कतिपय आचार्यों से युद्ध के आधुनिकतम आयुधों एवं धनुर्वेद के प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षित व्यक्तियों की व्यवस्था का अनुरोध कर लिया था।

लंकायुद्ध में दुरात्मा राक्षसों द्वारा अश्मयोधी एवं द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारने वाले वानर योद्धाओं के विरुद्ध यन्त्रचालित दिव्यास्त्रों अथवा रसायनिक अस्त्रों का खुलकर प्रयोग किया गया। युद्ध में प्रायः

समान स्तर के योद्धाओं अथवा समान शस्त्र–अस्त्र धारण करने वाले योद्धाओं से ही युद्ध को न्यायसंगत बताया जाता है। कपटयोधी राक्षसों ने इस नीति का खुला उल्लंघन किया। राक्षसों में दशानन के अतिरिक्त मेघनाद, अतिकाय, नरान्तक, देवान्तक, त्रिशिर (रावणपुत्र), प्रहस्त एवं धूम्राक्ष जैसे सेनानी दिव्यास्त्रों के ज्ञाता तथा संग्रहकर्ता थे। हमारे पक्ष में राघव बन्धुओं के अतिरिक्त मात्र विभीषण ही दिव्यास्त्रों का सन्धान कर सकते थे। रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, इन्द्रजित तथा अतिकाय ने कठोर साधना कर देवाधिदेव महादेव तथा ब्रह्मदेव से वरदान के रूप में कतिपय दिव्यास्त्रों का संग्रह किया था। कतिपय महत्त्वपूर्ण दिव्यास्त्रों का संक्षिप्त उल्लेख अधोलिखित है–

सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव द्वारा आविष्कृत एवं अपने भक्तों को प्रदत्त ब्रह्मास्त्र की मर्यादा की रक्षा के प्रति त्रिदेवों में मान्य महादेव एवं श्री विष्णु दोनों सजग थे। भगवान विषु के अंशावतार के रूप में सुख्यात् हो रहे श्री राम शेषावतार लक्ष्मण तथा शंकरसुवन हनुमान को इस परमास्त्र को महत्त्व देना ही पड़ा। अभिमंत्रित ब्रह्मपाश अथवा ब्रह्मास्त्र द्वारा ही मेघनाद ने पराक्रममूर्ति हनुमान को अशोक वाटिका में बन्दी बनाया था।

लंका–युद्ध में राघव नरश्रेष्ठों के नेतृत्व में राक्षसों पर चतुर्दिक प्रहार कर रहे वानर सेनानियों के आक्रमणों से घबड़ा कर इन्द्रजित् ने श्री राम तथा श्री लक्ष्मण को प्रमुख रूप से लक्ष्य कर ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया था। रावणपुत्र के शरासन से ब्रह्मास्त्र के छूटते ही मानों तीनों लोक त्रस्त हो गये थे। भूलोक तथा अन्तरिक्ष दोलायमान हो रहे थे। पर्वत थर्रा उठे थे। चतुर्दिक घोर अन्धकार छा गया था। श्री राम तथा उनके अनुज ने ब्रह्मास्त्र के प्रति पूर्ण सम्मान प्रकट करते हुए उसका कोई प्रतिरोध नहीं किया था। परिणामस्वरूप वानरों की व्यापक क्षति हुई तथा उनके सर्वोच्च सेनापति श्री राम अपने अनुज के साथ मूर्च्छित हो गये। राक्षस कुल का होने के कारण विभीषण पर इका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वज्रांग हनुमत् द्वारा हिमवान

पर्वत शिखर से लाई गईं मृत्संजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्णकरणी तथा सन्धानकरणी औषधियों के द्वारा न केवल राघवबन्धु पुनः चैतन्य हुए वरन् सम्पूर्ण वानर सेना को पुनर्जीवन मिल सका था।

लंकायुद्ध में ब्रह्मास्त्र का अन्तिम किन्तु प्रथम प्रयोग रघुपति श्रीराम द्वारा रावण के विरुद्ध किया गया। उनके द्वारा अगस्त्य महामुनि द्वारा प्रदत्त बाण को ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित करते ही सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठी थीं प्राणिमात्र भयभीत हो उठे थे। रावण का वध होते ही प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र एक विनम्र सेवक की भाँति वापस आ राघवेन्द्र के तूणीर में प्रविष्ट हो गया।[18]

ब्रह्मदेव द्वारा रावण को प्रदत्त ब्रह्म–शक्ति भी एक अमोघ आयुध के रूप में प्रसिद्धि पा चुकी थी। लक्ष्मण भैया से द्वन्द्व–युद्ध में पार न पाकर लंकेश ने उन पर अमोघ ब्रह्म–शक्ति का प्रयोग किया थां इस शक्ति के प्रहार से रामानुज मूर्च्छित हो गये थे। इस घटना से क्रोधित श्री राम ने रावण का रथ–भंग कर उसको समुचित उत्तर दिया था। रावण के सारथि तथा अश्व मारे गये थे। उसका धनुष भी प्रभु श्री राम ने अपने तीक्ष्ण बाण–प्रहार से खण्डित कर दिया था। ध्वज–छत्र, मुकुट तथा शिरस्त्राण से रहित रावण असहाय अवस्था मे पृथ्वी पर खड़ा था। यदि राघव श्रेष्ठ चाहते बड़ी सरलता से उसका वध कर सकते थे किन्तु वह तो साक्षात् धर्मावतार हैं। उन्होंने रावण को प्राण दान देते हुए एक अवसर प्रदान किया ताकि वह लंका जा अपने बचे–खुचे संसाधनो के साथ पुनः रण–भूमि में वापस आ सके।

वायव्यास्त्र के प्रयोग से उठी भयंकर आँधी शत्रु के पर्जन्यास्त्र को तो शान्त करती ही है उसके प्रयोग से शत्रुपक्ष के पाँव उखड़ जाते हैं। भयंकर आँधी में उनके सैनिकों, गजों, अश्वादि के नेत्रों की ज्योति व्यर्थ हो जाती है। शत्रु–मित्र का भेद मिटते ही शत्रुपक्ष अपने ही स्वजनों का संहार तथा संसाधनों का विनष्टीकरण करने लगता है। प्रभु श्री राम ने उस समय पहली बार इस परमास्त्र का प्रयोग खर, दूषण तथा उसके चौदह हजार सैनिकों के विरुद्ध उस समय

किया था जब उनको इस राक्षस सेना से एकाकी युद्ध करना पड़ा था। कुम्भकर्ण की दाहिनी भुजा के उच्छेदन के समय उन्होंने इसी दिव्यास्त्र का प्रयोग किया था। वायव्यास्त्र का निरोधक दिव्यास्त्र पर्वतास्त्र है। पर्वत शिखरों की भाँति इस अस्त्र से वायु के प्रकोप को शान्त किया जाता है। भैया लक्ष्मण ने इस अस्त्र के महत्त्व के सम्बन्ध में मुझको बताया था।

'पर्जन्यास्त्र' अथवा 'वारुणास्त्र' के प्रयोग से छाये बादलों की घनघोर वर्षा शत्रुपक्ष में भगदड़ मचा देती है। रथों एवं अश्वों के लिए इस अस्त्र का प्रयोग विशेष प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला होता है। कभी–कभी वारुणास्त्र के प्रयोग से धरती से पानी निकाला जाता है। इस अस्त्र का प्रयोग कर मरुस्थल में भी वर्षा की जा सकती है।[19] सामान्यतया आग्नेयास्त्र के दुष्प्रभावों को कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से समरभूमि रथ–युद्ध के लिए अनुपयुक्त बन जाती है।

अपनी भयंकर ज्वाला से शत्रुपक्ष को दग्ध करने वाला आग्नेयास्त्र एक अत्यन्त प्रभावशाली दिव्यास्त्र है। सौमित्र–मेघनाथ युद्ध में रावणपुत्र ने रामानुज तथा वानर–सेना पर इस दाहक अस्त्र का प्रयोग किया था। इसका प्रयोग होते ही अग्नि की भयंकर लपटें उत्पन्न होती हैं। इन्द्रजित द्वारा सन्धानित आग्नेयास्त्र के दुष्प्रभाव से अपनी तथा अपने सैनिकों की रक्षार्थ श्री लक्ष्मण ने 'विष ही विष के प्रभाव को नष्ट करता है'' के सिद्धान्त के अनुसार अग्नि के प्रकोप को शान्त करने के लिए सौरास्त्र (सूर्यास्त्र) का प्रयोग किया था।[20] वस्तुतः राक्षस युवराज सुमित्राकुमार द्वारा अपने अमोघ रौद्रास्त्र के सफल प्रत्यावारण (शान्त करने की क्रिया) से अत्यन्त कुपित था। इसी भाँति अग्नेयास्त्र की विफलता के पश्चात् मन्दोदरी पुत्र ने अत्यन्त घातक 'आसुरास्त्र' का प्रयोग किया था। इस अस्त्र के प्रयोग से युद्धभूमि में वानरों पर कंटीले मुग्दर, शूल, गदा, खड्ग आदि की वर्षा होने लगी थी। इस महा–अस्त्र को निष्प्रभावी करने के उद्देश्य से

रामानुज ने परम शक्तिशाली ''महेश्वरास्त्र'' का प्रयोग किया था।[21] वानरसेनापति नील के साथ द्वंद्व–युद्ध में अपने प्राण तथा प्रतिष्ठा को संकटग्रस्त देख लंकेश ने नील पर घातक आनेयास्त्र का प्रहार किया था। अग्निपुत्र होने के कारण ही परम बलशाली नील मात्र मूर्च्छित हुआ था।

'रौद्रास्त्र' के अधिष्ठाता देवता रुद्र हैं। इस महाविनाशकारी दिव्यास्त्र के प्रयोग का आकाश में भयंकर विस्फोट होता है तथा उससे निकले विभिन्न प्रकार के घातक शस्त्रास्त्रों से शत्रुपक्ष में विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। श्री राम ने लंकायुद्ध में कुम्भकर्ण के विरुद्ध रौद्रास्त्र, वायव्यास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, सूर्यास्त्र आदि का प्रयोग किया था। सर्वप्रथम रौद्रास्त्र का प्रयोग कर रघुकुलभूषण राम ने कुम्भकर्ण को श्रीहत तथा शक्तिहीन किया था। रावण ने रौद्रास्त्र का प्रयोग कर प्रतिपक्षियों पर शूल, मुग्दर, कपटपाश आदि की वर्षा की थीं आकाश में विस्फोट से अग्रिम पंक्ति को भेदने वाले शास्त्रास्त्रों का निराकरण उनकी गति तथा अप्रत्याशिता के कारण असंभव सा था।

'गान्धर्वास्त्र' का प्रयोग करते ही आकाश में एक अति तेजस्वी प्रकाश–पुञ्ज उत्पन्न होता है, जिससे घातक शस्त्रों तथा बाणों की वर्षा सी होने लगती है। श्री राम द्वारा इस परमास्त्र के प्रयोग तथा प्रभाव से रावण जैसा दिव्यास्त्रवेत्ता भी आश्चर्यचकित रह गया था। मौशलगान्धर्वास्त्र से मुशलों की वर्षा होती है। प्रभु श्री राम के अतिरिक्त अन्य कोई योद्धा इस महा–अस्त्र के प्रयोग में निपुण नहीं है।

'सौरास्त्र' अथवा सूर्यास्त्र के प्रयोग करने पर यह दिव्यास्त्र आकाश में भयंकर विस्फोट करता है। उस विस्फोट से सैकड़ों प्रकाशपुञ्ज उत्पन्न होते हैं। इससे तामसास्त्र, मायास्त्र अथवा असुरास्त्र द्वारा उत्पन्न अंधकार तुरन्त समाप्त हो जाता है। इन प्रकाश पुञ्जों से तीक्ष्ण एवं धारदार शस्त्रास्त्रों के सैकड़ों टुकड़े निकल कर शत्रुपक्ष

को आहत अथवा नष्ट करते हैं। अग्निपुञ्जों की आकस्मिक वर्षा के कारण समरभूमि का तापमान सहसा अत्यन्त बढ़ जाता है। रावण द्वारा मयदानव निर्मित मयासुरास्त्र के प्रयाग से वानरसेना पर हो रहे शूल, गदा, मूसल, मुद्गर,मशनि के प्रहारों से अपने समर्थकों की रक्षार्थ ज्येष्ठ दशरथनन्दन ने गान्धर्वास्त्र का प्रयोग किया था। इस कृत्य से क्षुब्ध रावण ने सूर्यास्त्र अथवा सौराष्ट का प्रयोग किया। जिसके साथ आकाश में प्रकाश छा गया सम्पूर्ण दिशायें एक साथ दीप्त हो उठी थी। अतुल पराक्रम कौशल्यानन्दन द्वारा अपने विभिन्न प्रहारों से सौरास्त्र के प्रकोप को शान्त कर दिया गया।

महर्षि विश्वामित्र तथा महामुनि अगस्त्य द्वारा प्रदत्त दिव्यास्त्रों, दिव्य– धनुष–बाणों एवं अन्य शस्त्रास्त्रों के अक्षय भाण्डार के पश्चात् भी राघव बन्धुओं ने दिव्यास्त्रों के प्रयोग में स्यात् ही कभी पहल किया हो। इन्द्रजित द्वारा बार– बार कपट युद्ध का आश्रय लेने तथा ब्रह्मास्त्र एवं नागपाश द्वारा रघुनन्दन द्वय को मूर्च्छित करने बाद ही उर्मिलानाथ ने एन्द्रास्त्र का प्रयोग कर सुलोचना के पति मेघनाथ का शिरोच्छेद किया था।

रथी रावण जैसे प्रचण्ड पराक्रम तथा दिव्यास्त्रवेत्ता योद्धा ने पैदल युद्ध कर रहे अश्मयोधी (पत्थर से युद्ध करने वाले) तथा वृक्षों के दण्ड, मूसल अथवा शाखाओं से युद्धरत वानर सेनापति नील पर आग्नेयास्त्र का प्रयोग कर युद्ध–नियमों की धज्जियाँ उड़ाई थीं। इसी भाँति उसने राघव बन्धुओं पर ब्रह्मास्त्र, आसुरास्त्र, और सूर्यास्त्र का प्रयोग किया था।

लंका के महायुद्ध में ज्येष्ठ रघुवीर ने कुम्भकर्ण के विरुद्ध रौद्रास्त्र वायव्यास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र, सूर्यास्त्र, वज्रास्त्र आदि का प्रयोग किया था। मकराक्ष का वध उन्होंने अपने आग्नेयास्त्र द्वारा किया था।

भैया लक्ष्मण ने रावणपुत्र महाबली अतिकाय का वध अपने

ब्रह्मास्त्र से किया था। इसके पूर्व अतिकाय द्वारा रामानुज के विरुद्ध सूर्यास्त्र याम्यास्त्र के प्रयोग पर भैया लक्ष्मण, आग्नेयास्त्र, ऐन्द्रास्त्र तथा वायव्यास्त्र का प्रयोग कर चुके थे।

प्रभु श्री राम तथा लंकेश रावण के मध्य हुआ संग्राम अब तक के युद्ध–इतिहास का अपूर्व महासंग्राम रहा है। वस्तुतः राम–रावण यद्ध की तुलना यदि किसी युद्ध से की जा सकती है तो वह राम–रावण के मध्य हुआ युद्ध ही है। इस युद्ध में भी पहल रावण द्वारा ही की गई। दशग्रीव के गान्धर्वास्त्र का शमन अपने गान्धर्वास्त्र तथा उसके देवास्त्र का निराकरण अपने देवास्त्र से कर राक्षससूदन श्री राम ने रावण को यह सन्देश दे दिया था कि राक्षसराज के दिव्यास्त्रों का सामना दियास्त्रों से करने में वह सर्वथा सक्षम हैं। रावण के सर्पास्त्र एवं राक्षसास्त्र को सीतापति ने अपने गारुड़ास्त्र से नष्ट किया था। सानुज श्री राम के बध के निमत्त रावणद्वारा सन्धानित महाशूलास्त्र का निराकराण प्रभु ने इन्द्र–शक्ति द्वारा किया था। अपने प्रचण्ड सायकों द्वारा एक–एक कर दशग्रीव के दशों सिर के उच्छेदन के बाद भी उसकी मृत्यु न होते देख लोककण्टक राक्षसराज के वध के लिए कृत्संकल्प श्री राम ने अभिमंत्रित ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। जिसके प्रयोग से प्राण हीन होकर रावण के धराशायी होते ही राक्षसों के आतंक के अध्याय का सदैव के लिए पटाक्षेप हो गया था।

रावण के वध का समाचार लंका में प्रचारित क्या हुआ? दुर्ग के उत्तर द्वार से श्वेतवासना सैकड़ों राक्षसियों का समूह अपने करुणक्रन्दन से सम्पूर्ण वातावरण को शोकसंतप्त करता हुआ निकल पड़ा। राजपरिवार के स्त्रियों के उस समूह में प्रत्येक आयुवर्ग की महिलायें थीं। किसी का पुत्र रणभूमि में मारा गया था तो किसी का पौत्र। किसी का पति, किसी का पिता, किसी का भाई, किसी का भ्रातृज– कोई न कोई परिजन युद्ध की भेंट चढ़ा था। धूल में लोटती, सिर धुनतीं, छाती पिटती, रोती–चिल्लाती महिलाओं को अपने–अपने परिजनों के शव की खोज थी। चूँकि रावण के निर्देश पर मृतक

राक्षसों के शवों को समुद्र में फेंक दिया जाता था अतएव अधिकांश को निराशा हाथ लगी। यह बात अब लंका में सर्वज्ञात हो चुकी थी, अतएव धीरे–धीरे उनका शोक रावण के प्रति रोष में बदलने लगा। मन्दोदरी, धन्यमालिनी तथा सर्वांग सुन्दर नाग एवं यक्ष–गन्धर्व बालाओं को अन्तःपुर में रखने के पश्चात् भी स्त्रीलोभी रावण की कामतृष्णा देवी सीता के हरण का कारण बनी थी। मृतक रावण के शव की उपेक्षा करती राक्षस–नारियाँ स्पष्ट शब्दों में रावण की निन्दा करने लगी थी।

सहसा रोती–कलपती नारियों के समूह में सन्नाटा छा गया। हम वानरों ने विस्फारित नेत्रों से देखा अद्वितीय सैन्दर्य की स्वामिनी श्वेतवसना गरिमामयी नारी के नेतृत्व में स्त्रियों का एक समूह दुर्ग के उत्तरी द्वार से निकल कर राक्षसियों के बीच से होता हुआ रणक्षेत्र में रावण के शव के निकट पहुँच रहा है। साश्रुनयन विभीषण ने श्री राघवेन्द्र के पूछने पर बताया कि ''नारी–समूह का नेतृत्व कर रही महिमामयी नारी रावण की राज–महिषी मयदानव कन्या मन्दोदरी है। युवराज मेघनाद की माँ के ठीक पीछे रावणपुत्र महाबली अतिकाय की माँ धन्य मालिनी है। शेष स्त्रियाँ रावण की उपपत्नियाँ हैं जिनको रावण देवलोक, यक्षलोक, गन्धर्वलोक एवं नागलोक से जीत कर लाया था।

मयदानव की सुसंस्कार सम्पन्ना, पतिपरायणा बिटिया मन्दोदरी रावण के शव को देखते ही फूट–फूट कर रो पड़ी। अन्य रावण पत्नियों ने उसका अनुकरण किया। अपने साथ आई हुई रावण–पत्नियों की ओर उचटती दृष्टि डाल मन्दोदरी ने रावण के शव को सम्बोधित करते हुए कहा थ कि''आपके अन्तःपुर में देवी सीता से अधिक सुन्दर रूपवाली युवतियाँ विद्यमान थीं, परन्तु काममोहित आप यह समझ नहीं सके। मिथिलेशकुमारी सीता न तो कुलीनता में; न ही सौन्दर्य में और न ही दाक्षिण्य में ही मुझसे बढ़ कर हैं। वह मेरे समान भी नहीं हैं, किन्तु मोहवश आपका ध्यान इस ओर नहीं गया।–––

दानवराज मय मेरे पिता, राक्षसराज रावण मेरे पति तथा इन्द्र पर विजय प्राप्त करने वाला मेघनाद मेरा पुत्र है, यह सोच मैं सदैव गर्व से भरी रहती थी।––– सर्वगुण–सम्पन्न आपको समरभूमि में ध ाराशायी देख कर भी मैं जीवित हूँ यह मेरी पाषाण ह्रदयता का परिचायक है।––––– आज मेरे मुख पर घूँघट नहीं है। मैं नगर–द्वार से यहाँ तक पैदल चलकर आई हूँ। इस दशा में मुझको देख कर भी आप क्रोध क्यों नहीं कर रहे हैं? आज आपकी सभी पत्नियाँ लोकलाज छोड़ बिना घूँघट डाले यहाँ आई हैं, फिर भी आपको क्रोध क्यों नहीं आ रहा है?––––– आप द्वारा गुरुजनों की सेवा में लगी रहने वाली, धर्मपरायणा तथा पतिव्रता स्त्रियों को विधवा बनाने का पाप तथा शाप आपके अन्त का कारण बना है।––––– विलाप करती मन्दोदरी सहसा रावण के शव के वक्ष स्थल पर गिर पड़ी। साथ आई अन्य रावण–पत्नियों ने मन्दोदरी को धैय बँधाया। महारानी मन्दोदरी का दारुण विलाप सहसा मुझको वानरराज के वध के उपरान्त माता तारा के विलाप का स्मरण करा गया।

युद्ध का परिणाम मानवीय दृष्टिकोण से विजेता एवं विजित दोनों पक्षों के लिए प्रायः विनाशकारी होता है। स्वजनों का विछोह, युद्ध–जनित विकलांगता का दुःख विजेता तथा पराजित में कोई भी भेद नहीं रकता है। किन्तु यह भी सच है कि युद्ध के उपरान्त उभयपक्षों के मध्य आर्थिक समृद्धि तथा सांस्कृतिक विकास के नये द्वार भी खुलते हैं। आर्यों, राक्षसों तथा वानरों के मध्य स्थापित सम्बन्धों के परिणामस्वरूप तीनों जहाँ एक दूसरे के निकट आये वहीं उनमें परस्पर विश्वास तथा स्नेह–सम्बन्ध भी स्थापित हुए। लंका तथा किष्किन्धा ने आर्य संस्कृति के साथ ही साथ आर्यों की धार्मिक उदारता, व्यवसायिक तथा बौद्धिक क्षमताओं का भी स्वागत किया। इसका सर्वाधिक सुखद प्रभाव आर्थिक सांस्कृतिक तथा सामरिक दृष्टि से पिछड़े वानरों पर पड़ा। किष्किन्धा महानगरी आर्य तथा राक्षस व्यवसायियों, आर्य–ऋषि–मुनियों के आवागमन का प्रमुख

केन्द्र बन गई। वानर स्थायी कृषिकर्म तथा पशुपालन एवं व्यवसाय के प्रति नये दृष्टिकोण तथानये उत्साह के साथ अग्रसर हुए।

प्रायः लोग घटित घटनाओं से महानता प्राप्त करते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जिनसे सम्बन्ध होने के कारण घटनायें महान बन जाती हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम से सम्बन्धित व्यक्ति तथा घटनाओं के साथ यही होता है। स्वयं को सभ्य, सुसंस्कृत तथा विकसित मानने वाले समाज में तथाकथित ऐसे मनीषियों की कमी नहीं है, जो हम वानरों को अर्द्धसभ्य तथा दलित मानते रहे हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का सान्निध्य एवं विश्वास क्या मिला हम वानरों ने समुद्र पर सेतुबन्धन के असंभव कार्य को संभव कर दिखाया। अपने अतिपुरातन आयुधों का आश्रय ले हमने विश्व की सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न एवं आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों और संसाधनों से युक्त रावण की सुसज्ज चतुरंगिणी सेना का सफलतापूर्वक दमन करने का चमत्कारित कार्य कर दिखाया। यह प्रभु श्री राम की कृपा का फल है कि सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक दृष्टि से दलित मान्य वानर जाति रावण की राक्षसी शक्ति के अन्त के साथ ही रातों रात विश्व–विश्रुत बन गई।

राजनीति के प्रायः सभी विचारकों तथा युद्धाचार्यों की यह मान्यता रही है कि किसी भी राज्य अथवा राजा की सैन्य शक्ति का वास्तविक आधार उसका ''मौल'' बल होता है। इसी को भृत्यबल अथवा वैतनिक सैन्य–बल या राज्य की स्थाई सैन्यशक्ति भी कहा जाता है। मित्र–बल, द्विषदबल आदि का स्थान इसके पश्चात् माना जाता है। प्रभु श्री राम ने अपने आकर्षक व्यक्तित्व, अद्‌भुत सांगठनिक क्षमता, अद्वितीय गुणग्राहकता, परमोदरता तथा अतुलनीय व्यवहारिकता के बल पर महाराज सुग्रीव के मित्रबल की सहायता से नाग, असुर, देव, दानव, गन्धर्व, सैन्य–शक्तियों को धूल चटाने वाले रावण की अजेय सैन्यशक्ति का विध्वंस कर युद्धाचार्यों द्वारा स्थापित मान्यता को अन्यथा कर दिखलाया। प्रभु श्री राम ने इस युद्ध में विजय प्राप्त

कर इस नई मान्यता को सुस्थापित कर दिया क उच्च मनोबल, कर्त्तव्यपरायण, वास्तविक स्वामिभक्ति के बल पर अपेक्षया हीन संसाधनों तथा सामान्य आयुधों के रहते हुए भी आधुनिकतम संहारक शास्त्रास्त्रों से युक्त सुसज्ज सेनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

प्रभु श्री राम के व्यक्तित्व का स्नेहिल तथा चुम्बकीय आकर्षण बेजोड़ है। जो भी व्यक्ति चाहे जिस किसी कारणवश उनके सम्पर्क में आ गया, वह उन्हीं का होकर रह गया; उनका अन्ध–भक्त बन कर। अद्‌भुत एवं अमोघ दिव्यास्त्रों के अद्वितीय संचालक तथा संग्रहकर्ता होते हुए भी परमकारुणिक रघुनाथ, यथा संभव विध्वंसक तथा लोकपीड़क महा–अस्त्रों के प्रयोग से बँचते रहे। उनके पास नारायणास्त्र, वैष्णाणवास्त्र, पाशुपातास्त्र, ब्रह्मदण्ड, ऐषीकास्त्र, ब्रह्मशिर, सम्मोहनास्त्र, पञ्चमहाचक्रास्त्र (दण्ड, धर्म, काल, विष्णु तथा ऐन्द्र) मदनास्त्र, मानवास्त्र, पर्जन्यास्त्र, शोषणास्त्र, सन्तापनास्त्र, विलापनास्त्र आदि अमोघ एवं संहारक दिव्यास्त्र थे, किन्तु उन्होंने इनका प्रयोग कभी नहीं कया। इनका प्रयोग कर वह अपने परम भक्त विभीषण को प्रजा के रूप में अन्धों, विकलांगों, अस्वस्थ जनों का समूह नहीं देना चाहते थे।

देवी वैदेही के अनुसन्धान के पश्चात् आञ्जनेय से लंका की सामरिक– भौगोलिक स्थिति का परिचय प्राप्त कर ज्योतिष विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित राघवेन्द्र ने किष्किन्धा के प्रस्रवण गिरि से दक्षिण–पूर्व दिशा में स्थित लंका पर विजय–प्राप्ति के लिए सर्वथा मंगलप्रद आभिजित अथवा विजय मुहुर्त में प्रस्थान किया था। अपनी सामरिक प्रतिभा तथा नेतृत्व क्षमता की एक झलक उन्होंने प्रयाणरत वानर यूथपों सहित सेनापति नील को अपने प्रथम सम्बोधन में ही दे दिया था। उक्त सम्बोधन में उन्होने कहा था, ''सेनापति नील! वानर–सेनाओं को उस मार्ग से ले चलो जिसमें शीतल छाया वाले वन–वृक्ष तथा पीने योग्य स्वच्छ–शीतल जल उपलब्ध हो। ध्यान रहे गमन–मार्ग में फल, कन्दमूल, अन्य भोजन सामग्री के साथ वानरों

को अति प्रिय मधु भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। सभी वानरों को पूर्व चेतावनी दे दी जाय कि मार्ग में उपलब्ध जल, फल, मधु आदि का सेवन वह तभी करें जब उनका परीक्षण कर लिया गया हो, क्योंकि उसमें शत्रु द्वारा घातक विष के मिश्रण की संभवना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सभी भाँति कुशल चरों के माध्यम से मार्ग में शत्रु–सेना की टुकड़ियों के होने की सम्भावनाओं को निर्मूल करते हुए प्रयाण किया जाय।

प्रभु श्री राम यह भली–भाँति जानते थे कि युद्धाश्वों तथा गजों से परिपूर्ण दुर्जय (वाजिवारण सम्पूर्णा परम दुर्जया) लंकेश की सुसज्ज चतुरंगिणी सेनाओं पर विजय प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। अतएव उन्होंने युद्ध की उत्कट कामना के साथ आये बालक, वृद्ध एवं अस्वस्थ वानर सैनिको ंको उनकीइच्छा के प्रतिकूल कड़े निर्देश दे किष्किन्धा में ही रहने दिया था। अपने सैनिकों की सुरक्षा तथा अनुशासन के प्रति अत्यन्त सजग वानर सेनाओं के सर्वोच्च सेनाधिपति रघुवीर ने पर्वत के समान विशालकाय गज तथा वृषभ के तुल्य सशक्त महाबली गवाक्ष को प्रयाणरत व्यूहबद्ध वानर–सेना के अग्रभाग में नियुक्त किया था। विशाल वानर–वाहिनी के दक्षिणभाग में शीघ्रगामी वानरों के संरक्षक पराक्रमी कार्यप्रवर ऋषभ तथा वामपार्श्व में परमप्रतापी तथा वेगशाली गन्धमादन को नियुक्त किया था। असंभव को संभव कर दिखलाने की कला में निष्णात पवन पुत्र के विशाल कन्धों पर आरुढ़ श्री राम सेना के मध्य भाग में थे। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे अनुरोध पर भैया लक्ष्मण को अपने कन्धों पर बिठा ले चलने का दायित्व ज्येष्ठ राघव ने मुझको सौंपा था। महाबाहु जाम्बवान, वैद्यशिरोमणि सुषेण तथा महावीर वेगदर्शी को सेना के पृष्ट भाग में रखा गया। वानरराज सुग्रीव प्रभु श्री राम के साथ–साथ चल रहे थे। इस प्रकार श्येन–व्यूह में प्रयाण करती सेना के वक्ष–स्थल पर वानर सेनापति नील को नियुक्त किया गया था। प्रभु श्री राम की इच्छानुसार प्रयाणरत वानरवीरों के लिए सभी महत्त्वपूर्ण आदेश कपीश्वर सुकण्ठ

(सुग्रीव) के माध्यम से निर्गत होने थे।

व्यूह–रचना का वास्तविक उद्देश्य अपनी सैन्यशक्ति का अभेद्य संयोजन तथा उसकी मारक क्षमता को धार–दार बनाना होता है। व्यूह–रचना में रणक्षेत्र का प्राकृतिक स्वरूप, महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्माता है। वानरसेना ने श्येन–व्यूह में आक्रमण किया था किन्तु महासागर के दक्षिणी तट तक पहुँचने के पश्चात् उसको गरुड़–व्यूह में परिवर्तित कर दिया गया। वास्तविक युद्ध के समय भूमि की बनावट के कारण यथावसर दण्ड–व्यूह, वराह–व्यूह, शकट–व्यूह, मकर–व्यूह, सूची–व्यूह, पद्मव्यूह तथा वज्र–व्यू भी अस्तित्व में आये थे।

चारों ओर से शत्रु के आक्रमण की आशंका पर दण्ड–व्यूह की रचना की जाती है। इसमें सेनापति अथवा बलाध्यक्ष अग्रभाग में, राजा मध्य मे तथा दोनों पार्श्वों में महावीरों के नेतृत्व में सेनायें होती हैं।

अगले तथा पिछले भाग में पतला तथा मध्यभाग में फैलाव लिए वराह–व्यूह की रचना पार्श्व भागों से आक्रमण की आशंका पर की जाती है। गरुड़–व्यूह की स्थिति भी समान परिस्थिति में की जाती है। गरुड़ व्यूह में मध्यभाग का विस्तार वराह की तुलना में अधिक होता है।

पीछे से शत्रु के आक्रमण की शंका पर अधिक रक्षात्मक शकट व्यूह की रचना की जाती है। शकट की भाँति चक्र पद्म एवं सूची व्यूह भी रक्षात्मक व्यूह की श्रेणी में आते हैं। कतिपय समर–शास्त्री सूची–व्यूह को आक्रामक व्यूह बताते हैं।

वसिष्ठ धनुर्वेद (श्लोक 51) के अनुसार सम्मुख अथवा अग्रभाग पर आक्रमण की आशंका पर पिपीलिका व्यूह का विन्यास किया जाता है। गरुड़व्यूह शत्रु के पार्श्वभागों से हुए आक्रमण को जहाँ असफल बनाने के लिए प्रयुक्त होता है वहीं पर आक्रामक मकरव्यूह का आश्रय लेकर शत्रु पर कई स्थानों पर धावा बोला जा सकता है।

इसमें अग्रभाग तथा पृष्टभाग में सैनिकों की संख्या अधिक होती है।

पद्म–व्यूह में कमल–पुष्प की भाँति अपनी सेना का विस्तार चतुर्दिक लगभग समान होता है। राजा की स्थिति मध्य में होती है। आक्रामक वज्रव्यूह में सेना का विस्तार तीन ओर अधिक होता है। इसको इन्द्र की देन कहा जाता है। शत्रु बल की संख्या अधिक होने पर इस व्यूह की संरचना की जाती है। इसमें भी राजा की स्थिति मध्य में तथा सेनापति की अग्रभाग में होती है।

युद्धकाल में अपने सैनिकों को उत्साहित, उत्तेजित तथा शत्रु–सेना में निरुत्साह एवं भय उत्पन्न करने के लिए वाद्य यंत्रों का प्रयोग चिरपुरातन है। दुन्दुभि, शंख, भेरी, तुरही, मृदंग आदि वाद्य राक्षस एवं वानर सेनाओं में समान रूप से लोक–प्रिय रहे हैं। इन वाद्यों का वादन एक पूर्ण विकसित कला है। अन्य आयुधों की भाँति इसका भी नियमित प्रशिक्षण दिया जाता है। महत्त्वपूर्ण अवसरों पर वरिष्ठ सेनानी भी अत्यन्त हर्ष तथा उत्साह के साथ अपनी कला का परिचय दिया करते हैं। राक्षस–राज रावण के वध के पश्चात् वयोवृद्ध सेनानी एवं वानरराज के वरिष्ठ–सचिव जाम्बवन्त जी ने स्वयं दुन्दुभि (नगाड़ा) बजा कर वानर सेना को हर्षोन्मत कर दिया था।

दुन्दुभि अथवा नगाड़ा प्रमुख युद्ध–वाद्य है। उसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि, ''दुन्दुभि! तू अपनी ध्वनि से 'पृथ्वी' तथा 'द्यु' दोनों लोकों को भर दे जिससे लोक तेरी महिमा स्वीकार कर ले। इन्द्र तथा अन्य देवताओं द्वारा सेवित हे दुन्दुभि! तू दूर अति दूर से शत्रुओं को भगा दे।[22] देवेन्द्र द्वारा आविष्कृत दुन्दुभि का प्रयोग लंकायुद्ध में दोनों पक्षों द्वारा बार–बार किया जाता रहा है। प्राचीनकाल से ही दुन्दुभि–वादक को सम्मानित कलाकार माना जाता रहा है।

प्राचीन काल से ही शंख योद्धाओं का व्यक्तिगत युद्ध–वाद्य रहा है। प्रभु श्री राम के नेतृत्व में वानरसेना द्वारा लंका पर आक्रमण की सूचना पर लंका में सैकड़ों हजारों (शतसहस्राशः) राक्षसों की

शंखध्वनि से लंका गूँज उठा था। इन्द्रजित द्वारा घायल राम तथा भैया लक्ष्मण के गरुड़ के उपचार से पूर्ण स्वस्थ होते ही हम सभी वानरों ने अपने–अपने शंखों से ध्वनि उत्पन्न कर वानर सेना को नवोत्साह से भर दिया था। इस अवसर पर अनेक वानर यूथपों ने डंका (दुन्दुभि) तथा मृदंग बजाया था। लंकायुद्ध के अनेक अवसरों पर दुन्दुभि, मृदंग तथा शंख का बार–बार प्रयोग किया गया।

लोकनायक श्री राम ने गुरुजनों से प्राप्त धनुर्वेद की शिक्षा को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने में प्रायः बहुजन समाज के कल्याण की भावना को प्रमुखता दी है। करुणा की साक्षात् प्रतिमा, परमोदार श्री राम ने अपने चाहने वालों अथवा भक्तों के हित को सदैव अग्रणी महत्त्व दिया है। मुझे आज भी भली–भाँति स्मरण है कि विधिवत् युद्ध के प्रारम्भ होने की पूर्व–संध्या पर, रावण द्वारा सुबेल पर्वत पर सन्नद्ध वानर सेना का निरीक्षण करते देख कोपाकुल वानरराज सुग्रीव के लंकेश से एकाकी भिड़ जाने पर अयोध्यानाथ ने मुख पर चिन्ता की रेखायें स्पष्ट रूप से उभर आई थीं। वानर–सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति श्री राम की व्याकुलता स्पष्ट हो चुकी थी। हर वानर यूथपति अपने स्वामी की इस आकस्मिक प्रतिक्रिया पर भौचक्का था। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं स्वयं भी आशुंकोपी वानरराज की इस प्रतिक्रिया को आत्माघाती तथा नीति विरुद्ध मानता था। अब तक प्रभु श्री राम के प्रति मेरी व्यक्तिगत धारणा पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी थी। मैं यह भली–भाँति जानता था कि वानरराज, लंकेश के चंगुल में फँस कर मारे गये अथवा बन्दी बन गये तो इस युद्ध को रावण तो बिना लड़े ही जीत जावेगा। सच तो यह है कि मैं पितृव्य की इस प्रतिक्रिया को उनकी मूर्खता मान बैठा था। पितृव्य की सकुशल वापसी ने संभावित महाअनर्थ को टाल दिया था। कपिराज की सकुशल वापसी पर श्री राम को मानो लंका विजय का सुख मिल गया हो। अपनी प्रसन्नता को न छिपाते हुए उन्होंने महाराज सुग्रीव को मीठी झिड़क देते हुए कहा था, ''मित्रवर सुग्रीव! किसी भी राजा, सेनापति अथवा

नायक के लिये युद्धभूमि में आवेश के अतिरेक में अपने प्राणों को संकट में डाल जूझ जाने अथवा आत्म बलिदान कर देने का कार्य सर्वथा निन्दनीय है। युद्ध में अपने तथा अपने अधिकांश योद्धाओं के प्राणें की रक्षा करते हुए विजय प्राप्त कर लेना कहीं अधिक श्रेयस्कर एवं वाञ्छनीय होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है भविष्य में इस प्रकार का अविवेकपूर्ण दुस्साहस आप कदापि नहीं करेंगे।'' सहसा श्री राम में मुझको अपने पिता श्री की छवि दिखलाई पड़ने लगी अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने मुझको समझाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि उन्होंने मेरी माँ की बात मान ली होती तथा आवेश में आकर अपने अनुज की ललकार का निहितार्थ न भुला बैठे होते तो उनको प्राणों से हाथ न धोना पड़ा होता। मैंने मन ही मन यह दृढ़निश्चय किया कि किसी भी परिस्थिति में मैं अपने विवेक पर अपने क्रोध अथवा आवेश को प्रभावी न होने दूँगा।

मानव मनोविज्ञान के साक्षात् अधिष्ठाता हैं प्रभु श्रीराम! अपने समर्थकों तथा भक्तों को समान रूप से स्नेह–आप्लावित रकने की अद्भुत क्षमता है उनमें। चूँकि वानर सेनाओं ने उत्तर दिशा से समुद्र पार कर लंका पर आक्रमण किया था तथा उनका प्रमुख स्कन्धावार लंका के उत्तरदिशा में स्थित सुबेल पर्वत की उपत्यका थी। अतएव सामरिक दृष्टि से लंका के गिरिदुर्ग का उत्तर द्वार सर्वाधिक संवेदनशील था। यही कारण है कि रावण से जूझने तथा उसका सामना करने के लिए उन्होंने स्वयं को अपने अनुज श्री लक्ष्मण सहित लंकेश्वर के सम्मुख नियुक्त किया था। इस नियुक्ति से वानरसेना में तत्काल यह सूचना सुप्रचारित हो गई कि उनका सेनाधिपति सर्वाधिक संकटपूर्ण स्थिति से स्वयं निपटने में विश्वास रखता है।

सबको समान महत्त्व देने तथा एक साथ ले चलने की रघुनन्दन की क्षमता की एक झलक हम वानर–प्रमुख समुद्र सन्तरण के पहिले ही देख चुके थे। दुष्पारणीय महासगर की सुविशालता को देख कर उन्होंने वानर राज सहित समस्त वानरों को सम्बोधित करते

हुए पूछा था कि सुविशाल वानर–वाहिनी किस प्रकार सागर पार कर लंका तक पहुँच सकेगी? एक सच्चे मित्र की भाँति वानरराज ने उनको धैर्य बँधाते हुए कहा था कि हम सभी की यही सोच है। यदि किसी प्रकार हमारी सेनायें समुद्रपार कर लेती हैं तो हमारी विजय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जावेगा। पितृत्य द्वारा प्रतिबोधित होते ही राघवेन्द्र कह उठे थे कि, ''मैं तपस्या से सागर पर सेतु बाँध अथवा उसको सुखा कर सागर पार जाने में सर्वथा समर्थ हूँ।'' तदूपरान्त उन्होंने हनुमान जी से लंकापुरी की आँखों देखी स्थिति सुनाने का अनुरोध किया था।

सन्दर्भ–संकेत

1. पाण्डेय, (डॉ.) अजय कुमार– प्राचीन भारतीय शास्त्रास्त्रों का अध्ययन, प्र. सं. 1991, गोरखपुर, पृ. 213
2. अर्थव0 वे0 1.9.6।
3. वही0 11.0.6 ।
4. वही0 1.10.65
5. यजुवे0 15.10.14 ।
6. ऋ0वे0 7.75.2।
7. पद्म0 पु0 (पातालखण्ड) 16.99।
8. यजुर्0 वे0 16.10 ।
9. धनुर्वेद संहिता, श्लोक 6 ।
10. अग्नि0 पु0 245.14–20।
11. वही0 269.29–30
12. ऋ0 वे0 10.33.2
13. अष्टाध्यायी (पाणिनी) 5.3.119 में पर्शुगण (परशुगण) की गणना आयुध जीवियों में की गई है।
14. स तां मातलिना नीतां शक्तिं वपासव सम्मताम्।
    जग्राह परमक्रुद्धो राघवो रघुनन्दनः।।64।।

    .....

    .....

    सा क्षिप्ता राक्षसेन्द्रस्य तस्मिञ्छूले पपात ह।
    भिन्नः शक्त्या महाशूले निपापत गतद्युतिः।।66।।

    वा.रा.युद्ध. 104.64–66

(रावण द्वारा चलाई गई शक्ति के विरुद्ध श्री राम ने अपनी बाण–वर्षा को व्यर्थ जान अत्यन्त क्रोधपूर्वक मातलि द्वारा लाई गई देवेन्द्र–सम्मानित शक्ति को हाथों में ले लिया.....श्री राम द्वारा सन्धानित वह शक्ति राक्षसराज (रावण) के शूल पर जा पड़ी। उसके प्रहार से खण्डित एवं निस्रतेज हो वह महान् शूल धरती पर जा गिरा)।

15. अग्नि0 पु0 252.6–7 ।

16. ऋ0 वे0 1.24–15; 1.25.21 (2) तैत्ति0 सं0 2.3.13;
(3) महाभा. विराट0 42–5।

17. ऋग्वे0 8.96–99 ।

18. ''स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रकृतच्छविः।
कृतकर्मा निभृतवत् स तूणीं पुनराविशत्।।20।।
वा0रा0 युद्ध0 108.20
(रावण का वध कर श्री राम का वह रक्तरंजित बाण अपना कार्य पूरा कर (रावण का अन्त कर) एक विनीत सेवक की भाँति श्री राघव के तूणीर (तरकस) में पुनः लौट आया।)।

19. ऋग्वे0 1.38.7।

20 सौरेणास्त्रेण तद् वीरो लक्ष्मणः पर्यवारयत्।
अस्त्रं निवारितं दृष्ट्वा रावणिः क्रोधमूर्च्छितः।।57।।
वा.रा. युद्ध. 91.57
(वीर लक्ष्मण द्वारा अपने सूर्यास्त्र के प्रयोग से मेघनाद के अग्नेयास्त्र को शान्त देख रावण कुमार इन्द्रजित् अचेत सा हो गया।)

21. ''तद् दृष्ट्वा लक्ष्मणः संख्ये घोरमस्त्रमथासुरम्।।59।।
अवार्य सर्वभूतानां सर्वशास्त्रविदारणव्।
माहेश्वरेण द्युतियांस्तदस्त्रं प्रत्यवण्रयत्।।60।।

वा.रा. युद्ध. 99.59–60

(रणभूमि में इन्द्रजित के भयंकर आसुरास्त्र को प्रकट हुआ देख तेजस्वी रामानुज ने सम्पूर्ण अस्त्र–शस्त्रों को विदीर्ण करने वाले माहेश्वरास्त्र का प्रयोग किया। संसार के समस्त प्राणियों के लिए अनिवारणीय उस माहेश्वरास्त्र द्वारा श्री लक्ष्मण ने आसुरास्त्र को नष्ट कर दिया।)

22. ऋग्वे0 26–47–6।

23. यजुर्0 35.6 ।

• • • •

– 5 –
प्रतिष्ठा

जम्बूद्वीप, हिमवर्ष, भारतवर्ष आदि विभिन्न नामों से सुख्यात् हमारा देश चिकित्सा–विज्ञान की दृष्टि से पुराकाल से ही अत्यन्त समुन्नत रहा है। भगवान शिव ने शीशरहित मृत बालक गणेश के सिर के स्थान पर गज–शावक के सिर का प्रत्यारोपण कर उसको पुनर्जीवित कर दिया था। अश्विनी कुमार नामक दोनों भाई अपने समय के सर्वश्रेष्ठ देव–चित्सिक थे। देवगुरु बृहस्पति का चिकित्सकीय ज्ञान अद्भुत था। दैत्याचार्य शुक्र तो मृतकों को पुनः जीवन–दान देने में सक्षम थे। मानव श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने भारतीय प्रायद्वीप में कायचिकित्सा को व्यवस्थित रूप दिया था। आज के चिकित्सकगण भी इन महान प्राणाचार्यों को आज भी अपना आदर्श मानते हैं।.... उनका श्रद्धापूर्वक नमन एवं स्मरण करते हैं।

चिकित्साशास्त्र में अस्वस्था अथवा बीमारी को 'आमय'[1]; रोगी[2]; व्याधि[3] से इंगित किया जाता है। अस्वस्थ व्यक्ति को प्रायः 'आतुर'[4] कहा जाता है। मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ विक्षिप्त के लिए 'चित्तमोह' या उन्माद[5] तथा 'गर्भपात' के लिए 'गर्भ–परिस्रव'[6] शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'कुब्ज' (कुबड़ापन), उन्माद (पागलपन या पूर्णविक्षिप्तता), 'नेत्रात्तुर' (नेत्र–रोग) 'वातगति' (गठिया), ब्रण (घाव) 'व्याधित' (दीर्घ रोगी) आदि बहु–प्रयुक्त चिकित्सकीय शब्द हैं।

चिकित्सकों अथवा वैद्यों को समाज में अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। अपने अयोध्या प्रवास के समय हम वानरों ने स्वयं देखा है कि इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी में वैद्यों का अत्यधिक सम्मान है। राजसभा में राजवैद्य अथवा कुशल चिकित्सकों के पहुँचने पर अवधेश तक अपने आसन से उठ कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। राज्य के कुशलतम् वैद्यों अथवा चिकित्सकों को ''राजवैद्य''

का अतिसम्मानित पद दिया जाता है। प्रभु श्री राम तथा उनके अनुज सौमित्र की वनवास–अवधि में राजकुमार द्वय भरत एवं शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में महाराज दशरथ की आकस्मिक मृत्यु पर उनके शव को विकृत होने से बचाने के उद्देश्य से राजवैद्य द्वारा उसको रसायन–मिश्रित तैल में रखा गया था।

मेरे आदरणीय मातामह श्री सुषेण की गणना जम्बूद्वीप के श्रेष्ठतम प्राणाचार्यो (चिकित्सकों) में की जाती है। किष्किन्धा–स्थित उनके चिकित्सालय में भरतखण्ड के आर्य, दैत्य, दानव, नाग, राक्षस, ग्रीध, गरुड़, शबर आदि विभिन्न मानव समूहों के शिष्यगण अबाध रूप से आते रहते हैं। किष्किन्धा की उनकी प्रयोगशाला तो विश्व की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सालय के रूप में सुख्यात है। यही कारण है कि इन्द्रजित् द्वारा राघव बन्धुओं को ब्रह्मास्त्र से आहत एवं मूर्च्छित होने पर पितृव्य सुग्रीव ने नाना जी से आवश्यकता होने पर दोनों भाईयों को कष्किन्धा भेजने के सम्बन्ध में पूछा था। मातामह ने उनके सुझाव पर असहमति व्यक्त करते हुए पवनपुत्र को महोदय गिरि पर भेज वहाँ से मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी तथा सन्धानी नामक महा औषधियों को लाने का सुझाव दिया था।

कायचिकित्सा के सर्वोच्च ज्ञाता मातामह आहत, अस्वस्थ, यहाँ तक कि मृत्प्राय व्यक्ति को भी स्वचयनित महौषधियों के लेप तथा गंध मात्र से पूर्ण स्वस्थ कर देने की कला में सिद्ध–हस्त हैं। रावण की शक्ति के प्रहार से मूर्च्छित सुमित्राकुमार को उन्होंने पवनपुत्र द्वारा लाई गई दिव्य औषध्यिों से निर्मित रस की कतिपय बूंदों को ही उनकी नासिका मे डाल पूर्णरूप से स्वस्थ कर दिया था।

वैद्यशिरोमणि श्री सुषेण ने लंका की युद्धभूमि में अपने अद्‌भुत एवं अश्रुतपूर्व चिकित्सकीय ज्ञान के चमत्कारी प्रदर्शन से चिकित्साशास्त्र के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया था। युद्धभूमि में अपने सैन्यशिविर में प्रत्येक पक्ष सुरक्षित स्थान पर चिकित्सा शिविरों की स्थापना करता है। हम वानरों ने भी ऐसे शिविर स्थापित किये थे

किन्तु वे शिविर उनके चिकित्सकीय चमत्कारों के कारण प्रायः खाली ही रहे। युद्धभूमि में आहत वानर योद्धा उनके प्राथमिक उपचार से ही स्वस्थ हो जाया करते थे। वृद्धावस्था में भी निद्रा–विजयी मातामह में आश्चर्यजनक शारीरिक क्षमता थीं दिन–रात आहतों की चिकित्सा में रत वैद्यराज आवश्यकता पड़ने पर शत्रुसेनानियों को अपने युद्ध कौशल से पराङ्गमुख करने में भी पीछे नहीं रहते थे। देवताओं के प्रिय श्री राम की इस अपेक्षा पर वैद्यराज पूर्णतया खरे उतरे थे कि घायल वानरों की चिकित्सा इस प्रकार सुनिश्चित की जाय कि युद्ध का अगला चक्र प्रारम्भ होने से पूर्व ही वानर वीर श्रममुक्त तथा पूर्णतया स्वस्थ हो जाँय। रात्रियुद्ध में मायावी मेघनाद द्वारा आहत वानर वीरों को रात्रि में ही कृत्रिम प्रकाश के उजाले में सफल उपचार कर उन्होंने प्रभु श्रीराम को भी आश्चर्य चकित कर दिया था। घायल एवं अस्वस्थ वानर वीरों से मिलकर उनका कुशल–क्षेम पूछना तथा उनके सिर पर हाथ फिरा उनको सान्त्वना देने का राघव बन्धुओं का महनीय कार्य वानर सैनिकों के साथ वैद्याचार्य एवं उनके सहायकों को भी नई ऊर्जा प्रदान कर रहा था।

मेरी आदरणीया मातामही मुझसे बचपन में मातामह के वनौषधियों के प्रति आत्मिक लगाव की कहानियाँ सुनाते सुनाते आत्मविभोर हो जाया करती थीं। चूँकि कतिपय औषधियाँ रात्रि के गहन अंधकार में ही प्रकाश करने के कारण पहिचानी जाती थीं, अतएव मातामह वनौषधियों की खोज में घने महावनों, अगम्य पर्वत शिखरों तथा दुर्गम स्थलों में महीनों एकाकी घूमा करते थे। स्वयं अपने ऊपर अनेक औषधियों के प्रयोग के कारण कई बार वह अपने प्राणों को संकट में डाल लिया करते थे। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा बताई गई औषधियों का प्रयोग कर मातामही उनको स्वस्थ किया करती थीं। इस प्रकार धीरे–धीरे मातामही को भी भैषज–ज्ञान में प्रवीणता प्राप्त होती गई। मातामही, नानाश्री के स्वभाव से पूर्ण परिचित होने के कारण बाद में कतिपय शिष्यों को अनिवार्यतः उनके

साथ बाहर भेजने लगी थीं।

रोगी की रूपाकृति के अवलोकन मात्र से मातामह उनके रोग की वास्तविक स्थिति का पता लगा लेने की कला में अत्यन्त पटु हैं। रावण की शक्ति से मूर्च्छित भैया लक्ष्मण को मृत समझ विलाप करते हुए श्री राम को समझाते हुए नाना श्री ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि ''हे राघवेन्द्र! लक्ष्मण मरे नहीं हैं। इनका मुख न तो विवर्ण हुआ है नहीं तेजहीन। उनकी हथेलियाँ कमलनाल की भाँति सजीव तथा आँखें मनोहारी हैं। उनका शरीर अब भी आभायुक्त तथा तेजोदीप्त है।... उनके हृदय की धड़कनें उनके श्वॉस लेने तथा जीवित होने की प्रमाण है'' उनके जीवित व्यक्ति के बताये गये उक्त लक्षण कायचिकित्सकों के मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में सदैव स्मरणीय रहेगें।[7]

कायचिकित्सा में वात, पित्त तथा कफ को ही रोगों अथवा व्याधि का प्रमुख कारण माना जाता है। संसार में मानवजीवन को सर्वाधिक मूल्यवान् समझा गया है। यही कारण है कि प्राणरक्षक भिषगाचार्यों को ''प्राणाचार्य'' का महान् विरुद दिया गया है। जीवनरक्षक विद्या होने के कारण ही चिकित्सा को 'आयुर्विज्ञान' कहा जाता है। लंकायुद्ध के पश्चात् वानरों के भिषगाचार्य श्री सुषेण की ख्याति भू–मण्डल में एक ऐसे प्राणाचार्य के रूप में स्थापित हो गई जो मृतकों को भी पुनर्जीवित करने की कला में निपुण है।

मातामही की चिकत्सिाविज्ञान में रुचि के परिणामस्वरूप किष्किन्धा में अनेक महिलाओं की रुचि इस क्षेत्र में बढ़ी है। किन्तु अयोध्या की भाँति वानरों में उपचारिकाओं की कोई सुव्यवस्थित ईकाई अविद्यमान है। उपचारिकाओं की सुलभ सेवा के कारण अयोध्या में नारियाँ बिना किसी व्यवधान के प्रसव करती हैं– अरोग्यप्रसवा नार्याः। उपचारिका को वहाँ 'धात्री' कहा जाता है। अयोध्या की उपचारिकायें बड़े गर्व के साथ बताती हैं कि उनके संगठन की धात्रियों ने सैकड़ों वर्षों पूर्व चक्रवर्ती सगर की छोटी रानी सुमति के

गर्भ से उत्पन्न अपूर्ण सन्तान के भ्रूण को औषधियुक्त पात्र में सुरक्षित रख अवधि पूर्ण होने पर साठ हजार स्वस्थ सन्तानों को उत्पन्न कराने में सफलता प्राप्त की थी। हम वानरों ने अयोध्या प्रवास के समय प्रजारञ्जन के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ''अंग–चिकित्सा'' को सर्वजनीन बनाने का दृढ़ संकल्प लिया था।

चिकित्सक की दूर–दृष्टि तथा प्रत्युत्पन्मतिता आवश्यकता पड़ने पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। महाराज सुग्रीव द्वारा लंका के विरुद्ध प्रयाण के लिए वानर यूथपों को सन्देश भेजते समय वैद्याचार्य सुषेण ने अलग से सन्देश भेज आवश्यक वनौषधियों को पर्याप्त मात्रा में मंगवा लिया था। मातामह कतिपय ऐसी औषधियों से सुपरिचित थे, जिनकी प्रतिरोधात्मक शक्ति ऐसी थी जिनका लेप शरीर पर लगा देने पर घातक शस्त्रास्त्रों के दुष्प्रभाव से बँचा जा सकता था। राक्षस वैद्य भी इन से परिचित थे। त्रिशिरा आदि राक्षसों ने युद्धभूमि में प्रवेश के पूर्व ऐसी ही औषधियों का लेप अपने शरीर पर लगाया था। मातामह सुषेण कुशल शल्यचिकित्सक होते हुए भी युद्धभूमि में आहत वानरों की शल्य–चिकित्सा के स्थान पर काय–चिकित्सा के द्वारा ही उनको स्वस्थ बनाने को अधिक महत्त्व देते थे। वानरों में उनके सहायक चिकित्सकों की कमी नहीं थी। वयोवृद्ध जाम्बवन्त जी तथा, विश्व–भ्रमणकर्ता हनुमान जी का औषधि–विषयक ज्ञान आश्चर्यजनक हे।

वानर–वैद्य–शिरोमणि श्री सुषेण ने इक्ष्वाकुओं की नगरी अयोध्या के विकसित चिकित्सा–विज्ञान की ख्याति सुन रखी थी। अपने अयोध्या–प्रवास के दूसरे दिन ही उन्होंने महाराज सुग्रीव तथा ऋक्षपति जाम्बवान से वहाँ के राजवैद्य से सम्पर्क की इच्छा प्रकट किया। दोनों ने उनके अत्युत्तम विचार की प्रशंसा करते हुए अयोध्यानाथ श्री राम से इसकी अनुमति माँगी। प्रभु श्री राम ने न केवल इसकी सहर्ष अनुमति दिया वरन् भैया लक्ष्मण को बुला कर यह भी अवगत करा दिया कि राजवैद्य से समय ले वह महाराज सुग्रीव एवं

उनके द्वारा चुने गये वानरों के साथ राजवैद्य के प्रयोगशाला में स्वयं जाकर वानरवीरों का परिचय करा दें तथा उनसे अनुरोध कर लें कि वह वानरों की चिकित्सा–विषयक जिज्ञासा का यथासंभव समाधान करें तथा स्वयं भी काय चिकित्सा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य वैद्यशिरोमणी सुषेण के ज्ञान का लाभ उठावें।

अयोध्या के राजवैद्य द्वारा निर्धारित समय पर भैया लक्ष्मण के साथ महाराज सुग्रीव, मैं, जाम्बवन्तजी, उनके पुत्र शरभ, यूथपतियों के साथ वैद्यशिरोमणि सुषेण जी अपने प्रत्येक यूथ से चुने हुए शिष्यों के साथ राजवैद्य की प्रयोगशाला पर जा पहुँचे थे। अयोध्या के वयोवृद्ध राजवैद्य ने अपने प्रमुख शिष्यों के साथ हमारा हार्दिक स्वागत किया था। वैद्यराज सुषेण का नाम सुनते ही आर्य वैद्य शिरोमणि करबद्ध मुद्रा में लगभग दौड़ते हुए उनके चरणों में गिरने को उद्यत् हो गये थे। यही स्थिति आदरणीय श्री सुषेण की थी। दोनों में मानों होड़ लगी थी कौन पहिले किसका चरण छू ले। दोनों के नेत्र आनन्दाश्रुओं की बरसात कर रहे थे। यह दृश्य इतना भावप्रद तथा मनोहारी था कि भैया सुमित्रानन्दन सहित हम सभी भावविह्वल हो उठे। एक दूसरे का चरण छू पाने में असमर्थ दोनों अन्ततः परस्पर आलिंगनबद्ध हो उठे। अपने आँसुओं पर नियन्त्रण में असफल राजवैद्य बार–बार जहाँ अयोध्यावासियों के प्राणस्वरूप सानुज श्री राम की सकुशल वापसी पर श्री सुषेण के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उनके अद्‌भुत चिकित्सकीय ज्ञान की प्रशंसा कर रहे थे, श्री सुषेण पुनः–पुनः अन्य मानवसमूहों द्वारा अर्द्धसभ्य, पिछड़ा तथा दलित माने जाने वाले वानरों के वैद्याचार्य के प्रति आर्य राजवैद्य के इस आत्मीय व्यवहार प्रदर्शन पर आश्चर्यचकित सा अवध के राजवैद्य को साधुवाद कह रहे थे।

औपचारिक स्वागत के उपरांत राजवैद्य द्वारा हम वानरों को अपनी सुविशाल औषधि– बाटिका का भ्रमण कराया गया। श्री सुषेण के वनस्पति शास्त्र–विषयक अद्वितीय ज्ञान से अयोध्या के राजवैद्य

अभिभूत थे। विभिन्न औषधियों के मिश्रण से निर्मित औषधि का मृतप्राय व्यक्ति की 'नासिकारन्ध्र' में सुंघाने तथा कतिपय बून्दों के टपकाने मात्र से पूर्ण स्वस्थ होने की जानकारी श्री सुषेण ने राजवैद्य को दी, वहीं पर कतिपय प्रतिरोधी दवाओं के लेप से शरीर पर पहुँचे ब्रणरोधी तथा दुष्प्रभाव निरोधक गुणों से भी परिचत कराया। दूसरी ओर अयोध्या के राजवैद्य द्वारा वानर वैद्याचार्य को विभिन्न औषधियों, रसायन, अगदतंत्र तथा बाजीकरण आदि शाखाओं की विस्तृत जानकारी दी गई। राजवैद्य ने महाराज सुग्रीव की प्रार्थना पर आयुर्वेद के शल्य, शलाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन एवं वाजीकरण के आष्टांग की ज्ञात जानकारी से हम वानरों को अवगत कराया। हंसते हुए राजवैद्य ने कपिराज से यह कहा कि उनकी एक मात्र बदान (शर्त) यह है कि लंकायुद्ध में अपनी अद्वितीयता का प्रमाण दे चुके इस समय के सर्वश्रेष्ठ वैद्याचार्य श्री सुषेण अयोध्या प्रवास अवधि में उनके माननीय अतिथि बनकर अपने वैद्यशिष्यों के साथ उनकी औषधि वाटिका के अतिथिगृह में ही निवास करें। राजवैद्य के अनुरोध को राजाज्ञा की संज्ञा देते हुए वानरराज ने श्री सुषेण तथा उनके चयनित शिष्यों को वहीं रहने की अनुमति कृतज्ञतापूर्वक दे दी थी।

औषधि–वाटिका तथा राजकीय चिकित्सा केन्द्र के भ्रमण के पश्चात् हमारी समवेत प्रार्थना पर अयोध्या के राजवैद्य ने हमारे लभगभ दिन भर के अवस्थान–अवधि में हमको आयुर्वेद–शिक्षा के सार–तत्व को अपनी मधुर वाणी में समझाने का प्रयास किया था।

इक्ष्वाकुओं के राजवैद्य ने हमको समझाते हुए बताया था कि प्राचीन ऋषियों ने आयुर्वेद के अध्ययन को मानव जीवन का आवश्यक अंग माना था। यही कारण है कि उन्होने आयुर्वेद को 'उपवेद' की संज्ञा दी थी। उन्होंने अथर्ववेद के उपवेद के रूप में 'अर्थवेद' सामवेद के उपवेद के रूप में 'गान्धर्ववेद', तथा प्राचीनतम् ऋग्वेद के उपवेद

के रूप में 'आयुर्वेद' को मान्यता दी थी। उन्होंने यह भी बताया कि कतिपय प्राणाचार्य आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानने लगे हैं।[8]

मानवजीवन के चार पुरुषार्थों की स्थापना करने वाले प्राचीन मनीषियों ने आरोग्य को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मूल माना है[9] आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करने वाले शिक्षार्थी को यह शपथ लेनी पड़ती है कि वह ब्राह्मण, गुरु अथवा आचार्य, मित्र, सन्यासी, निर्बल, संरक्षित, अनाथ तथा अतिथि की निःशुल्क सेवा करेगा। चिकित्साशास्त्र का सम्यक् ज्ञान, चिकत्सा कार्य में निरन्तरता, दक्षता तथा पवित्रता चिकित्सा के चार प्रमुख गुण होते हैं।[10]

आयुर्वेद के अष्टांग का विवरण देते हुए राजवैद्य ने हमको समझाया था कि विभिन्न प्रकार के यन्त्रों अथवा उपकरणों से रोगी के शरीर से रुग्ण अंग को पृथक कर देना शल्य चिकित्सा होती है। नाक, कान, मुख, दाँत, जिह्वा एवं चक्षु तथा शिरोभाग की चिकित्सा 'शालाक्य' के अन्तर्गत आती है। विज्ञान द्वारा भूत, प्रेम, हेवता, पितर, पिशाच आदि से पीड़ित व्यक्तियों के लाभ पहुँचाना भूतचिकित्सा के अन्दर आता है। ''कौमारभृत्य' के अन्तर्गत बच्चों की देखभाल तथा पालनपोषण की व्यवस्था की जाती है। अगदतंत्र में विष के प्रभाव को दूर किया जाता है। इस क्षेत्र में गरुड़ जाति के वैद्यों की श्रेष्ठता के कारण 'विष–विज्ञान' गरुड़–विद्या के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। 'रसायन' के अन्तर्गत औषध, आहार तथा विहार तीनों को ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेद का आठवाँ अंग बाजीकरण है। इसके अन्तर्गत पुरुष के स्त्री के साथ संभोग की सामर्थ्य को बढ़ाया जाता है। इसमें रोगी की गोपनीयता बनाये रखना आवश्यक माना जाता है। चिकित्सक रोगी की पहिचान छिपाने के लिए सशपथ बचनबद्ध होता है।

वानरों के वैद्यशिरोमणि श्री सुषेण द्वारा लंका की समरभूमि में की गई चिकित्सा को विश्व के चिकित्सकों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय बताते हुए अयोध्या के राजवैद्य ने पुनः बताया कि

चिकित्सक को रोगी के समक्ष उसकी बीमारी की गम्भीरता का वर्णन कभी नहीं करना चाहिए। अपरञ्च अस्वस्थ व्यक्ति के मनोबल को बनाये रखने की दिशा में सजगता आवश्यक मानी जाती है।

वापसी के समय वानरराज सुग्रीव ने राजवैद्य से प्रार्थना किया कि उनकी किष्किन्धा वापसी के पश्चात् भी वह वानर चिकित्सकों को अयोध्या की भाँति प्रजा के कल्याणार्थ चिकित्सालयों तथा चिकित्सातंत्र के विभिन्न अंगों के विकास के प्रति अपनी कृपापूर्ण सहयोग से वञ्चित् न करें। अयोध्या–प्रवास में हमें यह भलीभाँति वीदित हुआ कि वहाँ की सामान्य प्रजा में भी हम वानर अपने चिकित्सकीय ज्ञान के लिये भी उतना ही लोकप्रिय थे जितना अपने शौर्य, पराक्रम तथा अपनी स्वामिभक्ति के निमित्त। अयोध्या में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हम वानरों को जादुई शक्तियों से भरपूर अतिमानवीय सामर्थ्य से युक्त मानते हैं। वैद्याचार्य सुषेण एवं महाराज सुग्रीव सहित हम सभी वानरों की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न रही है। हम सबकी यह सुविचारित मान्यता है कि सानुज श्री राघवेन्द्र की अहेतुक कृपा के कारण ही समकालीन बहुसंख्यक समाज में अति पिछड़े एवं दलित के रूप में मान्य वानरों को अन्तर्राष्ट्रीय एवं अक्षरणीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

सन्दर्भ–संकेत

1. ''त्रयो लोका इवाव्यग्राः स्थितास्त्रय इवाग्नयः।।7।।
   त्रयो इवात्युग्रास्त्रयो घोरा इवामयाः।
   त्रयः सुकेशस्य सुतास्त्रेताग्निसम तेजसः।।8।।
   वा0 रा0 उत्तर0 5.8
   (सुकेश के तीनों पुत्र माल्यवान् सुमाली एवं माली)'' तीनों लोकों समान सुस्थिर, तीन अग्नियों के तेजोदीप्त, तीन मंत्रों (3 शक्ति–प्रभु उत्साह एवं मंत्र) के समा उग्र, तथा तीन रोगों (वात, पित्त एवं कफ) के समान भयंकर थे। यहाँ रोग 'आमय' है।
2. पशव्यश्चाल्परोगश्च फलमूल रसायुतः।
   बहु स्नेहो बहुक्षीरः सुगन्धिर्विविधौषधिः।।42।।
   वा0 रा0 युद्ध0 22.42
   (इस श्लोक में महाकान्तार की मरुभूमि को पशुओं के लिए हितकर, अल्परोग वाली, फल, मूल और रसों से सम्पन्न कहा गया है। इस भूमि को घृत, दुग्ध, सुगन्ध सम्पन्न एवं बहुऔषधि उत्पन्न करने वाली कहा गया है।)
3. ''सन्ति मे कुशला वैद्यास्तववभितुष्टाश्च सर्वशः।।30।।
   सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधियाचक्ष्व भामिनि।।
   (कोपभवन में स्थित कैकेयी को समझाते हुए अयोध्यापति दशरथ कहते हैं, हे भागिनि! तुम अपनी व्याधि (रोग) बताओ। यहाँ मेरे राज्य में अनेक चिकित्साकुशल वैद्य हैं, उनको मैंने पूर्णरूपेण सन्तुष्ट रखा है, वे तुम्हें अवश्य सुखी कर देंगे।)
4. ''कदा सुचारुदन्तोष्ठं तस्याः पद्मिवाननम्।
   ईशदुन्नाम्य पास्ऱामि रसायनमिवातुरः।।13।। वा0रा0 युद्ध0 5.13
   (समुद्र तट पर ससैन्य पहुँचने के उपरान्त देवी सीता के लिए शोक करते हुए श्री राम अनुज लक्ष्मण से कहते हैं, 'जैसे आतुरी

(रोगी) रसायन का पान करता है उसी प्रकार मैंने जाने कब सुन्दर दाँतों और बिम्ब के समान मनोहर होठों वाली (सीता) के प्रफुल्ल कमल के समान मुख को उठा कर उसे चूक सकूँगा'')।

5. ''किं नु स्याश्चित्तमोहोऽयं भवेद वातगतिस्त्वयम्।
उन्मादजो विकारो वा स्रूादयं मृगतृष्णिका।।23।।
(हनुमान जी को सामने देख कर भी देवी सीता सहसा विश्वास नहीं कर पा रही है। वह कहती है, ''अथवा यह मेरे चित्त का मोह तो नहीं है। वात–विकार से जन्मा भ्रम तो नहीं है। यह उन्माद से उत्पन्न विकार तो नहीं है अथवा मृगततृष्णा तो नहीं है'')।

6. ''स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवे।।26$\frac{1}{2}$।।

वा0 रा0 बाल0 37.26 $\frac{1}{2}$

(विश्वामित्र ने गंगा के गर्भ–परिस्रव से उत्पन्न बालक के विषय में बताते हुए श्री राम से कहा था, ''श्री राम! अग्नि के समान तेजस्वी महाबाहु कातिकेय गंगा द्वारा गर्भस्राव से स्कन्दित हुए थे इस लिए देवों ने उनको स्कन्द नाम दिया था।)

7. ''आश्वासयन्नुवाचेदं सुषेणः परमम् क्वः।।
त्यजेयां नरशार्दूल बुद्धिं वैकल्यकारिणीम्।।24।।
शोकसंजननीं चित्तां तुल्या बारणैश्चयुमुखे।
नैव पञ्चत्वमापन्ने लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः।।25।।
न ह्यस्य विकृतं वकत्रां न च श्यामत्वसागतम्।
सुप्रभं च प्रसन्नं च मुखमस्य निरीक्ष्यताम्।।26।।
पद्मपत्रतलौ हस्तौ सुप्रसन्ने च लोचने।
नेदृशं दृश्यते रूपं गतासनां विशां पते।।27।।
विषादं मा कृथा वीर सप्राणोऽयमरिंदम्।
अभव्याति तु प्रसुप्तस्यस्रस्तगात्रस्य भूतले।।28।।

सोच्छवासं हृदयं वीर कम्पमानं मुहुर्मुहुः।
एवमुक्त्वा महाप्राज्ञः सुषेणो राघव चः।।29।।

वा0 रा0 युद्ध0 101–24–29

(रावण के शक्ति प्रहार से मूर्च्छित लक्ष्मण को मृत मान विलाप करते श्री राम को आश्वस्त करते हुए सुषेण के अनुसार, ''हे पुरुष सिंह! अपनी व्याकुलता का कारण बन रही सोच का परित्याग कीजिए क्योंकि युद्ध क्षेत्र में चिन्ता बाणों के समान शोक का कारण बनती है। आपके शोभा–सम्पन्न (अनुज) श्री लक्ष्मण मरे नहीं है। देखिये, इनका मुख अभी विकृत नहीं हुआ है। इनके चेहरे पर कालिमा भी नहीं छा पाई है। इनका मुख प्रसन्न एवं कान्तिमान है। इनके हाथों की हथेलियाँ कमलपत्र के समान कोमल हैं, नेत्रों में प्रसन्नता हैं हे प्रजानाथ! ये लक्षण मृतप्राणियों के कदापि नहीं है।)

8. सुश्रुत0 सूत्रस्थान 16 ।
9. चरक0 सूत्रस्थान 1.15 ।
10.पूर्वोक्त सूत्रस्थान 98.5 ।

• • • •

– 6 –
प्रवेश

राक्षसराज रावण के वध के साथ लंका–युद्ध का समापन हो गया। युद्ध का प्रथम तथा अन्तिम अथवा एकमात्र उद्देश्य विजय की प्राप्ति होती है। आक्रामक पराजित होने की कामना से कभी भी आक्रमण नहीं करता है। प्रभु श्री राम के नेतृत्व में हम वानर वीरों के लंका पर आक्रमण का उद्देश्य उस पर विजय प्राप्त करना तो था ही; हमारे इस महाअभियान के साथ प्रभु श्री राम की अपहृत भार्या माता जानकी की सकुशल वापसी का तात्कालिक एवं प्रमुख कारण सानुज श्री राघवेन्द्र तथा समस्त वानर वीरों की प्रतिष्ठा की रक्षा के रूप में जुड़ चुका था।

लंकेश रावण के बध के उपरान्त मन्दोदरी के नेतृत्व में युद्धभूमि में विलाप करती आई रावण पत्नियों के विलाप से आस–पास का वातावरण शोकग्रस्त हो गया था। उस विषम परिस्थित में भी राघवेन्द्र को लोकव्यवहार का स्मरण रहा था। उन्होंने विभीषण को सम्बोधित करते हुए उनसे क्रन्दनरत राक्षसियों को धैर्य बँधाने तथा अपने अग्रज के समुचित अन्तिम संस्कार का आदेश दिया था। विभीषण की उपेक्षा को लक्ष्य कर अयोध्यापति ने रावणानुज से कहा था, ''संग्राम में धराशायी उनका अग्रज रावण अनेक युद्धों का विजेता, तेजस्वी, अपराजेय तथा महामनस्वी रहा है। मृत्यु के साथ ही वैर का अन्त हो जाता है। अपने वध के पश्चात् वह मेरे लिए भी सम्माननीय हो गया है।''

सीतापति के आदेश पर शकट, लकड़ियाँ, अग्निहोत्र की अग्नियाँ, पुरोहित, चन्दन सुगन्धित काष्ट आदि को राजपुरोहित सहित एकत्र कर अपने नाना माल्यवान् के साथ मिलकर विभीषण ने

दाहसंस्कार की पूर्ण व्यवस्था किया। रावण के शव को बहुमूल्य वस्त्रों एवं रत्न आभूषणों से सज्जित विमान में रख कर लंका के दक्षिण में स्थित श्मशान में ले जाकर सुसज्जित चिता पर रख दिया गया। राक्षसी रीति के अनुरूप राक्षसों ने मेध्य पशु को मारकर चिता पर डाले गये मृगचर्म को घी से भींगो दिया। चिता पर नाना प्रकार के वस्त्रादि एवं लावा के विखराव के पश्चात् विधि के अनुसार विभीषण ने रावण को मुखाग्नि दिया।

अपने परमादरणीय अग्रज के आदेश के अनुपालन में सुमित्रा–कुमार ने वानरयूथपों के माध्यम से स्वर्ण–कलशों में सागर का पवित्र जल मंगवाया। एक कलश को भैया लक्ष्मण ने आसन पर रख उसके जल से राक्षसराजसिंहासन पर रावणानुज विभीषण का विधिवत अभिषेक किया। तदूपरान्त माल्यवान सहित अनेक राक्षसों तथा वानरराज सुग्रीव एवं अन्य वानर यूथपतियों ने उनका अभिषेक किया। राक्षसों द्वारा सम्पूजित विभीषण ने मांगलिक वस्तुओं को श्री राम तथा श्री लक्ष्मण को भेंट स्वरूप प्रदान किया। उसके पश्चात् वानरों के सर्वेश्वर श्री राम ने वायुपुत्र को निर्देश दिया कि वह लंकापति विभीषण की आज्ञा ले लंका की अशोक वाटिका में जा वैदेही को रावण–वध का औपचारिक सुसमाचार दें।

महाप्राज्ञ हनुमान ने लंका में देवी जानकी से मिलकर वापस लौट राघवेन्द्र से मात्र इतना ही कहा कि मलिनवसना माता सीता ने अश्रुपूरित नेत्रों से यथाशीघ्र प्रभु के दर्शन की अनुमति माँगी है। प्रभु श्री राम ने डब–डबाये नेत्रों से राक्षसराज विभीषण से अपेक्षा किया कि वह विदेह कुमारी को शिर से स्नान करा, दिव्य अंगराग तथा दिव्य आभूषणों से विभूषित कर शीघ्र उनके पास लावें।

जनक नन्दिनी देवी जानकी के सतीत्व, पातिव्रत्य, विरहव्रतध ाारिणी (केशसज्जारहित, शृंगारविरत, भूमिशयन, जीवनरक्षा मात्र भर का न्यूनतम् भोजन ग्रहण, रात–दिन पति चिन्तारता) होने की जिस दीनस्थिति का वर्णन केशरीनन्दन ने प्रभु श्री राम के समक्ष किया था,

उससे वानरों के मन में पवित्राता की देवी सीता का अकल्पनीय चित्र उभर कर सामने आया था। रावण जैसे शक्तिशाली, ऐश्वर्ययुक्त तथा त्रैलोक्य–विजेता के प्रणय–प्रस्ताव को ठुकराकर पति–विरह में प्राण–त्याग को तत्पर राजरानी का अस्तित्व अधिकांश वानरों के लिए किसी चमत्कार से कम न था। लगभग सभी वानर उस महान तथा दिव्यस्वरूप धारिणी नारी का दर्शन करना चाहते थे, जिसके अपमान के प्रतिशोध के निमित्त पुरुषोत्तम श्री राम ने वन प्रान्तरों की खाक़ छानते हुए अन्ततः सैकड़ों योजन विस्तीर्ण सागर को पार कर लोककण्टक रावण से लोहा लेने का निर्णय लिया था। यही कारण है कि रावण–वध के पश्चात् लंका से शिविका में आ रही देवी सीता के दर्शन के लोभ का संवरण, वानर–वीर विभीषण के प्रहरियों की डाँट तथा धक्के को सहन कर भी नहीं कर पा रहे थे। प्रभु श्री राम द्वारा, देवी सीता को अपने पास पैदल आने का निर्देश देकर वानरों को राम–प्रिया के दर्शन का अनपेक्षित अवसर सुलभ करा दिया गया।

हम वानरों को अब तक पता चल चुका था कि कौशल्यानन्दन व्यक्तिगत रूप से पुरुष–प्रधान समाज में परपीड़न की आखेट बनी अथवा परिस्थितिवश विपत्ति को प्राप्त नारी मात्र के प्रति अत्यधिक उदार थे। वह यह भली–भाँति जानके थे कि गौतम–पत्नी अहिल्या ने स्वेच्छया इन्द्र का प्रणय–प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया था। यही कारण है कि उन्होंने पति द्वारा परित्यक्त गौतम–पत्नी तथा विदेहराज जनक के सभासद शतानन्द की माता अहल्या को आर्यसमाज में सम्मानपूर्वक पुनः प्रतिष्ठित करने में कोई संकोच नहीं किया था। यही नहीं वानरों तथा राक्षसों में प्रचलित विधवा– विवाह को प्रोत्साहन देते हुए माँ तारा तथा रावणमहिषी मन्दोदरी को उनके पति के न रहने पर पुनर्विवाह कर पुनः महारानी बनने का अवसर भी मानवेन्द्र श्री राम ने ही दिलवाया था।

किसी महान दुःख का कारण बन चुकी दारुण घटना का महाव्रण सामान्य खरौंच से भी पुनः नवीन हो उठता है। अपने पिता के कपट–वध के पश्चात् उनके अन्तिम वचनों तथा वानरराज्य की पुनर्महिषी बनीं अपनी माँ के सिखावन को मान कर मैं अत्यन्त यत्नपूर्वक ज्येष्ठ राघव की अपनी मन में रची–बसी छवि को परिष्कृत कर सका था। महाराज वाली के कपट–वध के पश्चात् किष्किन्धा की बहुसंख्यक वानर–प्रजा तथा अधिकांश अमात्म राज्य–विभाजन के पक्ष में थे। वे किसी भी स्थिति में आशुकोपी पितृव्य सुग्रीव को अपना राजा स्वीकार नहीं करना चाहते थे। किन्तु पिताश्री की अन्तिम इच्छा का सम्मान कर माताश्री ने महाराज सुग्रीव से पुनर्विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया था। इस घटना ने वानर शक्ति के विघटन को बँचा लिया था। तब से निरन्तर प्रयास कर मैं प्रभु वैदेहीनाथ की इस एकाकी भूल को भुलाकर उनकी आदर्श छवि मन में बसा चुका था। मेरा मन कहता था कि परमोदार श्री राम देवी सीता के प्रति अपने पूर्व प्रेम का प्रदर्शन अवश्य करेगें। लंका विजय के पश्चात् अपने प्राण–प्रिय पति से मिलने को आकुल जानकी के प्रति सौमित्राग्रज के व्यवहार ने एक बार पुनः मेरे पुराने घावों को हरा कर दिया था। उनकी मेरे मन में रची–बसी छवि पुनः कालिमा युक्त होने लगी थी।

लंका–विजय के पश्चात् देवी जानकी तथा प्रभु श्री राम के प्रथम मिलन की घटना मेरे नेत्रों में आज भी सजीव हो उठती है। अपने प्राणप्रिय से मिलन की उत्कंठा तथा पतिव्रता की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए विदेह–कुमारी ने बिना स्नान किये तत्काल पति–दर्शन की इच्छा व्यक्त की थी। देवी की इस इच्छा को ठुकराते हुए राजा राम ने देवी सीता को स्नानोपरान्त दिव्य वस्त्राभूषण धारण करा अपने समक्ष लाने कहा था। पति परायणा ने प्रभु की उक्त आज्ञा को स्वीकार भी कर लिया था। मानेा अयोध्यापति को इतने से भी सन्तोष न हुआ हो उन्होंने तत्काल दूसरा आदेश निर्गत कर दिया कि विदेहराजजनक की दुलारी दुहिता पैदल उनके पास आवें। यह

आदेश सुनकर लंकापति विभीषण को तो मानो साँप सूंघ गया था। किन्तु एक क्षण की झिझक के पश्चात् देवी सीता शिविका से स्वयं ही उतर पड़ी थीं। महाराज सुग्रीव, भैया लक्ष्मण, महाराज जाम्बवान तथा वानर यूथपों के मुख पर आश्चर्यमिश्रित दुःख के भाव स्पष्ट रूप से उभर आये थे। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मेरा मन श्री राम के इस व्यवहार से दुःखी तो था किन्तु उसमें दुःख के साथ क्रोध का भी समावेश होने लगा था।

देवी सीता के लिए मानो इतना अपमान, इतनी उपेक्षा पर्याप्त न हो; वैदेही उनके निकट पहुँची ही थीं कि उनके प्राणप्रिय स्वामी ने यह कहकर उस परम सती पर वज्र–प्रहार ही कर डाला कि, ''तुम्हारे चारित्र में सन्देह का अवसर विद्यमान है।––– तुम मुझको अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो''। मैं अपने कानों पर सहसा विश्वास नहीं कर पाया मुझे आश्चर्य हुआ कि क्या यह वही श्री राम हैं जो देवी जानकी के पातिब्रत्य सहित विभिन्न सद्गुणों की चर्चा करते थकते नहीं थे? क्या यह वह वही आर्य पति हैं जिन्होंने अपने प्राणप्रिया के अपमान के प्रतिशोधार्थ लाखों करोड़ों वानरों का सर्वस्व दाँव पर लगा दिया। यदि उनका मन महादेवी जानकी के प्रति इतना विषाक्त था तो उन्होंने हम वानरों के अस्तित्व को दाँव पर किस नैतिकता का आश्रय ले लगाया था?

स्वभाव से प्रियवादी एवं मधुर वक्ता होते हुए भी मानवेन्द्र श्री राम ने अपनी वाणी में मानो हलाहल घोलते हुए ईक्ष्वाकुओं की महारानी से कह ही दिया था कि, ''रावण तुम्हें अपनी गोद में उठा कर लंका ले गया था। वह तुम पर कुदृष्टि डाल चुका है।––– तुम अपनी इच्छानुसार मेरे मित्र तथा अनुगत वानरराज सुग्रीव अथवा लंकेश विभीषण के पास रह सकती हो, क्योंकि रावण चिरकाल तक तुम से दूर रहने का कष्ट सहन नहीं कर पाया होगा।'' इन शब्दों ने मेरे कानों में मानों भयंकर विस्फोट कर दिया था। मेरा मन श्री राम के व्यक्तित्व के दोहरेपन को देख विद्रोहोन्मुख हो उठा। बिना किसी

साक्ष्य के अपनी अर्द्धांगिनी पर निर्मम आरोप लगाने वाले इस व्यक्ति को, देवी तारा महारानी मन्दोदरी तथा ऋषिपत्नी अहल्या के भावी जीवन के विषय में निर्णय लेने का क्या अधिकार था? मुझे श्री राम के चरित्र के दुहरे मापदण्ड पर आश्चर्य हुआ। मेरे विद्रोही मन के किसी कोने से मानों यह ध्वनि उच्चरित हो उठी क्या नारी पीड़क रावण तथा सबलपुरुष के हाथों अपमानित होने को विवश दशरथ–स्नुषा (बहू) सीता समान रूप से दण्डनीय है? क्या आर्य श्री राम की दृष्टि में देवी सीता जैसी पीड़ित अबला एवं लोकपीड़क आततायी रावण एक समान दोषी हैं? यदि ऐसा नहीं है तो निर्दोष जनकनन्दिनी के प्रति श्री लक्ष्मणाग्रज का ऐसा निर्मम व्यवहार क्यों? प्रभु श्री राम के व्यवहार से जड़ बनीं माता सीता फफक कर रो पड़ी थीं।[1]

इस घटना के स्मरण के साथ ही आर्या सीता का तेजोदीप्त स्वरूप भी मेरी आँखों में नाच उठता है। यद्यपि वैदेही यथासंभव नियन्त्रित स्वर में बोल रही थीं, किन्तु उनकी वाणी में छिपा रोष लक्षित हो ही जा रहा था, ''किसी नीच के आचरण को उदाहरण मान कर यदि आप समूची स्त्री–जाति पर संदेह कर रहे हैं तो यह आपके लिए कदापि उचित नहीं है।'' ––– ''आप मुझको जैसा समझ रहे हैं वैसी मैं कदापि नहीं हूँ।'' न चाहते हुए भी अपने चरित्र पर लाञ्छन् से आहत जानकी के स्वर में रोष का पुट स्पष्ट हो चुका था। आत्मनियन्त्रण का प्रयास करती उन्होंने पुनः कहा कि (ओछे चरित्र वाले की भाँति) ''मात्र रोष के कारण आपने नीच चरित्र वाली स्त्रियों के स्वभाव को सामने रख अपना उद्‌गार व्यक्त कर दिया है।'' कुछ क्षण रुक कर अपने स्वर को यथासंभव संयत करने का पुनः प्रयास करते हुए उन्होंने कहा था, ''यदि आपको मेरे चरित्र पर विश्वास नहीं था तो आपने हनुमान, सुग्रीव, अंगद एवं विभीषण आदि लाखों मित्रों के प्राणों को किस नैतिक अधिकार से संकट में डाला था।''––––– ''हमारा आपका पाणिग्रहण संस्कार बाल्यावस्था में हुआ था। तब से लेकर अयोध्या के राजप्रासाद एवं वनवास अवधि में

महावन में आपने अपने प्रति मेरी अनन्य भक्ति, मेरे निष्कलंक शील, पवित्र एवं निर्दोष व्यवहार को देख कर भी आपने आज अज्ञ की भाँति उसे भुला दिया है।''——— ''अपने सत्यप्रतिज्ञ श्वसुर तथा ममता एवं उदारता की साक्षात् प्रतिमा माता कौशल्या के मना करने पर भी पाणिग्रहण के समय प्राणपण से एक दूसरे का सदैव साथ देने की अपनी प्रतिबद्धता का स्मरण कर ही मैं आपके साथ वन आई थी।'' –''यदि किसी कारणवश मैं अपने प्रति आपके विश्वास की रक्षा न कर सकी तो धिक्कार है मेरे जीवन को।''[2] तदुपरान्त अपने तेज से भैया लक्ष्मण द्वारा सजाई गई प्रज्वलित चिता की अग्नि से होकर सुरक्षित बाहर निकली देवी वैदेही के जयकार से लंका का सम्पूर्ण नभ–मण्डल गुंजित हो उठा था। यह पहला और अन्तिम अवसर था जब लंका की समर भूमि में देवी जानकी के प्रति वानरों तथा राक्षसों का समवेत जयघोष हुआ था। मुझको देवी जानकी में पहली बार अपनी परमादरणीया माँ देवी तारा की छवि दिखलाई पड़ी थीं मैंने साष्टांग दण्डवत् कर माँ सीता का घोर श्रद्धा एवं विनय के भाव से नमन किया था। महादेवी सीता के मुख से निकले वाक्य मेरी भावनाओं के सर्वथा अनुकूल होने के कारण मुझको अत्यन्त प्रिय लगे थे।

प्रयेक समाज में नैतिकता के अलग–अलग माप–दण्ड होते हैं। राक्षसों में स्त्री–पुरुष समान रूप से स्वच्छन्द अथवा स्वेच्छाचारी होते हैं। उनमें यदि मन्दोदरी जैसी पतिपरायणा, धर्मभीरु एवं सत्याश्रयी नारी श्रेष्ठ हैं तो लंकेश्वर रावण की भगिनी होते हुए भी चन्द्रनखा (शूर्पणखा) जैसी स्वच्छन्दविहारिणी भी समान सम्मान की पात्र हैं। राक्षस समाज में महिलायें भी बलात्कारी हो सकती हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण रावण–भगिनि है। वानरों में नारी की स्थिति अपेक्षया अधिक सम्मानजनक है। अच्छे सन्तान की प्राप्ति के लिए उनके द्वारा परपुरुष के साथ सहवास को हेय नहीं माना जाता है। आर्यों में नारी को पूजनीय मानने की मेरी धारणा को माता सीता के अपहरण के

पश्चात् रावण से प्रतिशोध के दृढ़संकल्पित आर्य श्रीराम के लंका पर आक्रमण से मूर्त रूप मिला था। श्री सौमित्राग्रज द्वारा देवेन्द्र के कपट जाल में अपना सर्वस्व लुटा चुकी अहिल्या के पुनरुद्धार की घटना ने आर्यों के नारी के प्रति हार्दिक सम्मान की भावना को जीवन्तता प्रदान किया था। ऐसी स्थिति में माँ वैदेही के प्रति आर्य श्रीराम का व्यवहार मेरे लिए सर्वथा अनपेक्षित था।

अपनी स्पष्टवादिता के लिए भैया लक्ष्मण जैसे आर्यमूल्यों के प्रति वास्तविक अनुरक्ति रखने वाले आर्य मनीषियों से क्षमा–याचना के भाव सहित पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना यह स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि वानर समाज में नारी को आर्य–समाज की भाँति 'दासी' अथवा 'बस्तु' नहीं माना जाता है। वानरसमाज में नारी पुरुष–प्रधान समाज के दोहरे माप–दण्ड का शिकार नहीं है। वानर समाज में वानरों की रानी तथा वानर यूथपों की पत्नियों तक को मनोनुकूल, तेजस्वी एवं श्रेष्ठसन्तान की प्राप्ति हेतु परपुरुष से अस्थाई सम्बन्ध स्थपित करने की छूट है। विश्वविख्यात् वानर–वीर, सर्वशास्त्रकोविद अञ्जनाकुमार को अत्यन्त सम्मान के साथ पवनपुत्र, अनिलात्मज, पवनतनय, वायुपुत्र, वायुनन्दन कहा जाता है। एक दूसरी मान्यता के अनुसार भगवान शिव के अंश से उत्पत्ति के कारण उनको 'शंकर सुवन' का सम्मान जनक सम्बोधन भी प्राप्त है। अग्नि के समान तेजस्वी नील को 'अग्निपुत्र' कहा जाता है। मेरे मातुलद्वय मैन्द और द्विविद को जहाँ अश्विनीकुमारों का पुत्र कहा जाता है वही मातामह सुषेण को 'धर्मराज (यमदेव) पुत्र' की संज्ञा दी जाती है। काल के समान विकटयोधी, गज, गवय, गवाक्ष, शरभ तथा गन्धमादन को भी यमराज का पुत्र बताया जाता है। वानरयूथप द्वय श्वेत तथा ज्योतिर्मुख के सूर्यपुत्र होने की मान्यता है। सेतुबन्धनकर्ता नल को देवशिल्पी विश्वकर्मा के अंश से भी उद्भूत बताया जाता है। वेगवान दुर्धर को वासुपुत्र कहा जाता है। कतिपय वानर श्रेष्ठों में तो उनके परवर्ती गुणों के आधार पर नये देवों का अंश बताया गया है।

उदाहरणार्थ– नाना सुषेण को पहिले वरुण (अब धर्मपुत्र) पुत्र, शरभ को (पर्जन्य–पुत्र–तथा बाद में यमराजपुत्र) गन्धमादन को कुबेर पुत्र (बाद में यमराज पुत्र) कहा जाता है। मेरे पिता श्री वाली इन्द्रपुत्र तथा पितृव्य सुग्रीव सूर्यपुत्र के रूप में लोकविश्रुत हैं। कुछ लोग मुझको भी ''शक्रनप्ता'' (इन्द्र का नाती पौत्र) कहने लगे हैं।''

अपने अग्रज के प्रति समर्पित भैया लक्ष्मण का माता सीता की अग्निपरीक्षा के समय का स्वरूप आज भी मेरी आँखों में साकार हो उठता है। माता सीता का अपमान उनको सहन नहीं हो पा रहा था। उन्होंने अत्यन्त अमर्ष के साथ अग्रज श्री राम की ओर देखा था; किन्तु उनकी सम्मति सूचक मुद्रा ने उनको चिता सजाने को विवश कर दिया था। प्रज्वलित अग्नि के प्रचण्ड ताप की चिन्ता किये बिना माँ जानकी ने वहाँ उपस्थित देवता, वानर, राक्षस, ब्राह्मण– समूह को समुचित अभिवादन के उपरान्त स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि ''यदि मेरा हृदय एक क्षण के लिए भी श्री रघुनाथ से दूर न हुआ हो, यदि मैं सर्वथा निष्कलंक होऊँ, यदि मैंने मन, वाणी तथा कर्म द्वारा श्री राघव का स्वप्न में भी अतिक्रमण न किया हो, यदि सूर्य, चन्द्र, वायु, दिक्पाल, दिन, रात, दोनों संध्यायें, पृथ्वी आदि देवगण मुझे शुद्ध मानते हों तो सम्पूर्ण जगत के साक्षी हे अग्निदेव आप सभी ओर से मेरी रक्षा करें।''[3] ऐसा कह कर माँ वैदेही ने चिता की परिक्रमा की थी तथा वहाँ उपस्थित महान् जनसमुदाय के देखते–देखते निःशंक चित्त से प्रज्वलित चित्ताग्नि में प्रवेश कर गईं। उनके अग्नि में प्रवेश करते ही वहाँ उपस्थित राक्षस एवं वानर समूह का घोर आर्तनाद चारों ओर गूँज उठा था। कुछ ही क्षणों में प्रज्वलित अग्निकुण्ड से देवी जानकी को पूर्ण सुरक्षित लौटते देख वह आर्तनाद अनायास जयनाद में परिवर्तित हो उठा था।

प्रज्वलित अग्निकुण्ड से माता जानकी सकुशल वापसी की आँखों देखी घटना वहाँ उपस्थित वानर, राक्षस एवं ब्राह्मण जनसमूह के लिए न केवल अभूतपूर्व वरन् अश्रुतपूर्व भीथा। इस अकल्पनीय

घटना का चक्षुदर्शी होना कम गौरव की बात नहीं थीं जिसने भी यह दृश्य देखा वही इस बात को मानने को विवश हो गया कि माता सीता दैवीय गुणों से भरपूर अद्‌भुत दिव्य शक्ति की स्वामिनी हैं। उपस्थित जनसमूह के समक्ष परमसती देवी सीता के ऊपर जयनाद से गुञ्जित आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि ने हमारे आश्चर्य को परमाश्चर्य में परिवर्तित कर दिया था। सच तो यह है कि सतीत्व के नाम पर सतीत्व की रक्षा के निमित्त महासती जानकी के अग्नि–प्रवेश से सकुशल वापसी की घटना समकालीन वैश्विक समाज में नारी की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का परिचायक है।

उल्लेखनीय है कि राघवेन्द्र को उपालम्भपूर्ण उत्तर देने के पश्चात् अपने सतीत्व की परीक्षा के निमित्त चिताग्नि में प्रविष्ट नारी के लिए वाञ्छित् समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न माता जानकी की पवित्रता के साक्षी के रूप में स्वयं हव्यावहन अग्निदेव को वहाँ उपस्थित होना पड़ा था। मूर्तिमान हुताशन द्वारा महिमामयी देवी सीता की पवित्रता को प्रमाणित कर प्रभु श्री राम को सौंपने के समय, वानरों तथा राक्षसों के जयघोष एवं देवों द्वारा साधुवाद एवं पुष्पवर्षा से अन्ततः रघुकुल तिलक श्री राम को यह घोषित करने को विवश होना पड़ा कि ''अपनी अर्द्धांगिनी की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है।'' किन्तु श्री राघव की इस स्वीकृति–घोषणा ने मुझको यह सोचने को विवश अवश्य कर दिया कि ''क्या अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए 'अग्नि–प्रवेश' की परीक्षा मात्र नारी ही देती रहेगी? मेरे समक्ष यह प्रश्न आज भी मुँह बाए खड़ा है कि बार–बार सीताओं की 'अग्नि–परीक्षा' लेने वाला पुरुष–प्रधान समाज क्या कभी अपने राम को भी अग्नि–प्रवेश के लिए विवश करेगा?

• • •

सन्दर्भ–संकेत

1. ततः प्रियार्हश्रवण तदप्रियं
   प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मानिनी।
   मुमोच वाष्पं रुदती तदा भृशं
   गजेन्द्र हस्ताभिहतेव बल्लरी।।25।। वा0 रा0 युद्ध0 115.25
   (जो देवी सीता प्रियवचन सुनने के योग्य थीं, उन मानिनी चिरकाल के पश्चात् मिले प्रियतम से अप्रिय वचन सुन कर हाथी के सूँड़ से आहत लता के समान आँसू बहाती फफक कर रो पड़ीं।)
2. ''किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।
   रुक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतमिव।।5।।
   न तथास्मि महाब्राहो यथा मामवगच्छसि।
   प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे।।6।।
   पृथवस्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशङ्कसे।
   परित्यजैनां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता।।7।।
   यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मिविवशा प्रभो।
   .....
   .....
   न प्रमाणीकृतः पाणिबाल्ये मम निपीडितः।
   मम भक्तिश्च शीलं च सर्व ते पृष्ठतः कृतम।।16।। वही0 6.5–16
   (रावणवध के पश्चात् प्रभु श्री राम के निकट पहुँचाई गई देवी सीता के चरित्र पर पति द्वारा आक्षेप लगाने पर अपने सतीत्व की परीक्षा हेतु अग्नि में प्रवेश से पूर्व जानकी रघुनाथ को उपालम्भ पूर्ण स्पष्टीकरण देत हुए कहती हैं– ''हे वीर! आप मेरे प्रति इतनी कठोर, अनुचित, कर्णकटु एवं रुखी बातें कैसे कह सकते हैं? आप मेरे साथ वैसा कर रहे हैं जैसा कोई नीच श्रेणी का पुरुष निम्नकोटि की स्त्री के साथ करते हैं। हे महाभाबु! आप मुझे जैसा मान रहे हैं, मैं वैसी कदापि नहीं हूँ। मैं अपने सदाचार की शपथ लेकर कहती हूँ कि मैं सन्देह योग्य नहीं हूँ। आप मुझ पर विश्वास कीजिये। (किसी) नीच श्रेणी की स्त्री का आचरण देख कर यदि

आप समूची स्त्री जाति पर सन्देह करते हैं तो यह उचित नहीं है। यदि आपने मुझको भलीभाँति जाँच–परख लिया है तो अपने मन से सन्देह को निकाल दीजिए। यदि रावण ने मेरा स्पर्श किया तो वह मेरी विवशता थी।... अपने, बाल्यावस्था में ही मेरा पाणिग्रहण किया था, इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया (उसे भुला दिया)।

3. ''प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली।
बद्धाञ्जलि पुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः।।24।।
यथा में हृदयं नित्यं नापसपेति राघवात्।
तथ लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः।।25।।
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः।।26।।
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातचराम्यहम्।
राघवः सर्वधर्मसं तथा मां पातु पावकः।।27।।
आदित्यो भगवान् वायर्दिशश्चन्द्रस्तथैव च।
अहश्चापि तथा संध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा।
यथान्येऽपि विजानन्ति तथ चारित्रसंयुताम्।।28।।

पूर्वोक्त 116–24–28

(चिताग्नि के पास पहुँच वहाँ देवताओं तथा ब्राह्मणों को प्रणाम करके देवी सीता ने इस प्रकार कहा। यदि मेरा हृदय (मन) एक क्षण के लिए भी कभी दूर न हुआ हो तो सारे विश्व के साक्षी अग्निदेव सब ओर से मेरी रक्षा करें। 25। नितान्त पवित्र चरित्र के पश्चात् भी श्री राम मुझको दूषित समझ रहे हैं। यदि मैं सभी प्रकार से निष्कलंक हूँ तो सारे संसार के (कर्मों) के साक्षी अग्निदेव सब ओर से मेरी रख करें।26। यदि मैंने मन, वाणी तथा कर्म से सभी धर्मों के ज्ञाता रघुनाथ जी का अतिक्रमण न किया हो तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें।27। यदि भगवान सूर्य, वायु, दिशायें, चन्द्र, दिन, रात, संध्यायें, पृथ्वी देव एवं अन्य देवगण मुझको शुद्ध चरित्र का मानते हों तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें।28।)

• • • •

– 7 –

प्रत्यावर्तन

राक्षराज विभीषण द्वारा माता सीता, भैया लक्ष्मण तथा स्वयं के कुछ दिनों तक लंका में रुकने के अनुरोध को नम्रतापूर्वक प्रभु श्री राम द्वारा अस्वीकार कर अतिशीघ्र अयोध्या लौटने की इच्छा पर लंकापति ने सूर्य के समान तेजस्वी पुष्पक विमान को वहाँ उपस्थित किया। पुष्पक के प्रति नल, नील तथा मेरे सहित कतिपय वानर–प्रमुखों की उत्सुकता जान प्रभु श्री राम ने हमको उसके निकट से अवलोकन तथा निरीक्षण की अनुमति सहास्य प्रदान कर दिया। वह दिव्य विमान पूर्णतया स्वर्णजटित था। उसके भीतर बैदूर्य मणि (नीलम) की वेदियाँ थीं तथा अनेक गुप्त गृह बने हुए थे। श्वेत तथा पीतवर्ण की अनेक पताकाओं तथा ध्वजाओं से सज्जित विमान के स्वर्णनिर्मित हर्म्य के द्वार पर स्वर्णकमल लटक रहे थे। स्फटिक मणिनिर्मित इसके आधार (फर्श) पर रत्नजटित बहुमूल्य आस्तरण बिछे हुए थे। बाहरी शीत तथा ताप से सर्वथा अप्रभावित इस दिव्य विमान की अभियान्त्रिकी आज के युग के लोगों के लिए अकल्पनीय है। स्वामी की इच्छामात्र का अनुसरण करने वाला यह विमान आज की सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक कृति है।

देव शिल्पी विश्वकर्मा की इस अद्‌भुत कृति पर सर्वप्रथम माता जानकी तथा अनुज श्री लक्ष्मण सहित प्रभु श्री राम सवार हुए। तदूपरान्त उनकी अनुमति से कपिराज सुग्रीव, राक्षसराज विभीषण, मुझ अंगद, हनुमान एवं वानर यूथपतियों को आसीन कराया गया। प्रभु श्री राम तथा राक्षसपति विभीषण द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य उपहारों से लदे असंख्य वानरवीरों को उनके–उनके गुल्मपतियों के नेतृत्व में अपने–अपने राज्यों तथा आवासों को लौटने का आदेश वानराधिपति द्वारा पहिले ही दिया जा चुका था। वानर वीरों के त्याग, बलिदान,

शौर्य तथा अपने प्रति उपकार का कृतज्ञतापूर्वक बारम्बार उल्लेख करते हुए प्रभु श्री राम पहिले ही उनसे विदा ले चुके थे। विमान में आरुढ़ होने के पश्चात् परमोदार प्रभु ने लंकापति विभीषण, कपिराज सुग्रीव, ऋक्षपति जाम्बवान, वैद्यराज सुषेण को अपने सामने की प्रथम पंक्ति में बुलाकर बिठाया। तदूपरान्त वरिष्ठता एवं आयुक्रम में वानरयूथपयूथपों तथा यूथपतियों को बैठाया गया। संकोचवश मैं पवनपुत्र हनुमान के दक्षिण पार्श्व मे खड़ा था कि हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस घोलता श्री सीतापति का स्वर गूँज उठा, ''पुत्र अंगद! वत्स हनुमान!! तुम दोनों वहाँ क्यों खड़े हो? तुम लोग यहाँ मेरे निकट आकर बैठो।'' मैंने पवनपुत्र का अनुसरण किया। पवनपुत्र के साथ ही आगे बढ़कर मैंने भी अपने सामने आसनस्थ प्रभु श्री राम तथा माता जानकी प्रणति निवेदन कर वानरराज सुग्रीव, ऋक्षराज जाम्बवान, मातामह सुषेण, लंकापति विभीषण अन्य सभासदगण के सम्मान में हाथों को जोड़ लिया। अब हम दोनों प्रभु श्री राम के चरणों के निकट आस्तरण पर वीरासन में जा बैठे। मन्दस्मित के साथ प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण ने हमारा स्वागत किया।

अपने स्वामी की इच्छा मात्र पर इच्छित स्थान की ओर उड़ान भरने, मार्ग में ऊबड़–खाबड़ पर्वत शिखरों पर भी उतर जाने में समर्थ पुष्पक प्रभु श्री राम के संकेत मात्र से लंका के ऊपर चक्कर लगाने लगा। सर्वप्रथम श्री राघवेन्द्र ने विदेहराजकुमारी को त्रिकूट पर्वत के शिखर–शृंग पर देवशिल्पी विश्वकर्मा द्वारा निर्मित भव्यनगरी लंका का अलोकन कराया। यद्यपि पवनपुत्र द्वारा एवं युद्ध के मध्य वानरसेनाओं द्वारा दग्ध लंका में अग्निकाण्ड के अनेक अवशेष उपलब्ध थे तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभीषण के सख्य के कारण सामरिक महत्त्व के भवनों–स्थानों को ही अग्निसात् किया गया था। इस प्रकार यह भव्यपुरी अपने सर्वनाश से बँच गई थी।

समर भूमि के ऊपर से उड़ान भरते समय अपने भक्तों, अनुगतों अथवा सहायकों का मान बढ़ाने का कोई अवसर न चूकने

वाले परमोदार प्रभु श्री राम ने माता सीता को उन स्थलों को दिखलाना प्रारम्भ कर दिया, जहाँ हम वानरों ने प्रभु की कृपा से उल्लेखनीय राक्षस योद्धाओं का अन्त किया था। रावण की चिता–स्थली को दिखलाते हुए उन्होंने अपनी प्राणप्रिया को बतलाया कि किस प्रकार प्रभु ने आततायी रावण के प्रभुत्व का नाश किया था। कुम्भकर्ण के वध के उल्लेख मात्र पर प्रभु हम वानरों की प्रशंसा में जुट पड़े थे। वीरवर हनुमान द्वारा मारे गये धूम्राक्ष तथा महामना सुषेण द्वारा मारे गये विद्युन्माली के वध स्थलों को इंगित करते हुए उन्होंने वानर वीरों में सबसे कम आयु के मुझ अंगद की ओर दृष्टिपात किया। मेरी ओर संकेत करते हुए परमकृपालु राघव ने माता जानकी को सम्बोधित करते हुए कहा था, 'हे पृथुलोचने! कम आयु का होते हुए भी अपने परम प्रतापी पिता वाली के समान शौर्यवान अंगद ने अमुक–अमुक स्थलों पर रावण के दुर्धर्ष सेनानियों, कुंभहनु, नरान्तक, प्रजंघ विकट, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र आदि को मार कर मुझको आभारी बनाया है। इसी भांति उन्होंने महाराज सुग्रीव, सेनापति नील, सुषेण पुत्र द्वय मैन्द तथा द्विविद, गवाक्ष, गन्धमादन, गव, दधिमुख, ज्योतिर्मुख, वायोवृद्ध जाम्ववान आदि का नाम ले ले उनके द्वारा मारे गये राक्षस वीरों के वधस्थल का निरीक्षण कराया। हम सभी इस बात पर आश्चर्य चकित थे कि महासमर के तनावपूर्ण वातावरण में मायावी राक्षसों से जूझ रहे प्रभु को किस वानर वीर ने किस राक्षस योद्धा को कहाँ तथा कब मारा की सटीक तथा त्रुटिरहित जानकारी किस प्रकार मिलती रही? वह एक–एक कर वह विरुपाक्ष, महोदर, कुम्भ, निकुम्भ, मकराक्ष, अकम्पन, दंष्ट्र, भूपाक्ष, प्रजंघ, प्रहस्त, अतिकाय, नरान्तक, देवान्तक, शोणीताक्ष, विद्युत् जिह्व, यज्ञशत्रु, सूर्यशत्रु, त्रिशिर आदि के वध की जानकारी माँ जानकी को देते रहे। हमने यह लक्ष्य किया कि जहाँ वह अपने द्वारा मारे गये राक्षस महावीरों का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख करते थे हम वानरों के संकोच की चिन्ता किये बिना हमारे कर्त्तृत्व को बढ़ाचढ़ाकर प्रस्तुत करते थे। हमारे संकोच को अन्ततः ऋक्षपति

जाम्बवान ने वाणी प्रदान करते हुए कहा था, ''हे सर्वशक्तिमान कृपानिधान्। बार–बार हमारी बढ़ा–चढ़ा कर प्रशंसा कर हम अल्पबुद्धि चपल वानरो को अहंकारी न बनावें। त्रौक्यविजेता राक्षसेन्द्र रावण तथा आधुनिकतम् आयुधों तथा दिव्यास्त्रों से सुसज्ज मायावी राक्षसो के विरुद्ध हाथ पाँव, दाँत, नाखून, प्रस्तरखण्डों तथा वृक्षों की शाखाओं से निर्मित आदिम आयुधों से लड़ने वाले वानर कैसे सफल हुए अब यह सारा संसार जान गया है।'.....''बस हमारी यही प्रार्थना स्वीकार करें दीन बन्धु! कि नागर सभ्यता के आलोक से दूर रहने वाले हम वानरों को आपकी कृपा का दिव्य प्रकाश सदैव आलोकित करता रहे।''

समरभूमि में सिर तथा भुजाओं से रहित एक सुविशाल मानवाकार रक्त से भरे गर्त (गड्ढे) को देख कर माँ जानकी ने उसके विषय में आश्चर्य पूर्वक जानकारी चाही थी। प्रभु श्री राम के सस्मित मौन को लक्ष्य कर भैया लक्ष्मण कह उठे, ''भाभी माँ! आपने पर्वताकार रावणानुज कुम्भकर्ण को भले ही न देखा हो, उसके सम्बन्ध में सुना अवश्य होगा। भैया ने मंत्रपूरित दिव्यास्त्रों से पहले उसकी दोनों भुजाओं को काटा था, तदूपरान्त उसके किरीट–कुण्डलधारी मस्तक को ऐन्द्रास्त्र के प्रहार से काट कर दूर फेंक दिया था। कुम्भकर्ण के भूधराकार शरीर के गिरने से यह शिर तथा भुजा विहीन मानवाकार गर्त निर्मित हुआ है। कुम्भकर्ण सहित अन्य मारे गये राक्षसों के रक्त से वह विशला गर्त रक्त–सरोवर के रूप में परिवर्तित हो गया है।'' कुछ क्षण रुक कर सौमित्र पुनः बोल उठे थे, ''महादेवी! भैया तो स्वभाव से ही अपने शौर्य, अपने हस्तलाघव तथा अपने औदार्य के उल्लेख में अत्यन्त कृपण हैं। यह वह स्थान है जहाँ आपका अपहर्त्ता आततायी रावण भैया के बाण–प्रहार से रथ से उछल कर दूर भूमि पर जा गिरा था। रथहीन आयुधीन एवं अरक्षित रावण को यहीं भैया ने पहली बार जीवनदान दे लंका भाग जाने का अवसर दिया था।'' भैया लक्ष्मण के इतना कहते ही पुष्पक विमान स्थित वानरों तथा

राक्षसों के ''जय श्री राम'' के समवेत जयनाद से लंका का नभमण्डल गुंजायमान हो उठा था।

अब कमलनयन रघुवीर ने अत्यन्त प्रशंसा, वात्सल्य एवं कृपापूर्ण दृष्टि से अपने प्राणप्रिय अनुज की ओर देखा। ''जो परमवीर चौदह वर्षों की वनवास–अवधि में अल्पाहार अनिद्र तथा ब्रह्मचर्यव्रत धारी रह चुका हो, धनुर्वेद के अंग–उपांगों का परम ज्ञाता हो, दिव्यास्त्रों के संधान तथा वारण में अत्यन्त निपुण हो वही पतिव्रता नागकन्या सुलोचना के पति तथा विधाता के वरद् योद्धा इन्द्रजित का वध कर सकता था। यह दुष्कर कार्य तुम्हारी प्रिय अनुजा उर्मिला के प्राणेश्वर तथा मेरे प्राणप्रिय भाई लक्ष्मण ने इस स्थल पर कर दिखाया है।''

सहसा पुष्पक में बैठे हम वानरों तथा अमात्यों सहित विभीषणकी आँखें आश्चर्य से फैल गईं। उस अकल्पनीय दृश्य को देख कर। माँ जानकी अपने आसन से उठ खड़ी हुई थी। तथा अपने प्राणाधार श्रीराम के पीछे खड़े भैया लक्ष्मण को सम्बोधित कर अपने दोनों हाथों को जोड़ साश्रुनयन बोल पड़ी थीं, हे देवरजी! पञ्चवटी में आपके प्रति कहे गये कटु वचनों के लिए मैं विदेहराज जनक की दुहिता स्वनाम धन्य राघवेन्द्र के प्राण प्रिय अनुज से बार–बार क्षमा प्रार्थिनि हूँ।''..... ''यद्यपि आपके प्रति कटूक्ति का बदला मुझको रावण के हाथों अपमानजनक अपहरण के दण्ड के रूप में मिल चुका है, किन्तु इतने से ही मेरे पापों का शमन नहीं हो जाता है।'' कहते हुए फफक उठी थीं माँ जानकी। सहसा विमान के भीतर का वातावरण अत्यन्त बोझिल हो उठा था।

''मुझसे क्षमा माँग कर मुझको नरक का भागी न बनावें भाभी माँ। जिस दिन आर्य ललनाओं को अपने पुत्रों, पुत्रवत अनुजों से क्षमा माँगने को विवश होना पड़ेगा, वह दिन आर्य संस्कृति के पतन के प्रारम्भ का काला दिन होकर इतिहास में कुख्यात् हो जावेगा। ईश्वर साक्षी है, भैया के चरणों की सौगन्ध खाकर मैं सुमित्राकुमार आज

घोषणा करता हूँ कि मैंने अपने भैया तथा आपको सदैव अपने माता–पिता से भी बढ़कर माना है। मेरे सर्वस्व रहे हैं आप दोनों। यदि आपने पुनः कभी अपने इस सतत् अनुगत के प्रति दीनता का प्रदर्शन किया सत्य की शपथ लेकर मैं घोषणा करता हूँ वह क्षण मेरे जीवन का अन्तिम दिन होगा।' पुष्पक के गंभीर बातावरण को सेतुबन्ध का अवलोकन करते समय प्रभु श्री राम ने पुनः सामान्य बनाया।

प्रभु के संकेत मात्र पर पुष्पक 'सागर–सेतु' से मात्र कुछ हाथ ऊपर उड़ने लगा। ''यह देखो विशाललोचने सीते। सौ योजन तक विस्तीर्ण सागर की उत्ताल तरंगों को मर्यादित कर वानरों के विश्वकर्मा नल ने सेतु बनाने का जो अकल्पनीय कार्य संभव कर दिखाया है वह अश्रुत् एवं अकृतपूर्व 'नल–सेतु' यही है। यदि प्रियवर नल ने इस असंभव को संभव कर न दिखाया होता वानरों की सुविशाल वीरवाहिनी का लंका पहुँचन असंभव हो गया होता। वैसी स्थिति में तुम्हारी मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में नल की महनीय भूमिका रही है। यही नहीं इस स्थापत्य विशारद वानर श्रेष्ठ ने समय–समय पर समर भूमि में रावण के सेनानी तथा अमात्य, सुमाली पुत्र रावणमातुल प्रहस्त, उसके अनुज राक्षसवीर अकंपन तथा रणदुर्धर राक्षस–समूह 'प्रतपन' के साथ हुए द्वन्द्व–युद्ध में अपनी श्रेष्ठता से यह प्रमाणित कर दिया था कि रणकौशल में भी यह किसी से कम नहीं हैं।

कुछ ही क्षणों पश्चात् पुष्पक 'नल–सेतु' के प्रारम्भ स्थल से अनतिदूर दक्षिण गन्धमादन क्षेत्र में उतरा। लंका के विरुद्ध अभियान के पूर्व काकुस्थ श्री राम ने यहीं पर आशुतोष भगवान शिव के 'श्री रामेश्वरम्' विग्रह की स्थापना कर उसका अर्चन–पूजन किया था। माँ सीता भैया लक्ष्मण के साथ प्रभु ने एक बार पुनः यहाँ शिवार्चन का कार्य किया तथा आस–पास के सरोवरों का 'सुग्रीवसरोवर', 'अंगदसरोवर', 'नल–सरोवर', 'नील–सरोवर', 'जाम्बवान्–सरोवर' के

रूप में नामकरण किया। लंकापति विभीषण ने प्रभु की कृपापूर्ण अनुमति के पश्चात् 'श्री रामेश्वरम्' के नाम से विख्यात एक भव्य शिवालय के निर्माण का दृढ़ संकल्प लिया। उन्होंने मन्दिर के निकट ही श्री रामतीर्थ, श्री लक्ष्मणतीर्थ, श्री राम झरोखा (श्री राम के चरण चिह्न) की स्थापना की घोषणा भी किया।

'श्री रामेश्वरम्' पूजन के पश्चात् इक्ष्वाकु कुल भूषण पुनः उस स्थल पर पहुँचे जहाँ से नल ने सेतुबन्धन का कार्यारम्भ किया था। वानर सेनाओं के अधिपति तथा लंका विजेता श्री राम कुछ क्षणों तक उस भव्य सेतु को जिसको उन्होंने 'नल–सेतु अभिधान दिया था, अपलक निहारते रहे थे। राक्षसराज विभीषण ने लंका की सुरक्षा के लिए उक्त सेतु को स्थायी भय बताया था। उन्होंने प्रभु श्री राम से समस्या के स्थायी समाधान की प्रार्थना की थी। कुछ पल उस अमर कृति को अपलक निहारते रहने के पश्चात् श्री रघुनाथ ने उस सेतु को अपने धनुष की नोंक से दबा दिया था। हम वानरों ने भय तथ आश्चर्य के साथ देखा कि आकाश में बिजली की चमक के साथ पूरा का पूरा नल–सेतु धीरे–धीरे समुद्र की अतल गहराईयों में डूबता गया। कुछ ही पलों में पूरा का पूरा सेतु समुद्र में तिरोहित हो गया। भक्तवत्सल श्री राम प्रभु ने घोषणा किया कि वानरों की यह अमरकृति सामान्य मनुष्य की दृष्टि से ओझल समुद्र में सैकड़ों हाथ नीचे अपने मूलरूप में ज्यों की त्यों बनी रहेगी। आने वाले कल्पों में स्थापत्य कला के विद्वान् मेरे सहायक एवं मित्र वानरों की इस अद्‌भुत कृति को आश्चर्यजनक पायेंगे तथा इसके निर्माण कला पर नवीन शोध करेंगे। समाज में दलित तथा पिछड़ो के रूप में मान्य वानरों की कृति युगों–युगों तक लोगों को यह स्मरण दिलाती रहेगी कि किसी कला विशेष पर किसी जाति अथवा धर्मविशेष के लोगों का एकाधिकार नहीं हो सकता है। वयोवृद्ध जाम्बवन्त जी ने तत्काल यह घोषण कर दिया कि ''यह स्थान भविष्य के भारत का एक अति प्रसिद्ध तीर्थस्थल बनेगा तथा संसार में इस स्थान को ''धनुष्कोटि'' के नाम से जाना जावेगा।''[1]

दक्षिण समुद्रतट से उड़ान भरने के कुछ ही पलों के उपरान्त हम वानरों के पुष्पक के परिवेश में भी जानी–पहचानी गन्ध की अनुभूति हुई। हमारा मुखमण्डल प्रसन्नता से आलोकित हो उठा। हम वानर–राज्य की सीमा में प्रवेश कर चुके थे। प्रसन्नता पूर्वक विमान से बाहर देखने पर ऋष्यमूक पर्वत तथा उसको घेर कर बहने वाली तुंगभद्रा नदी हमारे दृष्टिपथ पर आये। हम वानरों के हाथ स्वचालित सा प्रणाम की मुद्रा में हमारे सिरों से जा लगे। हमारी प्रसन्नता को भाँप लेने वाले प्रभु श्री राम के संकेत मात्र पर पुष्पक वानरराज्य की सीमा में अत्यन्त नीची उड़ाने भरने लगा।

दक्षिण भारत के भूगोल से सुपरिचित आर्यमनीषी यह भली–भाँति जानके हैं कि तुंग तथा भद्र (आधुनिक मैसूर राज्य) नामक पर्वत शिखरों से निकलने वाले अलग–अलग जलस्रोतों के मिलन से तुंगभद्रा का निर्माण होता है। दक्षिण भारत की कावेरी तथा कृष्णा नदियों के साथ तुंगभद्रा की गणना पवित्र नदियों में की जाती है[2] कतिपय मनीषी तुंगभद्रा को 'तुंगवेणामहानदीम्'' (महाभारत) कहकर स्मरण करते हैं। इसी पुण्यतोया तुंगभद्रा से घिरे ऋष्यमूक पर्वत पर वानरों की सुप्रसिद्ध राजधानी महापुरी किष्किन्धा अवस्थित है।

किष्किन्धा से थोड़ी दूर पर अञ्जनेयपर्वत शृंखला पर हनुमान जी की माता देवी अञ्जना का निवास है। किष्किन्धा की राजसभा का सदस्य बनने के पूर्व हनुमान जी के पिता गोकर्णपर्वत पर रहने वाले वानरों के राजा अथवा यूथप थे। हमारे पितामह ने उनके शौर्य तथा स्वामिभक्ति पर प्रसन्न हो अपनी अमात्य परिषद में सम्मिलित किया था। राज–परिषद में सम्मिलित होने के पचात् श्री केसरी अपनी पत्नी मार्जारी के साथ किष्किन्धा में आ बसे थे। गोकर्ण पर्वत पर ऋषिमुनिजन को कष्ट देने वाले शम्बसादन नामक असुर को इनके द्वारा वध करने पर प्रसन्न ऋषियों ने इनको विष्णुभक्त तथा महाबली पुत्र का पिता होने का आशीर्वाद दिया था। परिणामतः हनुमान जी का जन्म हुआ था। किष्किन्धा के कोलाहल पूर्ण वातावरण

में मन न लगने पर केसरी ने वानरराज ऋक्षरजस् की आज्ञा से अपनी दूसरी पत्नी अज्जना के लिए वहाँ स्थायी आवास का प्रबन्ध कर दिया था तब से उक्त पर्वतमाला 'आज्जनेय' के नाम से ख्यात हो गई।

किष्किन्धा से लगभग दो कोस की दूरी पर माल्यवान पर्वत अवस्थित है जहाँ वानरेन्द्र वाली के वध तथा पितृव्य सुग्रीव के राज्यारोहण के पश्चात् अपने अनुज के साथ प्रभु श्री राम ने पहिला वर्षावास बिताया था। माल्यवान् के जिस भाग में उन्होंने वर्षाऋतु के चार मास व्यतीत किया था उसको गिरप्रस्रवण कहा जाता है। इसी स्थान से प्रभु श्री राम के नेतृत्व में विशाल वानर वाहिनी ने लंका के विरुद्ध युद्ध हेतु प्रयाण किया था।

इन स्थलों पर कुछ क्षणों तक मंडराने के पश्चात् पुष्पक पंपासरोवर के ऊपर उड़ान भरने लगा। किष्किन्धा से लगभग आधे कोस दूर स्थित इस सरोवर के निकट राघव श्रेष्ठ ने कुछ समय तक अपने अनुज के साथ निवास किया था। पास ही में स्थित परमसाधवी शबरी के आश्रम को दिखलाते हुए अवधेश ने माता सीता को शबरी के विषय में बताया था। उन्होंने यह भी बताया कि किस तरह इस परम 'सिद्धा' अथवा परम 'श्रमणा' को अपने आश्रम में स्थान देने पर महर्षि मातंग के रुढ़िवादी शिष्यों ने इस आश्रम का परित्याग कर दिया था। कालान्तर में शबरी का यह आश्रम दक्षिण भारत का एक सुप्रसिद्ध तीर्थस्थल बन गया। शबरी को उपदेशित करते हुए मैंने यहीं पर उससे यह कहा था कि, ''परमेश्वर की प्राप्ति के लिए जाति की श्रेष्ठता अथवा नीचता या स्त्री या पुरुष में भेदाभेद का महत्त्व नहीं है। इसमें महत्त्व केवल भक्ति का होता है, जिसका आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति परमपद प्राप्त कर सकता है।''[3] प्रभु के अवगत कराने पर देवी सीता ने उस स्थल विशेष को प्रणाम किया जहाँ शबरी ने अग्नि–प्रवेश कर पुण्यलोक को प्रस्थान किया था।

इन स्थलों के विहंगमावलोकन के पश्चात् हमारा विमान किष्किन्धा नगरी पर मंडराने लगा। प्रभु ने माता सीता को अब हम वानरों की सुरम्य नगरी किष्किन्धा के विषय में जानकारी दिया। महाराज बालि की इस भव्य नगरी का अवलोकन कर माँ सीता ने प्रभु से अनुरोध किया कि वह महाराज सुग्रीव की राजमहिषी देवी तारा आदि प्रिय पत्नियों तथा अन्य वानरेश्वरों की पत्नियों को अपनी राजधानी अयोध्या ले चलना चाहती है। भक्त–वत्सल प्रभु ने सहर्ष इसकी अनुमति दे दी थी। उनके द्वारा वनवास अवधि में नगर–प्रवेश से विरत रहने के कारण उनके संकेत मात्र पर पुष्पक किष्किन्धा के प्रवेशद्वार के निकट उतरा। भगवान रघुनाथ ने वानरराज सुग्रीव से अनुरोध किया कि देवी सीता की प्रार्थना पर ध्यान देते हुए अतिशीघ्र अयोध्या चलने की व्यवस्था की जाय। अश्विनी शुक्ला चतुर्थी को वानरों द्वारा किष्किन्धा में विजयोत्सव मनाया गया। प्रभु श्री राम तथा माता जानकी माल्यवान पर ही रुके। रात्रि–विश्राम के पश्चात् दूसरे दिन हमारा विमान वानरराज तथा प्रमुख वानरों की पत्नियों के साथ अवधपुरी की ओर उड़ चला था।

मार्ग में अयोध्यापति श्री राम ने माँ जानकी सहित हम वानरों को उस स्थल को दिखलाया जहाँ विशाल बाहु कबन्ध राक्षस वध हुआ था। उसके पश्चात् हमारा विमान जनस्थान में उस स्थान के ऊपर पहुँचा जहाँ ग्रीधराज जटायु ने माँ जानकी की रक्षा में अपना प्राणोत्सर्ग कर दिया था। उस स्थान पर विमान से ही प्रभु श्री राम, माता जानकी तथा भैया लक्ष्मण ने हाथ जोड़ पक्षिराज जटायु की स्मृति को प्रणाम किया। जनस्थान में ही हमारा विमान खर, दूषण एवं त्रिशिर के वधस्थल तथा पवित्र गोदावरी के तट पर पंचवटी के भैया लक्ष्मण द्वारा बनाई गई पर्णकुटीर के ऊपर से निकला। यही से आततायी रावण ने माँ जानकी का अपहरण किया था। वहाँ से हम सब क्रमशः सुतीक्ष्ण–आश्रम, शरभंग–आश्रम, राक्षस विराध–वधस्थल, अत्रि–आश्रम, चित्रकूट तथा यमुना नदी के ऊपर से होकर आगे बढ़े

थे। वहाँ से उड़ कर हमारा पुष्पक, प्रयाग में भारद्वाज आश्रम के ऊपर उड़ान भरने लगा। वहाँ से पलक झपकते वह शृंगवेरपुर के ऊपर जा पहुँचा। अपने मित्र गुह की राजधानी को ऊपर से देवी सीता को दिखलाते हुए प्रभु ने पुण्यतोया गंगा तथा यामुन पर्वत से निकली यमुना के पवित्र संगम का का दर्शन कराया। प्रभु श्री राम, माता सीता तथा भैया लक्ष्मण साथ हम सभी ने हाथ जोड़ अत्यन्त श्रद्धापूर्वक इस पावन–स्थल को प्रणति निवेदन (प्रणाम) किया। संगम–स्थल पर मंडराने के पश्चात् हमारा पुष्पक भारद्वाज–आश्रम में जा उतरा। महामुनि भारद्वाज ने अपने भव्य आश्रम में प्रभु श्री राम तथा सानुज सीता सहित हम सबके प्रणति निवेदन का उत्तर अपने तथा प्रमुख शिष्यों के समवेत स्वस्तिवादन तथा मंगलाशीष के साथ दिया। महर्षि भारद्वाज ने प्रभु श्री राम को अयोध्या की अद्यावधिक स्थिति से अवगत कराया। वैसे भक्तवत्सल अवधपति, हनुमान जी का पहिले ही अपने मित्र निपाद राज गुह तथा राजकुमार भरत को सूचित करने हेतु प्रेषित कर चुके थे।

अब आगे बढ़ने से पूर्व किष्किन्धा की ओर पुनः लोट मैं माँ जानकी के साथ वानर मुख्यों की पत्नियों के भाव–विभोर कर देने मिलन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। माता तारा के नेतृत्व में काकी रोमा एवं अन्य वानर–प्रमुखों की पत्नियों द्वारा किष्किन्धा में प्रभु के ठहराव स्थल पर आकर माता जानकी, प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण का स्वागत– अभ्यर्थना का कार्य सम्पन्न हुआ। माँ वैदेही माता तारा एवं अन्य वानर स्त्रियों से इस प्रकार मिलीं मानों उनकी बिछड़ी हुई सखियां हों। मुझे भली–भाँति स्मरण है माँ ने देवी सीता एवं प्रभु श्री राम से क्षमा माँगते हुए कहा था, ''हम वानर सर्वेश्वरी सीता सहित लोकेश्वर श्री राम का यदि यथोचित सत्कार नहीं कर पा रहे हैं तो भगवान् हमको अपना दास समझ इसको अन्यथा न लेने की कृपा करें।'' प्रभु के संकेत पर माँ जानकी ने आगे बढ़ भावविह्वल वानरमहिषी के मुख पर न केवल

हाथ रख दिया था वरन् उनको अपने अंक में भर लिया था। ''देवी तारा! आप मुझ सीता के लिए अग्रजा तुल्य हैं। रोमा एवं अन्य वानर–प्रमुखों की पत्नियाँ मेरे लिए सखी के समान हैं। हमारे आत्मीय सम्बन्धों को औपचारिकता के बन्धन में बाँधने का प्रयास न करें।..... मैं विदेहराज जनक की दुहिता अयोध्यापति श्री राघव की अर्द्धांगिनी सीता आप सबको सशपथ विश्वास दिलाती हूँ कि अपने प्राणों को संकट में डाल रावणवध में मेरे स्वामी के सहायक बने वानरराज सुगीव, युवराज अंगद, हनुमान आदि वानर प्रमुखों के प्रति मैं जीवन भर उऋण नहीं हो सकती हूँ।'' माँ जानकी ने अपने स्नेहिल तथा निष्कपट व्यवहार से सम्पूर्ण वातावरण को ही स्नेहसिक्त बना दिया था।

भारद्वाज आश्रम में पुष्पक के उतरने के ठीक पहिले की एक भावपूर्ण स्मृति उल्लेखनीय है। यह घटना मेरे स्मृतिपटल पर आज भी ज्यों की त्यौ अपने मूलरूप में विद्यमान है। पतित पावनी गंगा के ऊपर से उड़ते समय अवधेश ने देवी सीता को सम्बोधित करते हुए का था, ''हे विशाल लोचने सीते! इस नीचे बहने वाली सेवार रहित, स्वच्छतोया नदीश्रेष्ठ गंगा का नमन करो। इसके पावन तट पर महर्षियों के अनेक पर्णकुटीर, विद्यमान हैं। विभिन्न प्रकार के सुगन्धित एवं सुन्दर पुष्पों, फलों तथा पशुपक्षियों से घिरी शिशुमार, नक्र, तथा सर्पों से सेवित पुष्यतोया गंगा उत्तम आभूषणों से विभूषित सुन्दरी के समान दिखलाई पड़ रही है। भगवान विष्णु के चरणों से निसृत, भगवान शंकर के जटाजूट से अवमुक्त समुद्र की राजमहिषी पुण्य–सलिला इसी दिव्य गंगा एवं यमुना के संगम के सन्निकट तीर्थराज प्रयाग स्थित है।'' माँ जानकी तथा सानुज श्री राम द्वारा गंगा को करबद्ध प्रणाम करते देख पुष्पक के समस्त सहयात्रियों सहित वानर स्त्रियों ने भी हाथ जोड़ उस दिव्य सरिता का नमन किया था। कुछ ही पलों में हम महर्षि भारद्वाज के अतिथि थे।

भारद्वाज–आश्रम की भव्यता, भौतिक समृद्धि, सुविशालता

तथा निर्दोष रख–रखाव देख हम वानर आवश्चर्य चकित रह गये थे। हमारी समझ में यह नहीं आ रहा था कि यह किसी ऋषि का आश्रम है अथवा किसी परम प्रतापी नरेन्द्र का सुविशाल सौध अथवा हर्म्यागार। योजन पर्यन्त क्षेत्र में विस्तीर्ण तोरण द्वार से युक्त इस आश्रम–परिसर में अनेक भव्य एवं विशाल हर्म्यागार तथा अतिथिशालायें निर्मित हैं। प्रत्येक हर्म्यागार अथवा प्रासाद में सुसज्जित, शयनागार, सुन्दर आसन, भव्य स्नानागार, प्रसाधन कक्ष एवं खाद्य तथा पेय सामग्री उपलब्ध है। सैकड़ों हाथियों तथा अश्वों के लिए अलग–अलग चतुष्शालायें तथा अश्वशालायें निर्मित हैं, जहाँ पशुओं तक के लिए विभिन्न प्रकार के चारों एवं खाद्य सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। हम वानरों को यह सूचना बहुत विश्वसनीय नहीं लगी थी कि चित्रकूट में में रह रहे प्रभु श्री राम को मनाने जाते समय राजमाताओं, राजवधूओं, अमात्यों सहित राजकुमार भरत तथा उनकी चतुरंगिणी सेना को रात्रिप्रवास का आतिथ्य इसी आश्रम ने प्रदान किया था। आश्रम की सम्पन्नता तथा विशालता देख हमारा अविश्वास स्वतः समाप्त हो गया। इस भव्य आश्रम के सर्वसुविधासम्पन्न 'राजवेश्म'' (राजकीय अतिथिशाला) में श्री राम, देवी सीता तथा सौमित्र को रात्रिपर्यन्त ठहराया गया था। हम वानरों के स्वनिर्मित समूहों को तथा वानर स्त्रियों को अलग–अलग अतिथिशालाओं में ठहराया गया। वानरराज सुग्रीव, राजमहिषी तारा तथा देवी रोमा एवं महाराज विभीषण और उनकी पत्नी सरभा तथा पुत्री त्रिजटा को अलग–अलग कक्ष प्रदान किये गये थे। मुझे लगा कि सम्पूर्ण आर्य–जगत में किसी भगवान की भाँति सम्पूजित कुलाधिपति महर्षि भारद्वाज का आध्यात्मिक तथा शास्त्र–ज्ञान उनकी अतिरिक्त सम्पत्ति है।

पुनरुक्ति चिन्ता किये बिना कहना चाहूँगा कि भारद्वाज आश्रम की रम्यता तथा भव्यता को देख सहसा मुझको चन्दन, अगुरु, कमल तथा विभिन्न पुष्पों एवं मधु तथा मद्य के गन्ध के संवाहक वायु के थपेड़ों से युक्त वैभवशालिनी तथा अद्वितीय सौंदर्य की स्वामिनी

''अतुल–प्रभा'' महापुरी किष्किन्धा का स्मरण हो आया। पर्वतघाटी में स्थिति के कारण उसका चतुर्दिक परिवर्द्धन भले ही न किया जा सका हो, किन्तु शैक्षिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से उसको आधुनातन तो बनाया ही जा सकता है।

हम वानरों ने भारद्वाज–आश्रम में इस बात का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया कि भौतिक सुस्मृद्धि के पश्चात् भी आश्रम का वातावरण नितान्त अध्यात्मिक था। रात्रि में देर से शयन करने के पश्चत् भी ब्राह्ममुहूर्त में आश्रम के विभिन्न भागों से गूँज रहे वेदमंत्रों की ध्वनि से हमारी निद्रा को विराम लग गया था। अपनी उत्सुकता न रोक मैं अपने शयनकक्ष को त्याग शीघ्रतापूर्वक स्नान कर अपने अतिथिगृह से बाहर निकल पड़ा। मैंने देखा आश्रम स्थित शिक्षालय के अग्नि स्थान तथा ब्रह्म–स्थान से निकल मन्त्रोच्चार के स्वर सम्पूर्ण वातावरण को पवित्रता एवं स्फूर्ति प्रदान कर रहे थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न अतिथिशालाओं तथा आश्रमवासियों के आवासों से भी वेदों के मन्त्रों के पाठ के स्वर गूँज रहे थे। हने यह पढ़ रखा है कि सामयिक वातावरण का प्रभाव स्थानीय निवासियों पर अत्यन्त गहराई से पड़ता है। लंका में दौत्यकर्म के लिए जाते समय मैंने स्पष्ट रूप से लक्ष्य किया था कि उस समय लंका में युद्धोन्माद सर्वत्र व्याप्त था। मार्ग स्थित सैनिक कूटागारों के निकट सैनिकों द्वारा विभिन्न शास्त्रास्त्रों का अभ्यास किया जा रहा था। वातावरण में रणवाद्यों की ध्वनि उत्तेजना में वृद्धि कर रही थी। सफाई कर्म के बाद भी वायुपुत्र द्वारा लंकादहन के कतिपय अवशेष स्थिति की भयावहता की ओर संकेत कर रहे थे। यहाँ यह कहना पूर्णतया प्रासंगिक होगा कि युद्धमनोविज्ञान के कुशलज्ञाता बजरंग बली अपने इस कृत्य से लंका के राक्षसों, राक्षसियों, बच्चों तथा सैनिकों के मन में गम्भीर भय उत्पन्न करने में सफल हुए थे। मुझको अकेले देख कर भी भय से अपनी माँ के गोद से चिपकते छिपते बच्चे, मार्ग छोड़कर भयभीत राक्षसियों का पलायन, सामान्य राक्षसों तथा सैनिकों के मुख पर भय तथा आशंका के भाव

लंका वासियों के अन्तर्मन की वास्तविक स्थिति की चुगली कर रहे थे।

प्रभु श्री राम चौदह वर्ष की वनवास अवधि पूर्ण कर पञ्चमी तिथि को प्रयागराज के भारद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचे थे। महर्षि के अनुरोध पर उस दिन प्रभु ने महर्षि का अर्घ्य तथा आतिथ्य–सत्कार स्वीकार कर आश्रम में रुकने का निर्णय लिया था। दूसरे दिन प्रातः हमें अयोध्या पहुँचना था।

भारद्वाज–आश्रम में पहुँचने से पूर्व ही परमोदार अवधेश ने हनुमान जी को शृंगरेवपुर में अपने मित्र निषाद–राज गुह तथा तदूपरान्त अयोध्या जा वहाँ अपने पहुँचने की सूचना श्री भरत लाल को देने तथा दोनों स्थानों की कुशल–क्षेम का पता लगाने का आदेश दे पुष्पक से ही हनुमान जी को भेज दिया था। निषादराज गुह से भेंट के पश्चात् पवनपुत्र को नन्दिग्राम जा राजकुमार भरत को प्रभु के समाचारों से उनको अवगत करा तथा वहाँ की कुशलता जान अयोध्या की सम्पूर्ण स्थिति को लौट कर प्रभु श्री राम को संसूचित करना था।

पुष्पक के नन्दिग्राम पहुँचने के पूर्व हनुमान जी द्वारा प्रदत्त सूचना के आधार पर राजकुमार भरत के आदेश पर राजकुमार शत्रुघ्न अयोध्या को अपने स्वामी के स्वागत के लिए पूर्ण रूपेण सुसज्ज एवं समलंकृत करा चुके थे। राजकीय भवनों तथा देवालयों के अतिरिक्त वहाँ की प्रजा का प्रत्येक वर्ग अपने–अपने आवासों को पुष्पालंकृत एवं सुसज्ज कर चुका था। सूत, वैतालिक (भाँट), वाद्यकुशल, गणिकायें, राजरानियाँ, मन्त्रीगण, उनके परिजन, सेनायें, सैनिक परिवार लगभग सम्पूर्ण अयोध्या वासी अपने प्रिय राज–राजेश्वर श्री रामचन्द्र का दर्शन को अपने–अपने घरों से बाहर निकल चुके थे। राजकुमार शत्रुघ्न के आदेश पर हजारों श्रमिक रातोंरात पृथक–पृथक टोलियों में विभक्त हो राजमार्गों के निकट की ऊबड़–खबड़ भूमि को समतल बना चुके थे। राजमार्गों के किनारे तथा समतल की गई भूमि

पर शीतल एवं सुगन्धित जल का छिड़काव किया जा चुका था। राजमार्गों के दोनों ओर पताकायें फहरा रही थीं। राजमार्गों तथा चत्वरों (चौराहों) पर भीड़ अव्यव स्थित न हो इसके लिए पर्याप्त संख्या में उनको नियन्त्रित करने वाले रक्षक नियुक्त किये जा चुके थे।

धृति, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मन्त्रपाल तथा सुमन्त्र–आठों मंत्रिगण, ध्वज एवं आभूषणों से सज्जित गजराजों पर आरुढ़ हो अपने राजाधिराज के स्वागतार्थ निकल चुके थे। अन्य राजपदाधिकारीगण सुसज्ज हाथियों तथा घोड़ों पर सवार थे। अलंकृत उत्सव–रथों पर आरुढ़ राजमातायें कौशल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी अयोध्या से निकल नन्दिग्राम पहुँच चुकी थीं। नगर के मुख्य–मुख्य ब्राह्मणों, क्षत्रिय, व्यवसायियों, अन्य मंत्रियों से घिरे राजकुमार भरत एक हाथ में स्वर्णखचित छत्र तथा दूसरे हाथ के अवलम्बन से सिर पर अपने अग्रज की चरणपादुकायें लिए पैदल ही आगे–आगे चल रहे थे। पवन पुत्र उनके साथ थे।

अयोध्यावासियों के हर्ष एवं उत्कंठा–मिश्रित जयघोष के बीच हमारा पुष्पक नन्दिग्राम में राजकुमार भरत के निकट ही उतर पड़ा। सत्यप्रतिज्ञ राघवेन्द्र ने अपने प्राणप्रिय अनुज को बुलवाकर पुष्पक में चढ़ा लिया। पुष्पक में चढ़े आनन्द विभोर भरत जी ने आगे बढ़ कर अपने अग्रज के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया तथा उनके चरणों में पादुकायें डालीं। परमकारुणिक ज्येष्ठ राघव ने द्रुतगति से आगे बढ़ भरत को उठा कर अपनी भुजाओं में आबद्ध कर लिया। उन्होने देर तक अपने अनुज को अपने हृदय से लगाये रखा। दोनों भाईयों के नेत्रों से अमृततुल्य अश्रुविन्दु झर–झर गिर रहे थे। वह भावुक दृश्य देख पुष्पक के समस्त सहयात्रियों की आँखें भर आई थीं। यह दृश्य न जाने कब तक चलता रहता यदि अवसर पाते ही श्री लक्ष्मण जी ने झुक कर भरत के चरणों को पकड़ न लिया होता। राजकुमार भरत अत्यन्त प्रेमपूर्वक अपने अनुज के गले मिले तथा तदुपरान्त माँ

जानकी को अपना नाम लेते हुए अपना प्रणति निवेदन किया।

इसके पश्चात् प्रभु श्री राम द्वारा परिचय कराने पर कैकेयीकुमार भरत, वानर राज सुग्रीव, मुझसे, जाम्बवन्त, मैन्द, द्विविद, नील, ऋषभ, सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ तथा पनस आदि वानर–प्रमुखों से एक–एक कर गले मिले। हमें लगा साक्षात् ज्येष्ठ राघव ही हमारा आलिंगन कर रहे हों। वानरों के शौर्य, परोपकार, उत्सर्ग एवं सात्विक मैत्री की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए कैकेयी नन्दन श्री भरत ने वानरराज सुग्रीव को अपना पाँचवा भाई बताते हुए पुनः अनको अपनी भुजाओं में भर लिया था। अन्य वानरवीरों से मिलने के पश्चात् राजकुमार भरत राक्षसराज विभीषण से गले मिलें। इसके पश्चात् उन्होंने विभीषण द्वारा प्रदत्त सहायता के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट किया। राजकुमार शत्रुघ्न के विमान में आने के पश्चात् एक बार पुनः परिचय एवं मिलन की प्रक्रिया दुहराई गई।

विमान से उतर कर लगभग दौड़ते हुए प्रभु श्री राम राजरानियों में सबसे आगे खड़ी माता कौशल्या के पास पहुँच कर उनके चरणों से जा लिपटे। तत्पश्चात् उन्होंने बारी–बारी माता सुमित्रा एवं माँ कैकेयी के चरणों में प्रणिपात किया। माताओं की दृष्टि में प्रभु अभी भी त्रैलोक्य विजयी रावण का वधकर्ता न हो बालक ही थे तीनों राजरानियों ने स्नेहपूर्वक उनकी बलैयाँ लीं। अन्त में प्रभु श्रीराम ने अपने पुरोहित वसिष्ठपुत्र सुयज्ञ के चरणों का स्पर्शकर उनसे आशीर्वाद पाया। इसके पश्चात् ज्येष्ठ राघव ने आमात्यगण का अभिवादन स्वीकार कर दोनों हाथों को जोड़ अपने चतुर्दिक खड़े अयोध्यावासियों का अभिवादन किया। अयोध्या के न गर–द्वार पर पहुँचते ही वानरेन्द्र सहित हम सभी ने वहाँ ही पवित्र धूल को उठा अपने माथे से लगा उस पावन धरा को प्रणाम किया। हमारे आराध्य राघव–बन्धुओं की जन्मस्थली जो थी वह।

संदर्भ–संकेत

1. स्कन्द0 पु0 (सेतु महात्म्य) 36–32–
पुण्ये रामसेतो विमुक्ति दे, धनुष्कोटिरीति ख्यातं तीर्थमस्ति विमुक्तिदम्''।
2. भागवत पु0 5.19.18 ।
3. अध्यात्मरामायण 10.1.44 ।

• • • •

– 8 –

प्रवास

हजारों नर–नारियों के समवेत जयघोष के मध्य अयोध्यापति श्रीराम के पीछे–पीछे राजपरिवार, परिजनों, अमात्यों तथा लंका से आये राक्षस एवं वानर अतिथियों के साथ के भारी जनसमूह ने नन्दिग्राम से चलकर उत्तरी कोसल की सुप्रसिद्ध राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया। दुल्हन की भाँति सजी इस राजनगरी का वैभव तथा सौंदर्य देख हम सब चमत्कृत थे। प्रत्येक नागरिक अथवा देशवासी को अपनी राजनगरी पर स्वाभाविक गर्व होता है किन्तु भरतखण्ड की प्राचीनतम् नगरियों में से एक इस आर्य–नगरी की समृद्धि, उसका स्थापत्य, उसकी भव्यता, उसका शाश्वत् आकर्षण, उसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। त्रैलोक्यविजेता रावण की राजनगरी श्री लंका को उसकी भौतिक समृद्धि के कारण 'स्वर्णनगरी' अथवा सोने का नगर कहा जाता है, हमारी अपनी किष्किन्धा भी एक भव्य तथा आदर्श नगरी है, किन्तु गिरिदुर्ग के अन्दर बने अथवा पर्वत उपत्यकाओं पर अवस्थिति के कारण उन नगरियों का मनोवाच्छित विस्तार संभव नहीं था। अयोध्या के साथ ऐसा नहीं हुआ था। महानदी, सरयू के तटवर्ती समतलीय विस्तृत भूमि के कारण उसका 'वाञ्छित्' विस्तार संभव था। बाद में हमने स्वयं भ्रमण कर इसको भली–भाँति देखा था। इस जन–संकुल राजनगरी का विस्तार हम वानरों को आश्चर्यचकित कर रहा था। वास्तुविद् नल तो इसकी स्थापत्यकला पर मानों सम्मोहित हो उठा था।

रघुवंशियों की राजधानी अयोध्या, प्राचीन भारतीय नगर–व्यवस्थापन का आदर्श रही है। जनश्रुति के अनुसार इसकी

स्थापना स्वयं मनु ने की थी, किन्तु समय–समय पर यहाँ के प्रजापालक नरेशों द्वारा इसका सम्बर्द्धन, पुननिर्माण एवं नगर–विन्यास सर्वश्रेष्ठ वास्तुविदों द्वारा कराया जाता रहा है। पुण्यसलिला सरयू के दक्षिण तटपर उपलब्ध समतल भूमि इस रम्य तथा धनधान्य से पूर्ण नगरी के विस्तार का उपयुक्त अवसर प्रदान करती रही है। यहाँ के निवासियों के अनुसार इस आयताकार महानगर की लम्बाई बारह योजन तथा चौड़ाई तीन योजन से भी अधिक है।

प्राचीन भारत के आर्यों ही नहीं वरन् अन्य मानव–समूहों में भी राजनगरों–विशेषकर राजप्रासादों का निर्माण वायु की दिशाओं को ध्यान में रखकर कर किया जाता है। वायु के झोंकों के साथ नगर की बाहरी सीमा पर स्थित नदी अथवा सरोवरों एवं परिखाओं के जल की आद्रता राजप्रासाद एवं नगर में पहुँच लोगों को शीतलता प्रदान करे इस बात को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। लंका तथा किष्किन्धा जैसे महानगरों में ये झोंके पर्वत शृंखलाओं से टकरा कर आते हैं अतएव वहाँ नगर के चतुर्दिक बृहद् सरोवरों अथवा जलाशयों का निर्माण करना पड़ा। अयोध्या के उत्तरदिशा में कल–कल निनादिनी विपुल जलवाहिनी सरयू की अथाह जलराशि से होकर आने वाली वायु से नगर की आद्रता में कमी न आने पावे इसको ध्यान में रख नगर के चतुर्दिक अनेक पद्मसरोवरों अथवा तड़ाकों का निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त नगर में अनेक राजरक्षित उद्यानों के समान सम्पन्न नागरिकों के बृहद भवनों की सीमा में अनेक उद्यान तथा वाटिकायें हैं। विभिन्न प्रकार के पुष्पों, फलों की सुगन्ध से नगर का वातावरण सदैव सुवासित रहता है। नगर के चतुर्दिक निर्मित परिखा के जल में जलग्राहों का बाहुल्य है। परिखा से निकली मिट्टी से सुदृढ़ वप्र का निर्माण कर उनमें कँटीली तथा विषैली झाड़ियों को लगाया गया है। नगर की सुरक्षा के निमित्त प्रस्तर खण्डों तथा ईटों से सुदृढ़ प्राचीर निर्मित की गई हैं प्राचीर की मोटाई तीस हाथ से पैंतालिस हाथ के बीच है। प्राचीर के पीछे

शालवनों की अलग पंक्तियाँ हैं। प्राचीर पर स्थान–स्थान पर शतघ्नियाँ लगी हैं।[1] नगर प्राकारों अथवा प्राचीरों पर स्थान–स्थान पर सैनिकों के विश्राम हेतु आसन सहित अट्टालक बने हैं, जिनको 'इन्द्रकोश' कहा जाता है।[2] अट्टालकों पर नियुक्त प्रहरियों के हाथों में विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्र हैं। वहाँ की अभेद्य सुरक्षा–व्यवस्था को देख कर मुझको लगा कि इसका ''अयोध्या'' (युद्ध के लिए अनुपयुक्त अथवा अयोग्य) नाम सर्वथा सार्थक है। सचमुच अयोध्या शत्रुओं के लिए सर्वथा दुर्जय है। इसका यह नाम संभवतः इस कारण भी पड़ा कि आन्तरिक अथवा बाह्य कारणों में इसकी धरती पर कभी कोई युद्ध हुआ ही नहीं।

राजनगरी का सर्वाधिक प्रशस्त एवं गड्ढारहित मार्ग राजधानी में प्रवेश तथा निवास के प्रमुख द्वारों को जोड़ता है। इन महाद्वारों के अतिरिक्त नगर–प्राकार में चारों दिशाओं में अनेक लघुमार्ग अथवा प्रतोलियां हैं, जहाँ सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है। प्रायः सभी लघुमार्ग प्रमुख राजमार्ग से जुड़े हुए हैं। मार्गों के निर्माण में प्रस्तर खण्डों तथा ईंटों का प्रयोग हुआ है। प्रमुख राजमार्गों से निकल कर अनेक लघुराजमार्ग नगर में स्थित स्वर्णकारों (सुनारों), मणिकारों (जौहरियों), वस्त्रोपजीवियों (बुनकरों), कुम्भकारों, शस्त्रोपजीवियों (आयुधाकारों) बेधकारों (मणियों में छेद करने वाले), रोचकों (रंगरेजों), दन्तकारों (हाथी दाँत से निर्माण करने वाले), तन्तुवायो (जुलाहा+दर्जी), रजकों (धोबियों) मद्यनिर्माता तथा शौण्डिकों (मद्यनिर्मात) की बस्तियों की ओर जाते हैं। मार्गों तथा गलियों के दोनों ओर भव्य तथा बहुखण्डीय भवन निर्मित हैं।

इस पुरातन–भव्य नगरी में जल सर्वत्र सुलभ है। अथाह जलराशि की स्वामिनी सरयू, जल से भरी परिखाओं, चतुर्दिक सरोवरों के अतिरिक्त नगर में अनेक पुष्करियाँ बनवाई गई हैं। अनेक पुष्करणियों में हम वानरों ने पाँच से अधिक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की उपलब्धता देखी है। नगर से होकर जाने वाले जलस्रोतों (नहरों) को

रोककर पानी के छोटे–छोटे कुण्ड बनाये गये हैं। वेदिकायुक्त कूपों की संख्या अत्यधिक है।

अयोध्या के प्रायः सभी सम्भ्रान्त नागरिकों के भवनों में स्नानगृह उपलब्ध हैं। स्नानगृह के चतुर्दिक खुलाकक्ष (बरामदा) होता है। खुले कक्ष के विशिष्ट भाग में प्रज्वलित अग्नि (अलाव) की व्यवस्था है, जहाँ स्नान के पूर्व तथा पश्चात् आवश्यकतानुसार शरीर को ताप प्रदान किया जा सकता है। स्नानगृहों, निवासघरों एवं आंगनों का पानी छोटी नालियों से होकर बड़ी नालियों में पहुँचता है। बड़ी नालियाँ नगर से बाहर पर्याप्त दूरी पर जाकर नदियों में गिरता है।

सुगन्धित द्रव्यों की परिकल्पना, विकसित नागर–सभ्यता का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है। सुगन्ध न केवल शृंगारप्रिय नागरिकों को ही आकर्षित करती है, वरन् यह वायुमण्डल को सुवासित कर मन को आनन्द पहुँचाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या के राजाओं, राजपरिवार तथा आप्तजनों को धूप–चूर्ण, कपूर, चन्दन, सुगन्धित विविध प्रकार के पुष्प एवं लतायें तथा सुगन्धित तैल पहिले से ही अति–प्रिय रहे हैं। यही कारण है कि गन्ध व्यवसायियों को जानबूझ कर प्रमुख राजमार्गों के दोनों ओर पंक्तिबद्ध क्रम से बसाया गया है। गन्धियों द्वारा क्रय–विक्रय हेतु आरक्षित उच्च श्रेणी के चन्दन, अगरु, विभिन्न पुष्पादि तथा तैल एवं आसव की सुगन्ध से राजमार्ग सुगन्धित रहता है। मालाकारों द्वारा रंग–बिरंगे सुगन्धित पुष्पों तथा मालाओं से सजी दुकानें अद्‌भुत छटा बिखेरती हैं।

अयोध्या में व्यवसायियों को पूर्ण राजकीय संरक्षण प्राप्त है। विभिन्न व्यवसायों के संरक्षण तथा सम्बर्द्धन के लिए राजपदाधिकारी नियुक्त हैं। दण्ड के प्राविधान इतना कठोर तथा पक्षपात रहित है कि कोई प्रभावशाली व्यक्ति भी किसी व्यवसाय विशेष अथवा व्यवसायी को आर्थिक–शारीरिक क्षति पहुँचाने का साहस नहीं कर पाता है। नगर में समान व्यवसाय करने वालों के अलग–अलग संगठन है,

जिनको 'श्रेणी' कहा जाता है। प्रत्येक श्रेणियों ने अपने–अपने सदस्यों के लिए अलग–अलग नियम बना रखा है। इन नियमों को 'श्रेणी–धर्म' कहा जाता है। राजकीय अतिथि 'श्रेणीमुख्य' द्वारा विशेष सम्मान के पात्र होते हैं तथा उनको उचित मूल्य पर वस्तुयें उपलब्ध कराई जाती हैं।

अयोध्या–प्रवास को मैं अपने–जीवन की सर्वाधिक स्मरणीय घटना मानता हूँ। इस प्रवास ने मेरी जीवनधारा, मेरी चिन्तन दिशा तथा राजधर्म में प्रजारञ्जन के प्रति मेरी अनुरक्ति को सर्वथा नई दिशा प्रदान किया है। यही कारण है कि पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना अयोध्या–प्रवास की विभिन्न स्मृतियाँ मेरी वाणी तथा अभिव्यक्ति को विराम देने में संकोच उत्पन्न करती हैं।

अमृत भोजी देवताओं तथा मायावी राक्षसों की भाँति हम वानर भी अतिमानवीय शक्तिसम्पन्न तथा इच्छानुसार रूप धारण करने में निपुण (कामरुपिणः) हैं। हेमपिंगलवर्ण के 'महाकाय' तथा 'ताम्रमुख' कपि अयोध्या के बच्चों तथा अधिकांश पौरजनों में भय तथा कौतूहल के विषय रहे हैं। वानरों में बहुभाषाभाषी हनुमान पृथ्वी के अधिकांश नगरों तथा ऋषि–आश्रमों मे भ्रमण कर चुके हैं। संस्कृत एवं प्राकृत के जानकार बन चुके वानरराज सुग्रीव, बहुभाषाविद् मातामह श्री सुषेण ऋक्षपति जाम्बवन तथा मुझको आर्यभाषाओं का समुचित ज्ञान है। किन्तु जाम्बवन्त जी की भाँति मेरे समक्ष भी संस्कृत बोलने में अभ्यास की कमी बाधा बन कर खड़ी हो जाती है। वानर स्त्रियों में मात्र माता तारा ही संस्कृत एवं प्राकृत की ज्ञाता तथा बहुभाषा भाषिणी रही हैं। शेष वानरों को अवध निवासियों से बात–चीत करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अयोध्या में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हमारे ताम्रमुख तथा स्वर्णाभायुक्त शरीर के कारण हमको देवताओं की सन्तान मान हमारी देववत् पूजा–अर्चना करते हैं। इसका एक अन्य कारण हम वानरों द्वारा प्रभु श्री राम को प्रदत्त सहायता भी है।

सोने की आभा से युक्त शरीर, स्वर्णरोमा, ताम्रमुख, विशालकाय वानरों को अयोध्या में इसके पूर्व सम्भवतः किसी ने नहीं देखा था। जब कभी हम एकाकी अथवा छोटे समूहों में नगर के पण्यों अथवा गलियों में निकल जाते थे हमारे पीछे बच्चों, किशोरों के साथ ही पुरवासियों की भीड़ लग जाया करती थी। बच्चों के साथ हँसी के उद्देश्य से जब कभी कोई विनोदी वानर मुँह बनाकर अथवा हू–हू कर बच्चों पर शीघ्रता से झपटने का नाटक करता बालसमूह में भगदड़ मच जाती थी। कई बच्चे तो घबड़ाहट में गिर तथा रो पड़ते थे। उनकी ऐसी दशा देख वयस्क पुरवासियों में भी हास्य की लहर दौड़ जाती थी। अपने प्रति बच्चों में भय अथवा घबड़ाहट समाप्त करने के उद्देश्य से माँ की गोदी अथवा वयस्कों से चिपटे बच्चों को अपने पास से फल आदि देकर हम उनको अपने प्रति आकर्षित करते थे। ऐसी घटनाओं का स्मरण कर आज भी हमारे मुख पर मन्द–मुस्कान नृत्य कर उठती है।

अयोध्या में हम वानरों को अन्तर्राज्यीय तथा समुद्र के पार के देशों के साथ व्यापार करने वाले अनेक श्रेष्ठि–समूहों के प्रमुखों से मिलने का अवसर मिला। अधिकांश व्यवसायियों का अलग वर्ण होता है; जिसको 'वैश्य' कहा जाता है। कर के रूप में राजकोष को सम्पन्न बनाने में अग्रणी भूमिका निभाने वाले व्यवसायियों को राजा की ओर से विशेष सम्मान मिलता है। ये वणिक 'सार्थवाह' का आश्रय ले अन्तर्देशीय व्यवसाय करते है। मार्ग में दस्युओं, तस्करों अथवा चोरों से बँचने के लिए प्रत्येक सार्थवाह अपने साथ पर्याप्त संख्या में रक्षकों को ले जाता है। हमने अयोध्या में विभिन्न देशों से आये व्यवसायियों को राजनगर की शोभा बढ़ाते देखा था (''नानादेश निवासैश्च वाणीग्भिः उपशोभिताम्'')। समुद्री व्यवसाय महानौकाओं से किया जाता है। जल व्यापार निर्धारित 'नौकापथों' से ही किया जाता है। अयोध्या में सम्पर्क में आये अनेक वणिक संघों को हमने किष्किन्धा के साथ आर्थिक–व्यवसायिक सम्बन्ध स्थापित करने का आमंत्रण दिया है।

उत्तर कोसल राज्य में पशुधन की सम्पन्नता का वास्तविक अनुमान यहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों की पण्यशालाओं, राजकीय पशुशालाओं तथा ग्राम्य–गोष्ठों के भ्रमण के बिना नहीं लगाया जा सकता है। भूमण्डल पर स्यात् ही कोई अन्य देश गोधन की प्रचुरता की दृष्टि से ईक्ष्वाकुओं के कोसल से तुलनीय हों। अयोध्या के उत्तर में बहने वाली महानदी सरयू को पार कर मुझको कतिपय वानरयूथपों के साथ नदी के पार वन क्षेत्र में स्थापित राजकीय पशुशाला अथवा गोष्ठ (गोठ) में जाने का अवसर मिला था। आर्य गायों के झुण्ड को 'गो–युत्' अथवा 'गो–व्रज' कहते हैं। गायों के विक्रय–क्रय केन्द्र को 'प्रत्यागार' कहा जाता है। गायों से दूध, दही एवं घृत की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गो–व्रज में आकार तथा आवश्यकतानुसार वंश–वृद्धि हेतु एकाधिक वृषभ (साँड़) रखे जाते हैं। वृषभों द्वारा खींचें जाने वाले रथ को 'गो–रथ' कहा जाता है। वहाँ गो–शाला प्रमुख ने बताया कि सरयू की भाँति उत्तर कोसल की सीमा से होकर बहने वाली गोमती तथा तमसा नदियों के किनारे भी राजकीय संरक्षण में अनेक गोशालायें स्थापित हैं। प्रत्येक गोसाला में गोरक्षकों के अतिरिक्त प्रशिक्षित श्वानदल भी गोधन के रक्षार्थ नियुक्त किये गये हैं। राजकुमार भरत के ननिहाल से सुप्रशिक्षित कुत्तों को भारी संख्या में उत्तरी कोसल में मंगाया गया है। ये कुत्ते गोरक्षा के साथ वन्य पशुओं के आखेट में भी सहायक होते हैं। गोधन के अन्तर्गत गाय–बछड़ों के अतिरिक्त अन्य पाल्य दुखारु पशुओं की गिनती की जाती है।

अयोध्या की अति श्रेष्ठ अश्व सेना का कारण सुप्रशिक्षित एवं स्वामिभक्त स्थानीय सैनिकों के साथ ही साथ कम्बोज, बाह्लीक, वनायु तथा सिन्धु के क्षेत्रों से आयातित इन्द्र के उच्चैश्रवा अश्व के समान श्रेष्ठ जाति के घोड़े हैं।[3]

कोसल की समुन्नत तथा सर्वसाधन सम्पन्न गज–सेना में ऐरावत, महापद्म, अञ्जन तथा वामन नामक दिग्गजों के वंशजों को हजारों की संख्या में देखने का अवसर हम वानरों को अयोध्या में ही

मिला।[4] हमको पहली बार यहीं पता चला कि इस नगरी में बहुत पहिले से हिमालय की तलहटी में उत्पन्न 'भद्र'; विध्यपर्वतमाला में पाये जाने वाले ''मन्द'', सुह्य पर्वत पर उत्पन्न होने वाले 'मृग' तथा स्थानीय स्तर पर उत्पन्न मिश्र प्रजाति के कंस जाति में उत्पन्न गजों को सुप्रशिक्षण के बल पर अपना आज्ञापालक तथा सहायक बनाया जाता है। वनसम्पदा को सर्वाधिक क्षति पहुँचाने वाले पशु के रूप में हाथियों को हम वानर प्रायः अपना घोर शत्रु मानते रहे थे। हमें पहली बार पता चला कि वनों से गज शावकों को किस प्रकार पकड़ कर प्रशिक्षण दे अपना वशवर्ती सेवक बनाया जा सकता है। हाथी दाँत का वस्तविक मूल्य भी हमें यही ज्ञात हुआ।

वनौपजों में हम वानर प्रायः काष्ट, मधु, पशुचर्म, जड़ी बूटियों, पुष्पों तथा फलों का उपयोग करते रहे थे, किन्तु हम उनके वास्तविक मूल्य एवं आर्थिक महत्त्व से सुपरिचित नहीं थे। अयोध्या– प्रवास में वनसम्पदा के वास्तविक मूल्य तथा महत्त्व का पता चला। यहीं आकर हमें पता चला कि दिवेशी व्यवसायी नाम–मात्र के मूल्य के वस्तुओ के बदले हम से जड़ी–बूटी, पशुचर्म, मधु, फल एवं बहुमूल्य काष्ट; हाथी दाँत आदि की मनमानी प्राप्ति करते हैं। यहीं हमें यह भी पता चला कि हमारा वनक्षेत्र, अपनी वनसम्पदा के साथ ही साथ सुवर्ण, रजत, हीरक, ताम्र, त्रपु (टिन) अयस (लौह) आदि खनिज सम्पदा की अतुल राशि को अपने गर्भ में धारण किये हुए है। कतिपय यथास्थितिवादी वानरों की धारणा थी कि अयोध्या के आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विकास का अनुकरण वानर–संस्कृति के अस्तित्व के लिए घातक हो सकता है किन्तु वानरराज सुग्रीव सहित अधिकांश प्रभावी वानर यूथपों के समर्थन के कारण प्रगतिशील विचारों की जीत हुई।

अयोध्या के नागरिक प्रायः ह्रष्ट–पुष्ट, नीरोग तथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं के प्रति गहरी रुचि रखते हैं। मृगया (आखेट), रथ–दौड़, मल्ल–क्रीड़ा, अश्वों एवं गजों की दौड़ उनको अत्यधिक

प्रिय हैं। अयोध्या में हाथियों को वनों से पकड़ कर लाने, उनको प्रशिक्षित कर सैनिक तथा व्यक्तिगत कार्यों के लिए उपयोगी बनाने वालों का एक विशिष्ट वर्ग बनता जा रहा है। अपने पालतू तथा प्रशिक्षित हाथियों की सहायता से इस वर्ग के लोग वनों से गजशावकों को पकड़ कर लाते हैं, प्रशिक्षित करते हैं तथा अच्छे मूल्य पर राज्य के अधिकारियों, सामन्तों तथा सम्पन्न नागरिकों को बेंचकर अपने व्यवसाय को समुन्नत बनाते हैं।

गीत, संगीत एवं वाद्य के प्रति अवध–वासियों का हार्दिक लगाव है। अयोध्या में कोई भी सामाजिक अथवा धार्मिक कार्य बिना इनके सम्पन्न नहीं होता है। वाद्यों में भेरी, डिन्डिम, मृदंग, दुन्दुभि, कुम्भ, मुरज, पणव, पटह, तन्त्री, वेणु, वीणा अधिक लोकप्रिय हैं। संगीत के तीन स्थानों– ताल, लय एवं मूर्च्छा से निकले सप्तस्वरों का यहाँ के निवासियों को गहरा ज्ञान है।

प्रजा–रञ्जन के प्रति निरन्तर सचेष्ट अयोध्या के राजाओं द्वारा संरक्षित अनेक चिकित्सालयों अथवा आरोग्यधामों का भ्रण कर मैंने स्वयं भी वहाँ की स्थिति को जानने का प्रयास किया था। अयोध्या में 'आभय', 'रोग' अथवा 'व्याधि' पीड़ित अस्वस्थ व्यक्ति को प्रायः ''आतुर'' कहा जाता है। मैंने यहाँ के आरोग्यधामों में कुशल भिषगाचार्यों की देख–रेख में मानसिक अवसाद के कारण चित्तविकृति' के आखेट बने 'चित्तमोह' गर्भपात अथवा 'गर्भपरिस्रव' टूटे जबड़े अथवा 'हनुअभल्यत्', 'कुब्ज' (कूबड़), ''महोदर'' (संग्रहणी), ''उन्माद'' (पागलपन), 'वातगति'' (गठिया) ''ब्रण'' (घाव), ''मूत्राशम–आवरण'' (मूत्रत्याग में व्यवधान), 'नेत्रातुर' (नेत्ररोगी) रोगियों को उपचार कराते स्वयं देखा है। यहाँ के शल्य चिकित्सक भी अपनी कला में अत्यन्त निपुण हैं। स्त्री रोगियों की सहायता में उपचारिकाओं की अलग से व्यवस्था की गई है।

अयोध्या में माँस–भक्षण बहुप्रचलित है। यज्ञों में असंख्य पशुओं की बलि के पश्चात् पशुमॉस का उपयोग 'प्रसाद' के रूप में

ऋषि–मुनि तक बिना किसी संकोच के करते हैं। 'मासोपजीवियों' के लिए मॉस–भक्षण उनके दैनिक आहार का अंग बन चुका है। राजकुमार भरत के साथ ज्येष्ठ राघव को मनाने के लिये गये जनसमूह में मॉसोपजीवी पर्याप्त संख्या में थे। अयोध्यावासी 'मधुर' (मीठा), अम्ल' (खट्टा), 'लवण' (नमकीन), 'कटुक' (कड़वा), 'तिक्त' (तीता) एवं 'कषाय' (कसैला)–षटरस भोजन से सुपरिचित हैं। कच्चे मॉस को सुस्वादु तथा सुपाच्य बनाने के निमित्त 'भाज्य' (मक्खन), घृत (घी) तथा तैल में भलीभाँति पकाया जाता है। अयोध्या में अतिथियों को भोजन कराने के पश्चात् अनिवार्य रूप से दूध, दधि, तक्र, गुड़, खाण्डव, रागखाण्डव, मधु, फलों का रस, आम्र, जामुन, खर्ज्जूर, दाड़िम आदि सामयिक फल परोसे जाते हैं।

मानवजीवन में 'धर्म' की महत्त्वपूर्ण भूमिका चिरपुरातन है। विभिन्न धार्मिक मान्यतायें, संस्कार, उपासनापद्धतियाँ मानव जीवन को उदार, असहिष्णु अथवा बहुग्राह्य बनाने में नियामक तत्त्वों का निर्धारण करती हैं। 'यथाराजा तथा प्रजा'' की अवधारणा के मूर्तरूप का दर्शन हमको अयोध्या में प्राप्त हुआ। विभिन्न धार्मिक मान्यताओं, भिन्न पूजापद्धतियों, पृथक–पृथक आस्थाओं के पश्चात् भी अयोध्या के आभ्यन्तर पौरजनों (राजनगर के वासियों) तथा बाह्य पौरजनों (कोसल देश के वासियों) में परस्पर कटुता के अस्तित्व का आभास तक हम को नहीं हुआ। हम विदेशी वानरों के प्रति भी अयोध्या के राजपरिवार के सदस्यों से लेकर सामान्य जन तक के आचरण में एक विशेष प्रकार के अपनापन अथवा लगाव के भाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़े।

विभिन्न संस्कृतियों के संवाहक मानव–समूहो का परस्पर मिलन एक दूसरे के प्रति उत्पन्न अथवा स्थापित आशंकाओं या भ्रान्तियों को निर्मूल करता है। अयोध्या में वानरों तथा यहाँ नागरिकों की परस्पर भेंट ने ही कार्य किया है। वानरों के सम्बन्ध में यहाँ के नागरिकों की अनेक भ्रान्त धारणाओं का स्वतः निर्मूलन हो गया है

इस परस्पर मिलन से लगता है, महर्षि बाल्मीकि ने कभी किष्किन्धापुरी अथवा किसी वानरराज्य का भ्रमण नहीं किया था और न तो उनको किसी वानर के सान्निध्य में रहने का अवसर ही मिल सका था। यही कारण है कि उन्होंने अपने 'रामायण' में हम वानरों के लिए ऐसे सम्बोधनों अथवा विशेषणों का प्रयोग किया, जिससे हमारा मानवीय स्वरूप ही संकटग्रस्त हो उठा। सामान्य मानवों की भाँति दो हाथ, दो पैर, एक सिर, दो नेत्र एवं अन्य शरीरांगों के होते हुए भी उनके द्वारा हम वानरों को 'प्लवंगम', 'कपि', 'शाखामृगेन्द्र', 'वनौकस' का विशेषण दिया गया। महर्षि तो मानों हमोर मानवीय अस्तित्व को ही मिटाने पर तुले हुए थे। उन्होंने हमको ताम्रवपुधारी, दीर्घरोमा, स्वर्णाभ तथा लम्बी पूंछ (लांगूल) वाला वानर कह डाला। ऋषिवचन को 'आप्त' तथा 'सत्य' मानने वाले मनुवंशियों ने हमको लांगूलधारी वन्य जीव वानर मान लिया। मुझको पूर्ण विश्वास है कि प्रभु श्री राम के अवश्वमेघ के अवसर पर अयोध्या आये ऋषिवर वाल्मीकि को हम वानरों के प्रत्यक्ष–दर्शन ने अपनी भूल पर सोचने को अवश्य विवश किया होगा।

स्वयं को आर्य सम्बोधन देने वाले उत्तरी भरतखण्ड के निवासी मानव समूह के प्रभाव के कारण दक्षिण में निवास करने वाले वानरों, गीधों, राक्षसों तथा अन्य मानवसमूहों में राजतंत्र के प्रति आस्था दिनों दिन दृढ़ हुई है। रावण के समय राक्षसों में राजा की निरंकुशता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। वानरों में गणतंत्र के प्रति अभी भी पर्याप्त मोह शेष रह गया है। यही कारण है कि हम वानरों में दास–प्रथा आज तक अस्तित्वहीन रह गई है। यह सर्ववीदित है कि राक्षसों तथा आर्यों में दास प्रथा आज भी प्रभावी है। राजा–रानी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध का लाभ उठा दास–दासी कभी–कभी राजपरिवार की मर्यादा तक को संकट में डाल देते हैं। कुख्यात् मन्थरा का उदाहरण हमारे सामने है। अयोध्यानाथ श्री दशरथ की छोटी रानी कैकेयी के साथ अपनी निकटता का लाभ उठा दासी

मन्थरा ने प्रभु श्री राम के राज्याभिषेक से ठीक पहिले उनको बिना किसी अपराध के चौदह वर्षों के वनवास का दण्ड दिलाने में सफलता प्राप्त किया था।

राजमाता कैकेयी सम्बन्धी लोकापवाद एवं उससे जुड़ी अन्य घटनाओं (चौदह वर्षीय राम वनवास) के पश्चात् भी अयोध्या में स्वर्गीय महाराज दशरथ की लोकप्रियता से हम वानरों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। वस्तुतः तीनों लोकों क लिए संकट बन चुके ''त्रैलोक्य कंटक'' रावण तथा उसके समर्थकों के वंशोच्छेद के प्रभु श्री राम के अकल्पनीय कृत्य ने राजमाता कैकेयी तथा महाराज दशरथ के 'कुकृत्य' को विश्वकल्याण का प्रमुख कारण मान लिया था। स्वयं प्रभु श्री राम ने राजमाता कैकेयी को पूर्ववत् सम्मान तथा विश्वास दे अयोध्यावासियों की इस धारणा की पुष्टि कर दिया था कि प्रभु श्री राम का वनवास नियति द्वारा पूर्व निर्धारित था। अन्यथा राजकुमार भरत के लिए राजपद की इच्छुक माता ने देवी जानकी तथा भैया लक्ष्मण के लिए तो वनवास माँगा नहीं था। यह तो भाग्य का खेल था, पूर्वनिर्धारित दैवेच्छा थी कि श्री राम के साथ माता जानकी तथा भैया लक्ष्मण भी बन को चले गये। तदूपरान्त वैदेहीहरण, जटायुमरण, सुग्रीवमैत्री, सीता अनुसन्धान, लंका प्रयाण, रावणवध, विभीषण को राज्य आदि सब कुछ पूर्व निर्धारित ही था। देवताओं की प्रार्थना पर पूर्व निर्धारण के अनुसार स्वयं श्री विष्णु हरि के अवतार रूप श्री राम का जन्म हुआ था।

दीर्घबाहु महाराजा अज के यशस्वी पुत्र नृपेन्द्र दशरथ अतिरथी वीर, यज्ञप्रेमी, दानशील, धर्मनिष्ठ एवं प्रजापालन के लिए सुख्यात् थे।[5] उनकी अनेक रानियों में चार–कौसल्या, सुमित्रा, सुरुपा तथा सुषेणा चार पटरानियाँ थीं।[6] महाराज को अतिप्रिय छोटी रानी सुषेणा के कैकेय देशीया होने के कारण प्रजा में वह कैकेयी के अपरनाम से जानी गईं। भगवान विष्णु को प्रसन्न कर उनसे प्रत्येक पटरानी के गर्भ से एक–एक पुत्र का वर मांगने के परिणामस्वरूप महारानी

कौशल्या से प्रभु श्रीराम, सुमित्रा से लक्ष्मण, सुरुपा से शत्रुघ्न तथा सुषेणा (कैकेयी) से भरत नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए।[7] ज्येष्ठाता क्रम मे श्री राम के पश्चात् क्रमशः भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का जन्म हुआ था। राजकुमार शत्रुघ्न के जन्म के कुछ दिनों पश्चात् महारानी सुरुपा की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उनका पालन–पोषण राजकुमार लक्ष्मण के साथ ही माता सुमित्रा द्वारा किया गया अतएव प्रजा में राजकुमार लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के युगल रूप में सुमित्रा के गर्भ से उत्पन्न होने की बात लोकविश्रुत हुई।[8]

राजमाता कौसल्या सरलता, उदारता एवं वात्सल्य की मानों साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। दक्षिण कोसल के महाराज भानुमान अथवा भानुमत ने अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर महाराज दशरथ को स्त्रीधन के रूप में अपनी पुत्री के निमित्त एक हजार ग्रामों को उपहारस्वरूप प्रदान किया था। महाराज दशरथ का ज्येष्ठ पत्नी तथा पटरानी महारानी कौसल्या का व्यवहार अन्य रानियों के प्रति अत्यन्त उदारता का रहा है। महारानी सुमित्रा भी सदैव उनको अपनी सगी ज्येष्ठ बहिन सा सम्मान देती रही हैं। किन्तु अपने प्रेमपाश में महाराज दशरथ को आबद्ध करने वाली छोटी रानी कैकेयी का व्यवहार राजमहिषी कौसल्या के प्रति मर्यादा के अनुकूल नहीं रहा। सत्य, धर्म एवं सनातन आर्य–परम्पराओं के प्रति गहरी आस्था रखने वाली माता कौसल्या के सदाचरण तथा परम उदारता का प्रभाव उनके पुत्र श्री राम पर स्वाभाविक रूप से सबसे अधिक पड़ा।

मगध देश के अधिपति महाराज शूर की दुहिता राजमाता सुमित्रा यों तो राजकुमार लक्ष्मण की जननी थीं, किन्तु महारानी सुरुपा की आकस्मिक मृत्यु के कारण उनको राजकुमार शत्रुघ्न का भी पोषण करना पड़ा था। उन्होंने दोनों राजकुमारों का समान रूप से पालन–पोषण किया। दोनों बच्चों के प्रति समान वात्सल्य तथा लगाव के कारण राजप्रासाद में भी वह दोनों राजकुमारों की माँ के रूप में प्रतिश्रुत हो गईं। राजभवन के बाहर पौरजानपदों में तो वह

जुड़वे राजकुमारों लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न की माँ के रूप में लोकविख्यात थीं हीं। राजनगरी अयोध्या के निवासियों में महारानी सुमित्रा एक विवेकशील, धर्मनिष्ठ तथा राजमहर्षि कौशल्या की अनुगामिनी के रूप में विश्रुत हैं। प्रभु श्री राम के वनगमन के समय राजकुमार लक्ष्मण को अपने अग्रज के साथ सहर्ष वन जाने की अनुमति देने वाली माता सुमित्रा ने न केवल श्रीराम की जननी को सान्तवना दी थी। वरन् महाराज दशरथ की मृत्यु के उपरान्त अपना आवास छोड़ अपनी मान्य अग्रजा राजमाता कौसल्या के कक्ष में आ गई थीं। आदरणीया देवी उर्मिला अत्यन्त गर्व के साथ मुझको बताया करती थीं कि उनकी आदर्श राजमाता सुमित्रा विश्व की सर्वश्रेष्ठ ममतामयी सास हैं। अयोध्या–प्रवास की अल्प–अवधि में ही उन्होंने हम वानरों के प्रति अपने अकूत वात्सल्य से हमको यह मानने को विवश कर दिया था कि राजमाता सुमित्रा स्नेह एवं वात्सल्य की अधिष्ठात्री वसुन्धरा जैसी उदारहृदया है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में अपने नाम से अपने देश कैकेय को प्रख्याति दिलाने वाले परम आत्मज्ञानी नरेश अश्वपति कैकेय के नाम को पुनः धारण करने वाले कैकेय नरेश अश्वपति (द्वितीय) की पुत्री राजकुमारी सुषेणा प्रजा में महारानी कैकेयी के नाम से विख्यात् हैं। अयोध्यापति महाराज दशरथ की कनिष्ट किन्तु सबसे प्रिय पत्नी सुषेणा अथवा कैकेयी स्वयं युद्धविशारदा एवं कुशल सारथि रही हैं। देव–दावन–युद्ध में महाराज दशरथ के प्राणों की रक्षा करने वाली इस महारानी को उनसे दो वर प्राप्त हुए थे। अयोध्या के जन–जन को ज्ञात घटनाक्रम के अनुसार अपनी बालसखी और व्यक्तिगत दासी मन्थरा के समझाने पर इस महारानी ने पहिले वरदान के रूप में अपने पुत्र भरत के लिये अयोध्या का राजपद तथा दूसरे वर के बदले श्रीराम के लिए चौदह वर्षों का वनवास माँगा था। राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी अपने अग्रज श्री राम के प्रति अपनी अटूट निष्ठा, अपने अखण्डित विश्वास तथा अकूत सम्मान का परिचय देते

हुए राजकुमार भरत ने न केवल कोसल का राजसिंहासन ठुकरा दिया वरन् अपनी जननी कैकेयी को आशुकोपिनी, अविचारिणी, ऐश्वर्य–लुब्धा, तथा पापबुद्धि कहते हुए माँ तक मानने से मना कर दिया था। इस घटना ने महारानी कैकेयी के सम्पूर्ण जीवन दर्शन को ही बदल कर रख दिया था। हम वानरों ने अयोध्या की राजमाता सुवेषा (कैकेयी) को अपनी ज्येष्ठा राजमाता कौसल्या के प्रति सर्वथा समर्पिता तथा प्रभु श्री राम एवं देवी जानकी के प्रति पूर्ण वात्सल्यमयी पाया था। हम वानरों के प्रति भी वह अत्यन्त उदार, स्नेहिल तथा ममतामयी थीं।

अपनी प्रभा से समस्त दिशाओं को आलोकित करने वाली, लक्ष्मीस्वरूपा देवी सीता भारतीय स्त्री जाति के सतीत्व, अपने अलौकिक पातिव्रत्य तथा दिव्य सौंदर्य के लिए अनन्त काल तक यहाँ की नारी जाति का आदर्श बनी रहेगीं। पातिव्रत्य के सम्बन्ध में मद्रदेशीया राजकुमारी तथा सत्यवान की पतिव्रता सावित्री को आदर्श मानने वाली, विदेहराज सीरध्वज की दुलारी दुहिता देवी सीता कुल की रीति, राजनीति तथा लोकनीति में भी सबके लिए अनुकरणीय रहेगीं। अपने कपटरहित स्नेहिल व्यवहार के बल पर उन्होंने आततायी रावण की अशोक वाटिका में निवास के समय अपनी देख रेख के लिए नियुक्त राक्षसियों की प्रभारी विभीषण–पत्नी सरमा को अपनी 'प्रणयिनीसखी'' बना लिया था। अपने इसी आकर्षक आचरण के बल पर उन्होंने अपनी पहली भेंट में ही परम विदुषी माता तारा को अपनी घोर प्रशंसिका बना लिया था। जहाँ तक हम वानरों का प्रश्न है, रावण के विरुद्ध अपना सर्वस्व प्रभु श्री राम को सौंप देने के कारण वह वानर वीरों के प्रति हृदय से कृतज्ञ थीं। उनकी दृष्टि में पितृव्य सुग्रीव जहाँ उनके लिए आदरणीय बड़े भाई थे, मैं भैया लक्ष्मण की भाँति उनके लिए पुत्रवत् बन गया था। मेरे लिए तो वह मेरी 'दूसरी माँ' बन गई हैं। यही कारण है कि राज राजेश्वर प्रभु श्री राम की राजसभा में उनके द्वारा दूसरी बार सतीत्व का प्रमाण माँगने पर जब

वह धरती की गोद में समा गई थीं, तब मैं फफक–फफक कर रो पड़ा था। प्रभु श्री राम के प्रति मेरे मन का शत्रुभाव एक बार पुनः अंगड़ाई लेकर खड़ा होने को था ही कि भैया लक्ष्मण के मुख पर अपने अग्रज के प्रति रोष तथा आँखों में विवशता के भाव देख मैं किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करने से विरत रह गया था।

विदेहराज सीरध्वज जनक की दूसरी पुत्री उर्मिला, देवी सीता की मानो साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। अपनी अग्रजा की भाँति देवी उर्मिला को भी संस्कार, सदाचरण, शालीनता तथा त्याग मानों जन्म से प्राप्त हुए हों। मेरा वानर मन यह बार–बार कहने को विवश है कि कतिपय गुणों में वह अपनी अग्रजा से भी बढ़–चढ़ कर हैं। अयोध्या–प्रसास के समय जब मैं उनसे पहली बार मिला तो ऐसा लगा कि मानो वह मुझको वर्षों से जानती हों। मुझे देखते ही वह वेगपूर्वक चलकर मेरे निकट पहुँची थीं। स्नेह की अधिकता से उनकी आँखों में से छलते उनके आँसू उनके अन्तर्मन की स्थिति के साक्षी थे। ''आओ भैया आओ! विदेहराज जनक की दूसरी जानकी उर्मिला यह नहीं समझ पा रही है कि लंका की युद्ध भूमि में अपने पति का पग–पग पर साथ देने वाले उनके लिए वाहन रूप में स्व्यं को प्रस्तुत करने वाले देवी तारा के इस लाल के ऋण से वह कैसे उऋण हो पावेगी?'' स्नेह विगलित वाणी में अत्यन्त कठिनाई से वह इतना कह पाई थी। मैं झुक कर उनके चरणों को छूना ही चाहता था कि उन्होंने मुझे ऐसा करने से रोक दिया। स्नेहपूरित गद्‌गद् कण्ठ से वह इतना ही कह सकीं कि ''क्या तुम मेरा पुत्र बनना स्वीकार करोगे तारानन्दन? लंका के महासमर में आर्यपुत्र के वाहन के रूप में शत्रुओं के प्राणघातक प्रहारों से उनकी रक्षा करने को सतत प्रतिबद्ध युवराज अंगद! वैदेही उर्मिला जीवन–पर्यन्त तुम्हारी ऋणी रहेगी।'' सहसा मुझको अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। हर्ष से अभिभूत हो मैं उनके दोनों पैरों को कस कर पकड़ फूट–फूट कर रो पड़ा था। ''पहली बार इस पितृहीन अंगद को लग रहा है कि वह अनाथ नहीं

है त्याग की साक्षात्! प्रतिमूर्ति उसकी दूसरी माँ अयोध्या के राजप्रासाद में आवासित है। वानरेन्द्र बाली का अभागा पुत्र आज सत्य, धर्म एवं अपने अराध्य भगवान शंकर को साक्षी मानकर यह वचन देता है यावज्जीवन वह पुत्र–धर्म का निर्वाह करेगा।'' ''उठो पुत्र! उठो!'' कहते हुए उस महिमायुक्त नारी ने मुझको दोनों हाथों से पकड़ कर अपने चरणों से उठाया तथा मेरे सिर को सूंघते हुए आशीष दिया कि उनका यह पुत्र सैकड़ों वर्ष का स्वस्थ तथा समृद्धमय जीवन प्राप्त करे। अपने नेत्रों से आनन्दाश्रु बहाते मैं काष्टवत् खड़ा था कि मेरे पीछे खड़े रामानुज श्री लक्ष्मण के स्नेहसिक्त शब्द मुझको सुनाई पड़े। ''क्या मुझसे नहीं मिलोगे वत्स अंगद!'' मैंने, मुड़कर सामने खड़े भैया श्री लक्ष्मण को देखा। उनके चरणों में गिरने को था ही कि उन्होंने आगे बढ़कर मुझको अपेन अंकपाश में ले लिया। ''हमारे मानस पटल पर तुम्हारी स्मृति कभी मन्द न पड़ सके तथा प्रतिदिन तुम्हारा नाम अनिवार्यतः हम पति–पत्नी की जिह्वा पर आता रहे इस निमित्त यह दाशरथि लक्ष्मण आज तुमको वचन देता है कि जब हमारा कोई पुत्र जन्म लेगा हम उसका नाम ''अंगद'' रखेगें।'' इस दृश्य का स्मरण कर आज भी मेरी आँखें बरस पड़ती हैं। मैं सोचने को विवश हो जाता हूँ कि रामानुज श्री लक्ष्मण तथा उनकी अर्द्धांगिनी उदारता, करुणा तथा प्रत्युपकारिता में अपने अग्रजा श्री राम की राजरानी तथा अपनी तथा बड़ी बहन देवी सीता से यदि बढ़कर नहीं है तो क्या कम हैं ?

प्रभु श्री राम के श्वसुर विदेहराज सीरध्वज जनक का नाम विद्वत् जगत में अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। विदेहराज मात्र शास्त्रज्ञ ही नहीं थे वरन् उनका शस्त्र–ज्ञान भी समान रूपेण श्रेष्ठ था। देवी सीता के सौन्दर्य का समाचार सुन उनकी प्राप्ति के निमित्त विदेहराज्य पर आक्रमण करने वाले संकाश्य–नरेश सुधन्वा का समरभूमि में वध कर उन्होंने अपना युद्ध कौशल को सत्य प्रमाणित कर दिया था। अपने अनुज केशध्वज को संकाश्य का राज्य

सौंपने वाले महाराज सीरध्वज ने श्रीराम द्वारा धर्नुभंग के पश्चात् अपनी पुत्री सीता का विवाह श्री राम से कर दूसरी पुत्री उर्मिला को विवाह वे राजकुमार लक्ष्मण को प्रदान कर दिया था। उनके अनुज कुशध्वज की पुत्रियां माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति क्रमशः राजकुमार भरत तथा शत्रुघ्न को व्याही गई थीं।

दिव्य रूपप्रभा तथा अप्रतिम सौन्दर्य की स्वामिनी महारानी सीता अयोध्या–प्रवास के समय माता तारा सहित वानर यूथपों की वहाँ गई पत्नियों की प्रियसखी, दीदी तथा अनुजा के विभिन्न रूपों को एक साथ धारण करने वाली असाधारण आर्य नारी के समन्वित रूप में उभर कर सामने आई। मन, कर्म, वाणी से अपने पति के प्रति पूर्णसमर्पित माता जानकी अपने व्यवहार से वानर स्त्रियों को आदर्श एवं अनुकरणीय देवकन्या लगीं। यह उस महान् नारीरत्न के अल्पावधि सान्निध्य का प्रभाव था कि कि वानर स्त्रियों ने अपने–अपने राज्यों में वापस लौट उनको आदर्श मान परिवार चलाने का संकल्प लिया था।

• • • •

सन्दर्भ–संकेत

1. वा0रा0, बाल0 के 4वें सर्ग में राजा दशरथ द्वारा सुरक्षित अयोध्या पुरी का विस्तृत विवरण दिया गया है। कतिपय चुने गए श्लोक निम्नवत हैं :–

''आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती गीणि विस्तीर्णां सुविभक्त महापथा।।7।।
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्य था।।9।।
कपाट तोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषिता सर्वशिल्पिभिः।।10।।
सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालकध्वजवतीं शातघ्नीशतसंकुलाम्।।11।।
दुर्ग गम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।
आर्जवण सम्पूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा।।13।।
सिंहव्याघ्रवराहाणाम् मत्तानां नदतां वने।
हन्तारौ निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलैरपि।।21।।
तादृशानां सहस्त्रैस्तामभिपूर्णो महारथैः।
पुर्रामावपासयामास राजा दशरस्थतदा।।22।।

वा0 रा0 बाल0 5.7–21।

(राजा दशरथ की ''शोभायुक्त (श्रीमती) महापुरी बारहयोजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी है। उसमें (महापुरी के आन्तरिक भागों में सरलता पूर्वक जाने के लिए) उपयुक्त स्थलों पर विभिन्न मार्ग जुड़े हुए है।। ये मार्ग महापथ अथवा प्रमुख राजमार्ग से जुड़े हैं। देवेन्द्र ने जैसे अपनी अमरावती पुरी को बसाया उसी प्रकार महाराज दशरथ ने अपनी अयोध्यापुरी को पहले की अपेक्षा विशेष रूप से विस्तार एवं समृद्धि प्रदान किया है। यह बड़े–बड़े कपाटों एवं तोरणों (फाटकों एवं किवाड़ों) से युक्त हैं सुनियोजित ढंग से

बसाई गई इस महापुरी विविध प्रकार के यन्त्रों तथा शास्त्रास्त्रों का पर्याप्त संग्रह है। इसमें विभिन्न शिल्पकारों की अलग श्रेणियाँ अलग अलग बसाई गई हैं। स्तुतिगान करने वाले सूतों तथा वंशवृक्ष का गुणगान करने वाले मागधों (भाटों या चारणों) की संख्या पर्याप्त है। अतुलनीय शोभा से सम्पन्न शतघ्नियाँ (तोपें) लगी हैं।.... दूसरों के लिए सर्वथा अअगन्य महापुरी के चतुर्दिक बनी परिखायें (खाईयाँ) अत्यन्त गहरी तथा अलंघनीय है। घोड़े, हाथी, गायें, बैल, ऊँट तथ गदहे आदि उपयोगी पशुओं से यह राजपुरी भरी–पूरी है। मतवाले सिंहों, बाघों, शूकरों आदि को अपने तीखे शस्त्रास्त्रों एवं बाहुबल से मार गिराने वाले सहस्त्रों महारथी राजा दशरथ की बसाई हुई इस महापुरी में निवास करते हैं।'')

2. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) :
3. 'कम्बोज विषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः।
   वानुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः।।22। व0 रा0 बाल0 6.22
   (अयोध्या में भारी संख्या में काम्बोज एवं बाह्लीक में जन्में श्रेष्ठ घोड़ों के अतिरिक्त वनायु एवं सिन्धु तटवर्ती क्षेत्र के उत्तम अश्व उपलब्ध हैं)।
4. ''ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुैलस्तथा।
   अञ्जनादपि निष्क्रान्तैर्वामनादपि च द्विपैः।।24।।
   भद्रैमन्द्रैमृगैश्चैव भद्र मन्द्र मृगैस्तथा।
   भद्रमन्द्रैमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी।।25।। वा0 रा0 बाल0 24–25
   (अयोध्यापुरी की शक्तिशाली सेना मं ऐरावत, महापद्म, अञ्जन एवं वामन नामक कुलीन दिगजों के वंशजों के अतिरक्त (हिमालय क्षेत्र) भद्र, (विध्यपर्वत के) मन्द्र (सष्य पर्वत में जन्मे) मृग जाति के हाथी बड़ी संख्या में हैं। इसके अतिरिक्त भद्रमन्द्र तथा मृग प्रजाति के मिश्रण से उत्पन्न मिश्र जाति के गज भी पर्याप्त संख्या में हैं)।

5. 'तस्य पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियाः।।1।।
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षित।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता।।2।।
(उस अयोध्यापुरी में चारों वेदों के ज्ञाता, समस्त उपयोगी वस्तुओं के संग्रहकर्ता दूरदर्शी महातेजस्वी, नगर तथा राज्य की जनता के प्रिय (अतिरथी वीर महाराज) दशरथ निवास करते है। जिस प्रकार महातेजस्वी मनु ने इस जगत की रक्षा की थी, उसी प्रकार महाराज दशरथ भी अयोध्यापुरी की रक्षा करते हैं)।
6. पद्म0 पु0 (पातालखण्ड) 116 ।
7. पूर्वोक्त
8. पद्मपुराण, पातालखण्ड तथा प्राचीन चरित्रकोश (पृ. 268) के अनुसार दशरथ की चार पटरानियाँ थी। लोकमानस में मात्र कौसल्या, सुमित्रा एवं कैकयी की स्मृति का कारण महारानी सुरुपा की असामयिक मृत्यु ही थी)

• • • •

– 9 –

प्रणम्य

अयोध्या के पौरजानपदों की धार्मिक–वैचारिक उदारता का संकेत मैं पहिले ही कर चुका हूँ। विस्तार भय से मैं विभिन्न परिवारों अथवा ग्रामों के स्थानीय कुलदेवताओं, ग्रामदेवताओं अथवा स्थानीय अन्य देवी–देवताओं की चर्चा न कर अत्यन्त संक्षेप में वहाँ के अत्यन्त लोकप्रिय प्रमुख राष्ट्रीय देवताओं तथा देवियों का ही अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख करने जा रहा हूँ।

अयोध्या में अपनी–अपनी आस्था के अनुकूल विभिन्न देवताओं तथा देवियों का पूजन–अर्चन बहुप्रचलित है। स्थानीय धर्माचार्य इनको चार प्रमुख वर्गों में रखते हैं। पहिला वर्ग वैदिक देवमण्डल का है, जिनमें सोम, आदित्य, वायु, इन्द्र, वरुण आदि सम्मिलित हैं। दूसरा वर्ग देवियों का है जिसमें वाक, पूषा, धृति, स्मृति, मेधा, श्री, हीं, कान्ती आदि का नाम आता है। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत अपेक्षया नवमान्यता प्राप्त दिशः, विदिशः, मासाः, संवत्सर, विभिन्न वेद तथा मंत्रादि की गणना की जाती है। चौथे वर्ग में गृहदेवता, कुलदेवता, ग्रामदेवता आश्रम देवता, तथा वनदेवता आदि सम्मिलित है। वस्तुतः इनकी गणना ''देव–श्रेणी'' से अलग की जानी चाहिए।

अयोध्या में लोकमान्यता है कि प्रारम्भ में देवताओं की संख्या मात्र तैंतीस थी, जिनमें ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु एवं दो आश्विन् सम्मिलित थे। कालान्तर में समय–चक्र के साथ पूषा, मरुत्गण, अग्नि, वरुण, वायु आदि का महत्त्व बढ़ा, किन्तु देवराज के पद पर अभिषेक के पश्चात् 'इन्द्र' सर्वश्रेष्ठ बन गया। देवताओं तथा देवियों की संख्या विकासक्रम में बढ़ती गई और आगे चल कर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नामक 'त्रिदेव' सर्वाधिक महत्त्व के बन बैठे। लोकपाल के रूप में पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्र पश्चिम के स्वामी वरुण

उत्तर के स्वामी कुबेर तथा दक्षिण दिशा के स्वामी के रूप में यम का स्थान सुरक्षित बना रहा। इसी क्रम में आगे चल कर विभिन्न देवों में विभिन्न गुणों को निरूपित कर उनकी लोकप्रियता में वृद्धि की गई। उदाहरणस्वरूप सोम अथवा चन्द्र को उसके शान्त स्वभाव तथा सुदर्शन होने के कारण प्रसिद्धि मिली– लोकप्रियत्वे चन्द्रस्य तथा ''लोककान्तो यथा शशि, वहीं कन्दर्प को उसके सौन्दर्य (रूपवान सुभगो श्रीमान् कन्दर्पो इव मूर्तिमान– वा.रा. 28.28) के कारण सुख्याति प्राप्ति हुई। वायु को उसके गति और बल, कुबेर को उसकी अतुल सम्पदा एवं दानशीलता से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। मृत्यु को जहाँ उसके सर्वव्यापी रोष के कारण जाना गया, आदित्य को उसके प्रखर तेज के कारण आदर का पात्र माना गया। इसी भाँति विष्णु को उसके विक्रम, इन्द्र को उसी दुर्द्धर्षता, वसुधा को उसकी क्षमाशीलता, ब्रह्मा को उसकी सृजनशीलता एवं बृहस्पति को उसकी बुद्धिशीलता के कारण लोकविश्रुति मिली। इन देवताओं के उपासकों में परस्पर स्नेह, सामंजस्य बना रहना उत्तरी कोसल के निवासियों की सदाशयता का जीवित प्रमाण है। हमें अनेक उदाहरण ऐसे भी मिले जिनसे पता चला कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य अपनी–अपनी इच्छानुसार किसी देवता अथवा देवी का पूजन करने को स्वतंत्र थे। यही नहीं एक ही उपासक/उपासिका विभिन्न अवसरों पर विभिन्न देवता–देवी का पूजन–आराधन कर सकता था। वस्तुतः ऋग्वेद का बहुदेववाद वहाँ अपने परिवर्तित रूप में विद्यमान था।

द्युलोक वासी देवों के वासस्थल को अयोध्यावासी स्वर्ग, देवलोक, सुरालय, नाक, पुरन्दरपुरी, विटपावती, अमरावती, त्रिविष्टप आदि विभिन्न नामों से स्मरण करते हैं। देवगण का प्रिय क्रीड़ास्थल मेरुपर्वत पर स्थित बताया जाता हैं। देवमण्डल में धीरे–धीरे सर्वप्रिय होते जा रहे परमेश्वर शिव का आवास कैलास पर्वत है। इस समय अयोध्या के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता श्री विष्णु हरि को क्षीरसागर का निवासी माना जाता है। ऋग्वेद का त्रिविक्रम श्री विष्णु कालान्तर

में अपने एक–एक डग से धरती, आकाश तथा पाताल को मापता हुआ उपेन्द्र बन शीघ्र ही अपने शौर्य, पराक्रम, उदारता, दुष्टदलन स्वभाव के बल पर 'त्रिलोकीनाथ' के सर्वोच्च आसन पर जा बैठा।

'विश्वकृत्', 'लोककृत्', 'पितामह', लोकपितामह', 'लोक–गुरु' एवं 'प्रजापति' विधाता, आदि उपाधियों के धारणकर्ता ब्रह्मदेव को लोकस्रष्टा का सम्मानित स्थान प्राप्त है। सुरों तथा असुरों को समान रूपसे प्रिय ब्रह्मदेव के वरदान का लाभ उठा रावण, कुम्भकर्ण एवं मेघनाद तीनों लोक में अपना आतंक फैलाने में सफल हुए थे। ब्रह्मा 'तप' के घोर समर्थक हैं तथा तपस्या के माध्यम से कोई भी व्यक्ति उनसे मनोवांछित् वर प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मदेव की इस दुर्बलता का लाभ–असुरों, राक्षसों एवं दैत्यों ने कई अवसरों पर उठाया। ब्रह्मा अथवा विधाता की यह मान्यता रही है कि मनुष्य अन्ततः अपने कर्मों का फल भोगता ही है अतएव वरदान से अन्तिम स्थिति में विशेष परिवर्तन संभव नहीं है। किन्तु ब्रह्मा जी यह भूल जाते हैं कि कभी–कभी उनके द्वारा अभयदान एवं वरदान प्राप्त उनके ही भक्तों में टकराव की स्थिति स्वयं उनके लिए असमंजस उत्पन्न कर देती है। यही स्थिति रावण तथा मृत्यु के देवता यम के मध्य हुए द्वन्द्वयुद्ध में उत्पन्न हुई थी। विधाता ने रावण को दीर्घजीवन तथ किसी भी देव, दानव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि से अवध्य होने का वरदान दिया था। उसका वध असंभव प्रतीत होनेवाले मानव के हाथों होना था। रावण की अवध्यता की भाँति पितामह ने यमराज को उसके कालदण्ड की अव्यर्थता का वरदान किया था। राक्षस राज के साथ हुए युद्ध में अपनी पराजय को निश्चित जान मृत्युदेव ने जब शत्रु के विरुद्ध 'कालदण्ड' के प्रयोग का निश्चय किया था तो प्रजापति के समक्ष विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी। रावण तो उनकी बात सुनने को तत्पर ही नहीं था परिणामतः उनको यमराज को समझा–बुझाकर कालदण्ड के प्रयोग के निर्णय से विरत करना पड़ा था।[1] ऐसी ही विषम स्थिति अशोक वाटिका में इन्द्रजित तथा हनुमान के मध्य

द्वंद्वयुद्ध के समय भी उत्पन्न हो गई थी। ब्रह्मदेव ने बाल हनुमान को ब्रह्मपाश सहित किसी भी पाश से न बँधने का वर दिया था। वायुनन्दन से अन्य किसी प्रकार से पार न पाने की स्थिति में रावणपुत्र ने ब्रह्मपाश का प्रयोग कर दिया था। यह तो परमज्ञानी सूर्यशिष्य हनुमान जी का विवेक था कि उन्होंने रावण से मिलने तथा लंका की स्थिति को विस्तार से जानने के उद्देश्य से स्वयं को ब्रह्मपाश में 'आबद्ध दिखला' 'आत्मयोनि' ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा की रक्षा कर ली थी।

कहा जाता है कि संकट की घड़ी में जो पक्ष एवं विपक्ष दोनों का समान रूप से साथ देता है वस्तुतः वह किसी का भी पूर्ण विश्वास नहीं जीत पाता है। देवताओं, दानवों, राक्षसों, आर्यो एवं अन्य मानव समूहों के प्रति समान दृष्टिकोण रखने के कारण ब्रह्मदेव की विश्वसनीयता संदिन्ध होती गई। देवताओं सहित अन्य मानव समूहों में उनकी रक्षा को सदैव तत्पर तथा दुष्ट–संहारक श्री हरि अथवा भगवान विष्णु की लोकप्रियता बढ़ती गई। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि मानवों का एक बृहद् वर्ग विधाता अथवा ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु के नाभि से निकले कमल से मानने लगा।

जैसा कि पूर्व में अंकित किया जा चुका है, प्रारम्भ में उपेन्द्र अथवा इन्द्र के अनुज के रूप में मान्य श्री विष्णु अपने त्रिविक्रम के कारण लोक विश्रुत हुए। अपनी धार्मिक–नैतिक प्रतिबद्धताओं तथा दुष्टदलन छवि के कारण श्री विष्णु शीघ्र ही लोकरक्षक के रूप में सम्पूजित होने लगे। अजेय योद्धा तथा कुशल सेनानी के रूप में देवेन्द्र की छवि धूमिल होते ही श्री विष्णु देवों के संरक्षक 'नाथ' के रूप में स्थापित हो गये। इन्द्र के यश के क्षय का महत्त्वपूर्ण कारण देवराज की पराजय के पश्चात् रावणपुत्र मेघनाद के हाथों बन्दी होना बना। दूसरी ओर श्री विष्णु हरि के हाथों हिरण्यकाशिपु मधु, नमुचि, कालनेमि तथा नरक जैसे आततायी कालकवलित हुए। परिणामस्वरूप स्वयं देवेन्द्र को श्री विष्णु हरि के सम्मान में यज्ञ का

आयोजन कर उनको उनका भाग देना पड़ा। तीन पगों में ही धरती, आकाश एवं पाताल नाप लेने वाले 'त्रिविक्रम'' श्री विष्णु ने स्वयं को अपराजेय योद्धा के रूप में स्थापित कर दिया।

नष्टगौरव धर्म की पुनर्स्थापना में सफल श्री विष्णु की 'सुरनाथ', 'सुरोत्तम', 'त्रिलोकनाथ', 'भूतभावन', 'महेश्वर', 'अव्यय', 'अक्षय', जैसी उपाधियाँ उनके महत्त्व की परिचायिका हैं। पाञ्चजन्य शंख', 'सुदर्शन चक्र', 'कौमुदकी गदा' एवं 'शारंग अथवा 'वैष्णव–धनु' को धारण करने वाले चतुर्भुज श्री विष्णु का प्रिय वाहन गरुड़ है। लक्ष्मी (मा) पति ('वर' या 'धव') होने के कारण अपर नाम 'माधव' भी प्रतिश्रुत हो रहा है। इनके निवास–स्थल को 'विष्णुलोक', क्षीरसागर, 'परमपद' अथवा 'मध्यमपद' आदि नामों से जाना जाता है। 'त्रिविक्रम' भगवान विष्णु के वामन–अवतार की कथा लोकविश्रुत है। यह भी प्रतिश्रुत है कि ब्रह्मा आदि अन्य देवों की प्रार्थना पर रावणा आदि राक्षसों के विनाश हेतु श्री विष्णु ने ही अयोध्यानाथ दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र श्री राम के रूप में जन्म लिया है।

आर्यों में भगवान शिव, आशुतोष, शंकर, महादेव आदि विरुदों से संबोधित त्रिदेवों में से एक महेश का सादगी से भरा तथा आडम्बरहीन चरित्र उतार–चढ़ाव से भरपूर है। प्रजापति दक्ष जैसे श्वसुर के हाथों अपने अपमान के प्रतिशोधार्थ इनको अपने श्वसुर तथा कतिपय देवों के विरुद्ध सशस्त्र विरोध का आश्रय लेना पड़ा था। बहुप्रचलित कथा के अनुसार दक्ष ने स्वयं द्वारा आयोजित यज्ञ में अपने दामाद शिव के अतिरिक्त समस्त देवताओं तथा ऋषि–मुनियों को आमंत्रित किया था। यज्ञ में अपने पति का भाग–निर्धारण न देख शिव–पत्नी सती ने यज्ञ के अग्निकुण्ड में कूद कर आत्मदाह कर लिया था। इस घटना से क्रुद्ध शिव–गणों ने न केवल दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर दिया था, वरन् दक्ष प्रजापति सहित उनके अनेक यज्ञ–समर्थकों का वध भी कर डाला था। इस सृष्टि को 'पिनाकी' रुद्र के कोप से बचाने के निमित्त ऋषियों सहित अन्य देवताओं को

श्री शिव–शूलपाणि का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा था। उनको ब्रह्मा तथ विष्णु के समकक्ष मान कर प्रत्येक यज्ञ में अनिवार्यतः उनका भाग निर्धारित किया गया। यही कारण है कि भगवान शिव को 'महेश्वर' 'परमेश्वर 'सर्वलोकेश्वर' 'सर्वलोक महेश्वर', 'देव–देव', 'विश्वदेव', 'महादेव' एवं 'अव्यय' जैसी उपाधियाँ प्रदान की गईं। उनको 'सर्वदेव नमस्कृतः''कहा गया।

भगवान शिव के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी गुणों की एक साथ विद्यमानता उनकी छवि को रोचक बनाती है। 'रुद्र' के रूप में जहाँ उनका भयानक रौद्ररूप वर्णित है, वहीं शिव के रूप में वह सर्वथा कल्याणकारी हैं। एक ओर जहाँ उनको 'कामारि' तथा 'महायोगी' कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उनको पत्नी उमा के साथ रतिक्रिया में लीन बताया गया है। भगवान शिव एक ओर यदि 'प्रजाध्यक्ष' हैं, तो दूसरी ओर सृष्टि के संहारकर्त्ता भी हैं। विश्व के प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हलाहल अथव कलाकूट' विष का पान करने वाले भगवान नीलकंठ के महनीय अन्य लोकोपकारी कार्यों में उनका 'गंगाधर' और 'त्रिपुर विनाशक' होना सम्मिलित हैं।

विदेहराज जनक भगवान शंकर के परमभक्त एहे हैं। विपत्ति के दिनों में उन्होंने महाराज जनक की पूर्ण सहायता की थी। माता जानकी बचपन से ही भगवान शिव तथा माता गौरी की आराधिका रही है। राक्षसराज रावण, ब्रह्मदेव के अतिरिक्त भगवान् शिव का भी परम भक्त था। उसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक 'शिवलिंग' स्थापित कर भगवान आशुतोष का पूजन–अर्चन किया था। उसके द्वारा रचित 'शिवताण्डव स्तोत्र'' शिव–भक्तों में अत्यन्त लोकप्रिय होता जा रहा है। 'त्रिशूलपाणि', 'पिनाकी', 'शूलहस्त', 'शूलपाणि', 'वृषभांक', 'वृषभध्वज, 'पशुपति', भव आदि उपाधियों से विभूषित भगवान शिव ने देवताओं के धनाध्यक्ष कुबेर पर प्रसन्न हो उनको कैलाश पर शरण दे रखा है। हम वानर भगवान श्री राम की शिवभक्ति के चक्षुदर्शी साक्षी हैं। समुद्र पर सेतु निर्माण से पूर्व उन्होंने 'श्री रामेश्वर' के नाम से सम्पूजित

'शिवलिंग' की स्थापना की थी। वानरों में भी अनेक यूथप तथा उनके परिजन भगवान भूतनाथ के उपासक हैं। अञ्जनाकुमार हनुमान जी को तो ''शंकर–सुवन'' कहा जाता है। किष्किन्धावासियों की शिव–भक्ति का प्रमाण राजधानी के निकट स्थित भगवान विरुपाक्ष शिव का भव्य देवालय है।

लोककल्याण की पवित्र भावना से पक्षियों की भाँति पंखधारी पर्वतों के पंख कतरने वाले, नमुचि, शम्बर तथा वृत्र के अत्याचारों के विश्व को मुक्ति दिलाने वाले देवेन्द्र कालान्तर में अपने विवादास्पद कार्यों तथा शिथिलाचार के कारण अपनी छवि धूमिल करा चुके हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश नामक त्रिदेव की लोकप्रियता के समक्ष ऋग्वेद का सर्वोच्च 'देवराज' का स्वर्णिम अतीत धूमिल पड़ चुका है। पिता के आचरण का प्रभाव उसकी सन्तान पर पड़ना स्वाभाविक है। अदिति के प्रियपुत्र इन्द्र ने अपनी सर्वगुणसम्पन्न तथा सुन्दरी पत्नी पुलोमा दैत्य की पुत्री पुलोमी अथवा 'शचि' के गर्भ से जयन्त जैसे पुत्र को उत्पन्न किया। गौतमपत्नी अहल्या के साथ कपटाचार के लिए शापित 'सहस्रभग'' देवेन्द्र के पुत्र जयन्त ने माँ सीता के अपमान का दुस्साहस किया था। प्रभु श्री राम द्वारा छोड़े ये शर–रहित 'बाण' के प्रकोप से स्वयं को बचाने के लिए जयन्त को अन्ततः प्रभु श्रीराम एवं माता जानकी के चरणों में शरण लेनी पड़ी थी। प्रारम्भ में दुर्द्धर्ष एवं अप्रतिम योद्धा के रूप में सुख्यात देवेन्द्र अमरावती के विलासपूर्ण परिवेश में अपने चरित्र की रक्षा नहीं कर सके। राजा जब विलासी बनताहै तब उसकी जुझारु योद्धा की छवि धूमिल हो जाती है। यही इन्द्र के साथ हुआ। अपरोजय योद्धा के रूप में उसके कीर्तिमान के भंग होते ही उसकी 'वज्रधर', 'शतक्रतु', 'पुरन्दर', शक्र 'वासव', मधवा आदि उपाधियाँ अलंकरण मात्र रह गईं। देवेन्द्र को रावणपुत्र मेघनाद के हाथों अपमानजनक पराजय सहन करना पड़ा।

विभिन्न मानव–समूहों में किसी के साथ, विशेषकर मित्र के साथ विश्वासघात को सर्वथा हेय अथवा निन्दनीय माना जाता है।

देवराज इन्द्र द्वारा दानवेन्द्र नमुचि के साथ मित्रता में विश्वासघात किया गया। वृत्रासुर का वध भी उनके द्वारा कपट का आश्रय लेकर किया गया। देवराज को इन प्रकरणों में तत्कालिक सफलता भले ही मिली, उनके कदाचार के निन्दकों की संख्या भी बढ़ती गई। मानव समाज में तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा माने जाने के पश्चात् भी वानरराज सुग्रीव ने श्री राम के साथ अपनी मित्रता की रक्षा के निमित्त अपने राज्य का सम्पूर्ण सामरिक–भौतिक बल दाँव पर लगा दिया था। अयोध्यावासी इस मित्रता के लिए वानरों के प्रति कृतज्ञता एवं प्रशंसा के भावों की अभिव्यक्ति में अत्यन्त मुखर थे। दूसरी ओर वे वृत्र–वध के लिए ब्रह्महत्या के पापी देवेन्द्र के प्रायश्चित की कथा भी अयोध्या में उसी चाव से सुनायी जाती थी। साथ ही अत्यन्त रुचि के साथ वहाँ के कथावाचक यह भी सुनाया करते थे कि सूर्य की किरणों में छिपे दानवराज नमुचि को अपनी मित्रता की शपथ दे इन्द्र ने बाहर बुला कर ''आजीवन मैत्री'' के वचनों को भुला उसका शिरोच्छेद कर दिया था। ''अरे पापी! तू ने मित्र–वध का घोर अपराध किया है'' कहता नमुचि का सिर इन्द्र के पीछे दौड़ा था। प्रजापति ब्रह्मा की आज्ञा पर इन्द्र ने सरस्वती की एकशाखा अरुणा के तट पर यज्ञ एवं स्नान करके मुक्ति पाई थी। इन्द्र का पीछा करते नमुचि के सिर के रोष को शान्त करने के लिए देवताओं को वहीं नमुचि को भी अक्षयलोक में रहने का वर देना पड़ा था। अयोध्या में प्रभु श्री राम की उदारता की वह कथा भी बहुप्रचलित है, जिसके अनुसार इन्द्र द्वारा कपटाचार के कारण छली गई गौतम पत्नी आहिल्या को, उन्होंने निर्दोषिता की घोषणा के साथ समाज में पुनर्स्थापित किया था।

जल के अधिष्ठाता देवता वरुण को अत्यन्त पुरा–काल से गुप्तचरों के प्रभारी के रूप में पूजित किया गया है। 'पाशहस्त' (पापियों को पकड़ने वाला) वरुण को पश्चात्वर्ती समय में पश्चिम दिशा के स्वामी दिग्गपाल के रूप में मान्यता मिली। दस्युओं का

दमन करने वले वरुण देव को साहित्य में रस के अधिष्ठाता के रूप में भी स्मरण किया गया है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री ज्येष्ठा से वरुणदेव को बल, अधर्म, पुष्कर नामक पुत्रगण तथा सुरा–नामक कन्या का जन्म माना जाता है। अन्यत्र वारुणी को उनकी पुत्री कहा गया है ''वरुणस्य ततः कन्या वारुणी''। वरुण के मंत्री का नाम प्रभास है तथा यादगण इनके अनुचर है। उनका निवास सागर अथवा समुद्र बताया गया है ''सागरं वरुणालयं''। अयोध्या में बरुण देव के स्वतंत्र उपासकों की संख्या अपेक्षया अल्प हैं। मातामह सुषेण को इनका पुत्र माना जाता है। समुद्रसन्तरण से पहिले हनुमान जी ने अपनी सफलता के लिए इनकी स्तुति की थी।

'अन्तक', 'काल', 'मृत्यु', 'धर्म', यम 'आदि सम्बोधनों वाले मृत्यु के देवता 'यम' को दक्षिण दिशा का लोकपाल माना जाता है। दक्षिण दिशा में स्थित उनका 'यमलोक', 'यमालय' 'मृत्युलोक', 'यमक्षय', 'यमविषय,', 'यमसदन', 'प्रेतराजपुर' आदि नामों से ख्यात् आवास जीवित प्राणियों के लिए अगम्य माना गया है। इनका अपरिहार्य एवं सर्वाधिक प्रभावी आयुध ''कालदण्ड'' है। रावण को यमराज विजेता की कीर्ति मिली थी, किन्तु श्री विष्णु के अवतार के रूप में पूजित हो रहे प्रभु श्री राम ने अन्ततः उस रावण को सर्वशक्तिमान् मृत्युदेव के हाथों सौंप ही दिया था। इनके भयंकर स्वरूप तथा प्राणहर्ता होने के कारण इनके स्वतंत्र उपासकों की संख्या नाम मात्र की बताई जाती है। ब्रह्मा जी की आज्ञा से इन्होंने बाल हनुमान को अपने अमोघ कालदण्ड से अवध्य एवं निरोगिता का वर दिया था।[2]

विश्रवा के पुत्र वैश्रवण तथा ऋषि भारद्वाज की पुत्री देववर्णिनी के संयोग से उत्पन्न कुबेर प्रारम्भ में उत्तर के आर्यों के अनुसार अनार्य मानव–समूहों में 'यक्षपूजा' के संस्थापक के रूप में सुख्यात् थे। अपने सौतेले भाई रावण के हाथों पराजित हो अपनी राजधानी तथा पुष्पक विमान गंवाने वाले धनपति कुबेर को अन्ततः उत्तर में हिमवान की उपत्यका में शरण लेने को विवश होना पड़ा। इसके पूर्व वह यक्षों,

गन्धर्धे, किन्नरों, राक्षसों, भूतों तथा गुह्यकों में समान रूप से पूजित थे। माता पार्वती के शाप के कारण अपनी बाईं आँख गँवाने तथा दाहिनी आँख पीली पड़ जाने के कारण 'एकाक्षपिंगल' कुबेर ने घोर तपस्या कर अन्त में भगवान शिव की प्रसन्नता प्राप्त कर ली थी। 'ध नेश्वर', 'धनद' धनेश, धनाध्यक्ष, वित्तेश, वित्तदा, धनाधिपति आदि नामों से विख्यात् कुबेर प्रसन्न होने पर अपने भक्तों को सब कुछ देने के लिए जाने जानते हैं। लंका विजय के पश्चात् राक्षसराज विभीषण द्वारा प्रभु श्रीराम को उपहारस्वरूप प्रदत्त पुष्पक अयोध्या से ही सीतापति द्वारा अन्ततः कुबेर को लौटा दिया गया था। कुबेर व्यवसासियों में अधिक लोकप्रिय हैं।

'पावक', 'चित्रभानु', 'विभावसु', 'हव्यवाह' 'अरणीपुत्र' आदि विरुदों से युक्त अग्नि देव वैदिक युग के अतिप्रिय देवता रहे हैं। इस संसार में गुप्त अथवा प्रकट रूप से किये गये कृत्यों–अकृत्यों के प्रत्यक्षदर्शी ''लोकसाक्षी''[3] के रूप में भी अगिनदेव अथवा वैश्वानर की लोकविश्रुति है। प्रारम्भ में गार्हपत्य, दक्षिण तथा आहवानीय तीन प्रकार की अग्नियाँ अस्तित्व में थीं। कालान्तर में चार वेदिकाओं में प्रज्वलित अग्नियों तथा प्रकाशमान सूर्यको मिला कर इसकी संख्या पाँच ''पंचाग्नि' हो गई। वानरों में स्थापत्यविशारद नल के अनुज तथा वानर–सेनापति नील को अग्निदेव के पुत्र के रूप में भी सम्मान प्राप्त है। रावणवध के उपरान्त अग्निदेव ने स्वयं प्रकट होकर माता सीता के सतीत्व का साक्ष्य दिया था। अग्निदेव को हुताशन तथा बह्नि भी कहा जाता है। अयोध्या के पुरवासियों को प्रत्येक गृह में अग्निहोत्र को अग्निदेव की उपस्थिति का सूचक तथा अनिवार्य माना जाता है।

तेज में आदित्य, क्षमा में पृथ्वी, बुद्धि में बृहस्पति, यश में देवेन्द्र के समान शत्रुंतप, पूर्णचन्द्र की कान्ति वाले मुख से युक्त कमलनयन प्रभु श्री राम के जीवनकाल में ही उनको श्री विष्णु हरि के अवतार के रूप में मान्यता मिलनी प्रारम्भ हो गई है। इस धरती

के लिए भारस्वरूप रावण एवं उसके आततायी समर्थकों के उनके द्वारा विनाश ने उनको विश्व बन्द्य बना दिया है। शंख के समान सुन्दर ग्रीवा तथा विशाल स्कन्धयुक्त प्रभु न केवल चारों वेदों तथा वेदांगों के परिनिष्ठित विद्वान हैं, वरन् धर्म के विभिन्न अंगों के सुधी ज्ञाता एवं प्रियंवद भी हैं। धर्मज्ञ, उपकारक, दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यव्रत एवं धर्मरक्षक प्रभु श्रीराम सत्य ही अपने जीवन काल में ही श्री विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिश्रुत हो रहे हैं।

भैया लक्ष्मण के नेत्रयुगल उनका मुखमण्डल, हाथ, पैर, स्कन्ध, वक्षस्थल सभी श्री राम की अनुकृति लगते हैं। उदारता, अनुराग, करुणा, शौर्य, साहस आदि गुणों की दृष्टि से भी वह अपने आदरणीय अग्रज के समान हैं। दोनों में मात्र एक अन्तर ही दोनों के पृथक अस्तित्व का कारण बनाता है। अयोध्यानाथ जहाँ श्यामसुन्दर है भयौ सौमित्र की शारीरिक कान्ति सोने की आभा वाली गोराई (गौराङ्गता) लिए हुए हैं। जीवन के अच्छे–बुरे क्षणों में अपने अग्रज का पग–पग पर अनुगमन कर उन्होंने इस विश्व में भ्रातृप्रेम का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। अन्याय के प्रतिरोध के लिए अहर्निश तत्पर भैया लक्ष्मण की मुझ पर विशेष कृपा–दृष्टि एंव अखण्डित विश्वास ने मुझको उनके अराध्य अग्रज के निकट जाने को प्रेरित किया अन्यथा अपने पिता के वध के कारण ज्येष्ठ राघव के प्रति मेरे मन में पड़ी दुर्भावना की गाँठ स्यात् ही कभी खुलती। और तो और स्वभाव से उग्र एवं क्रोधी तथा असहिष्णु प्रतीत होनेवाले तेजपुंज उर्मिलानाथ ही के निकट जाने की पहल भला मैं कैसे कर पाता? प्रभु श्री राम के परम अनुगत शेषावतार भैय लक्ष्मण को अयोध्या में श्री विष्णु के चतुर्थ अंशावतार के रूप में पूज्य माना जाने लगा है।

शौर्य, चातुर्य, बल, धैर्य, पाण्डित्य, कीर्तिमत्ता एवं पराक्रम के आगार, केशरीनन्दन हनुमान का सम्पूर्ण वानर जाति युगों–युगों तक

आभारी रहेगी। सामाजिक, आर्थिक भौतिक, सामाजिक दृष्टियों से अत्यन्त पिछड़ा अथवा दलितमान्य वानर जाति के इतिहास से यदि मात्र इसी व्यक्ति का नाम निकाल दिया जाय तो वानरों के इतिहास को किष्किन्धा के आस–पास सिमट कर रहजाना पड़ा होता। यदि अञ्जनीकुमार के माध्यम से रघुकुलभूषण सानुज श्रीराम का सम्पर्क हम वानरों से नहीं हुआ होता तो अतुल विक्रम पिताश्री के पराक्रम का यशगान किष्किन्धा राज्य के वनांचल की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाया होता। माता तारा की बुद्धिमत्ता नीतिमत्ता, शास्त्रीयज्ञान, विलक्षण प्रतिभा तो किष्किन्धा के राजप्रसाद की दीवारों के अन्दर ही सिमट कर रह गई होती। वायुपुत्र के नाम से सुख्यात् सर्वशास्त्र–विशारद एवं अतुलितबलधाम हनुमान जी ने सीता–अनुसंधान तथा अपने सानुज स्वामी के प्राणों की रक्षा का अकल्पनीय कार्य नहीं किया होता तो समरशास्त्र के विद्वानों को यह मान्यता स्थापित करने का अवसर कदापि न मिला होता कि सक्षम नेतृत्व तथा उच्च मनोबल का आश्रय ले शारीरिक बल में विश्वास रखने अश्मयोधी वानरों के बल पर दिव्यास्त्रों से युक्त मायावी राक्षसों की दुर्दान्त शक्ति का सर्वनाश संभव है।

युद्धमनोविज्ञान के विशेषज्ञ वानर–रत्न हनुमान ने देवी सीता के सफल अनुसंधान के पश्चात् राक्षसराज रावण से प्रत्यक्ष भेंट कर रावण की मनोदशा तथा राक्षसों के बल एवं विवेक का मूल्यांकनआवश्यक समझा था। इसके पूर्व प्रत्यक्ष युद्ध में वह राक्षसों की युद्ध कला का प्रत्यक्षदर्शन कर लेना चाहते थे। वह यह भली–भांति जानते थे कि किसी भी मानवसमूह में उसके 'कुलदेवता–' का अन्यतम् स्थान होता है। अशोक वाटिका के सन्निकट ही राक्षसों के कुलदेवता की प्रतिमा को रख एक भव्य ''चैत्यप्रासाद'' में स्थापित किया गया था। राक्षसों को हतमनोबल करने वाला उनके रोष को जागृत करने के उद्देश्य से उन्होंने ''चैत्य–प्रासाद'' पर चढ़ कर उसमें व्यापक तोड़–फोड़ किया था। राक्षसों के कुलदेवता के उपासनागृह को ध्वस्त कर

वायुपुत्र ने राक्षसों के पतन का प्रारम्भ कर दिया था। अपने कुलदेवता के अपमान से क्षुब्ध हो सैकड़ों राक्षस योद्धाओं ने आधुनिकतम शास्त्रास्त्रों से युक्त आञ्जनेय पर आक्रमण कर दिया था।

अतुलित बल के धाम, अजेय योद्धा मारुति ने अशोक वन में रावणपुत्र अक्ष कुमार सहित दर्जनों मंत्रिपुत्रों एवं राक्षस सेनानियों का वध कर सम्पूर्ण लंका वासियों को भयाक्रान्त कर दिया था। रावण की राजसभा में लंकेश तथा उसके अमात्यों के समक्ष अपनी विद्वतापूर्ण किन्तु अविस्तृत भाषणकला, सुसंगत एवं स्पष्ट विचारों का परिचय दे उन्होंने रावण के क्रोध को जागृत कर लंकादहन का अवसर प्राप्त ही कर लिया। लंकादहन का अवसर मिलने पर भी उनका ध्यान सर्वप्रथम रावणसहित लंका के अन्य प्रमुख के सुरक्षित तथा भव्य–भवनों की ओर गया। राजप्रासाद के पश्चात् सर्वाधिक सुरक्षित आवास प्रमुखा सेनापति का ही होता है। वानर महावीर ने रावण के सगे मामा तथा सुमाली पुत्र राक्षसों के प्रमुख सेनापति प्रहस्त के भवनको अपना विशेष लक्ष्य बनाया। राक्षस सेनाप्रमुख प्रहस्त के भवन की सुरक्षा व्यवस्था को ध्वस्त करते हुए कपिवर हनुमान ने प्रहस्त के भवन को अग्निसात् कर दिया था। राजपरिवार के सदस्यों तथा राजतंत्र के प्रमुख सदस्यों में मात्र विभीषण का भवन अपवादस्वरूप सुरक्षित रहा था।

लंकदहन के साथ ही वीरवर हनुमान ने लंका की सामरिक, धार्मिक, सांस्कृति एवं अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा का दहन कर दिया था। मानव समाज में दलित के रूप में हेयदृष्टि से देखे जाने वाली वानरजाति को अन्तर्राष्ट्रीय अक्षय कीर्ति प्रदान कराने वाले हनुमानजी ने अपने दो–दो वनवासी स्वामियों को राजसिंहासन तक पहुँचाया। वनवासी सुग्रीव को उन्हीं के कारण राज्यारोहण का अवसर मिला। यही नहीं प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण के जीवन की रक्षा कर उन्होंने दोनों को सकुशला वापस अयोध्या पहुँचाया था। अहिरावण का वध कर यदि वह सानुज श्री राघवेन्द्र को सकुशल वापस नहीं

लाये होते तो न केवल वानर जाति को रावण की दासता स्वीकार करनी पड़ती। वरन् इक्ष्वाकुओं की राजधानी अवधपुरी का इतिहास भी परिवर्तित हो गया होता।

अतुलविक्रम, बलभीम श्री हनुमत् युद्धभूमि में प्रभु श्रीराम के रथ तथा सारथि का पूरक बनते थे। किन्तु ये तभी होता था जब श्री राघवेन्द्र को स्वयं समर में भाग लेना होता था। इसी भाँति जब भैया लक्ष्मण को समरभूमि में उतरना होता था तब तुझे वह भूमिका निभानी होती थी। शेष समय हम युद्ध में शत्रुओ का विनाश में लगे रहते थे। युद्धभूमि में भी पवनात्मज की भूमिका अद्वितीय थी। जब कभी वानर–यूथपो तथा सैनिकों पर शत्रुओं का दबाव बढ़ता था, अपने सहयोगियों के रक्षार्थ तथा शत्रुओं के पाँव उखाड़ने के लिए पवनपुत्र भयावह प्रभंजन की भाँति वहाँ पहुँच जाते थे। युद्धभूमि में आर्यनीति के अनुसरण को श्रयेस्कर मानने वाले श्रीरामदूत हनुमान के समक्ष युद्ध से विरत हो जाने वालों के प्राण सुरक्षित रह जाते थे। अपने बल तथा शस्त्रास्त्र ज्ञान के अहंकार में जो उनसे भिड़ जाने की भूल करता था, उसको यमसदन पहुँचना ही पड़ता था। लंका की समरभूमि में मारुति से टकराने की भूल करने वाले रावण के धूम्राक्ष अथवा धूम्राश्व, अकम्पन (रावण को सीता हरण के लिए उकसाने वाला), नरान्तक (रावण पुत्र) त्रिशिरस (खर के अनुज से भिन्न), वज्रवेग (रावण का मोसेरा–सौतेला भाई खरदूषण का अनुज) जैसे कुख्यात् एवं वीर सेनानीगण को काल के गाल में समाना पड़ा था। पवनपुत्र का बुद्धि कौशल, रणचातुर्य तथा अवसरानुकूल सही निर्णय लेने का विशेष गुण हम वानरों को सदैव अनुप्राणित करता रहेगा।

लंका–युद्ध के समय सानुज श्री राम के शिविर की रक्षा का दायित्व श्री हनुमत् ने अलग से स्वयं ले रखा था। वानर वीरों की सुरक्षा की अभेद्य दीवार के रहते हुए भी उन्होने ऐसा किया था। अत्यन्त आवश्यक कार्यवश उनके अन्यत्र जाने की स्थिति में वह दायित्व मुझे निभाना पड़ता था। पराक्रमपुंज हनुमान जी की भूरि–भूरि

प्रशंसा करते हुए प्रभु श्रीराम ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि, ''लंकायुद्ध में हनुमत् के द्वारा प्रदर्शित पराक्रम इसके पूर्व किसी युद्ध में स्वयं कालदेवता, इन्द्र, विष्णु या कुबेर के द्वारा भी किया जाना नहीं सुना गया था'' प्रभु श्री राम द्वारा महर्षि अगस्त्य से हनुमान जी की प्रशंसा में कहे गये शब्द हमारे कानों में आज भी गूँजते हैं।[4]

प्रभु श्री राम के प्रति अपनी अनन्य स्वामिभक्ति, अपूर्व सेवाभावना से परम प्रसन्न वानरराज सुग्रीव ने वानरों के यश की वृद्धि तथा अक्षय कीर्ति के प्राप्ति के निमित्त अपने प्रिय अमात्य हनुमान को श्री राम प्रभु की अहर्निश व्यक्तिगत सेवा में रहने की अनुमति सहर्ष दी थी। हमें पूर्ण विश्वास है कि सृष्टि में जब तक श्री राम–कथा का अस्तित्व बना रहेगा, विश्व के सर्वश्रेष्ठ श्रीराम–भक्त के रूप में कपिश्रेष्ठ हनुमान जी का नाम अत्यन्त श्रद्धा एवं सम्मान के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। विश्व की मानवता को आततायियों के संकट से मुक्ति दिलाने वाले 'विश्व–रक्षक' श्री राम तक की कई अवसरों पर रक्षा करने वाले उनके परम विश्वस्त दास पवनपुत्र का स्मरण हम वानरों के सम्मानपूर्ण स्मरण का भी कारण बनेगा। जहाँ–जहाँ श्री राम का पूजन अर्चन होगा हमारे हनुमान वहाँ–वहाँ देवरूप में अवश्य सम्पूजित होंगे।

• • • •

सन्दर्भ–संकेत

1. ''तन्न खल्वेषं ते सौम्य पात्यो रावणमूर्द्धनि।
   न ह्यस्मिन् कश्चित्महूर्तेमपि जीवति।।44।।
   यदि ह्यस्मिन् निपतिते न म्रियतैष राक्षसः।
   म्रियते वा दशग्रीवस्तदाप्युभद्यतोऽनृतम्।।45।।''

   वा0 रा0 उत्तर0 22.44–45

   (ब्रह्माजी द्वारा मृत्यु के देवता यमदेव को रावण के सिर पर कालदण्ड के प्रहार से विरत करने हेतु कहा जाता है, हे सौम्य! तुम इसको रावण के सिर पर न गिराओ। इसके प्रहार को कोई एक क्षण के लिए भी नहीं झेल सकता है। कालदण्ड पड़ने पर रावण के न मरने तथा मरने की दोनों ही स्थितियों में मेरा वचन असत्य हो जावेगा।'' (क्योंकि एक ओर तो मैंने रावण को देवताओं द्वारा अबध्य होने का वरदान किया है तो दूसरी ओर कालदण्ड के निर्माण के समय उसके अनिवार्य होने की घोषणा की है)।

2. ''यमो दण्डादवध्यत्वमरोगं च दत्तवान्।15$\frac{1}{2}$।

   वा0रा0 उत्तर0 36.15$\frac{1}{2}$

   (अन्य देवताओं के साथ यमदेव ने हनुमान जी कालदण्ड से अवध्यता एवं नीरोग रहने का आशीवाद दिया था।)

3. ''यथा मैं हृदय नित्यं नापसर्पति राघवात्।
   तथा लोकस्य साक्षी, यां सर्वतः पातुपावकः।।25।।
   यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टा जानाति राघवः।
   तथा लोकस्य साक्षी यां सर्वतः पातु पावकः।।26।।

   – वा0 रा0 युद्ध0 116–25–26

(रावणवध के पश्चात् श्री राम के पास ले जाई गई देवी सीता के चरित्र पर संदेह करने पर चिता में प्रवेश के पूर्व देवी सीता के वचन– ''यदि मेरा मन एक क्षण के लिए भी श्री रघुनाथ के प्रति सोच या अनुरक्ति एक क्षण के लिए भी कम नहीं हुई हो तो संसार के समसत

कर्मों–अपकमों के साक्षी अग्नि देव सभी ओर से मेरी रक्षा करें।25। यदि श्री राघव की मुझको दुष्टा जानने की धारणा के प्रतिकूल मेरा चरित्र सर्वथा शुद्ध या निर्दोष हो तीनों लोकों के साक्षी अग्नि देव सभी ओर से मेरी रक्षा करें।26।)

4. ''अतुलं बलमेतद् वै वालिनो रावणस्य च।
न त्वेताभ्यां हनुमता समं त्विति मतिर्मम।।।2।।
शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः।।3।।
भूयो बन्धाद् विमुक्तेन भाषयित्वा दशाननम्।
लंकां भस्मीकृता येन पावकेनेव मेदिनी।।7।।
न कालस्य न शक्रस्य न विष्णो वित्तपस्य च।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनुमतः।।8।।
एतरू बाहुवीर्येण लंका सीता च लक्ष्मणः।
प्राप्ता भया जयश्चैव राज्यं मित्राणी बान्धवाः।।9।।

वा0 रा0 उत्तर0 2–9

(हनुमत् के चरित्र के विषय विस्तारपूर्वक बताने के अनुरोध करते हुए श्री राम उनसे हनुमान के विषय में स्वयं को सात बातें बताते हुए कहते हैं, ''महर्षे! अतुल बलशाली बाली एवं रावण का बल भी हनुमान जी के बल से तुलनीय नहीं है। शौर्य, दक्षता, बल, धैर्य, बुद्धि, नीति, पराक्रम एवं प्रभव हनुमान जी में कूट–कूट कर भरा है।.... मेघनाद के पाश से यह स्वयं मुक्त हो गये थे तथा रावण से वार्तालाप किया था। प्रलय कालीन अग्नि जैसे सम्पूर्ण पृथ्वी को जलाती है, उसी प्रकार इन्होंने लंका को भस्म कर दिया था। युद्ध में इनके कार्यों की तुलना काल, इन्द्र, भगवान विष्णु एवं वरुण के कृत्यों से नहीं की जा सकती है। मैंने तो इन्हीं के बाहुबल से लंका की विजय किया है, देवी सीता एवं भाई लक्ष्मण को सकुशल प्राप्त किया है। इन्हीं के बल पर मुझको अयोध्या के राज्य, मित्रों तथ बन्धुगण की प्राप्ति हुई)।

• • • •

– 10 –

प्रोक्ति

प्रभु श्री राम की पावन नगरी हम वानरों के लिए एक महान् पुण्यतीर्थ के रूप में उभर कर हमारे सामने आई है। ऐसी स्थिति में हम वानर–यूथपों ने अपने प्रिय वानरराज के निर्देश पर परस्पर विचार–विमर्श कर यह निर्णय लिया कि यथा शीघ्र अवधपुरी की प्रजा के मन की अपने प्रति भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर दिया जाय। इस उद्देश्य से हम वानरों ने स्वयं को छोटी–छोटी ईकाईयों में विभक्त कर पण्य–शालाओं, अन्य सार्वजनिक स्थानों, चत्वरों, विभिन्न उत्सवों आदि में सम्मिलित होकर अपने विषय में तथ्यात्मक जानकारी उपलब्ध कराना प्रारम्भ किया था।

जनसंकुल अयोध्यापुरी में इधर–उधर भ्रमण कर हम लोगों को बताया करते थे कि उत्तरभारत में आर्यों के विभिन्न राज्यों तथा सुदूर दक्षिण में समुद्रपार बसे लंका के राक्षसों के प्रभुत्व क्षेत्रों के मध्य में विभिन्न पर्वत–शृंखलाओं तथा वनप्रान्तरों में बसने वाली सर्वाधिक शक्तिशाली जाति वानर ही है। आदिम गणतंत्र से प्रभावित राज–व्यवस्था के प्रति आस्थावान् वानरों के विभिन्न कबीलों में नेता को 'राजा' 'राजेश्वर' अथवा 'गणमुख्य' कहा जाता था। गौरवर्ण के प्रभुत्व वाले तथाकथित श्रेष्ठजन 'आर्यों, तथा कृष्णवर्ण की बहुलता वाले राक्षसों के मध्य बसने वाले वानर–समूह के अधिकांश व्यक्ति विशालकाय स्वर्णरोमा, ताम्राभ–मुखाकृति युक्त तथा सुगठित शरीरधारी होते हैं। अपनी परम्पराओं के प्रति हार्दिक गठन के कारण वानर स्वयं को आर्यों, राक्षसों, नागों, गृधों तथा अन्य मानवसमूहों से अलग रखते रहे हैं। अपने जातीय गौरव के प्रतीक–चिन्ह के रूप में वानर पूँछ अथवा लांगूल धारण करते रहे हैं। उनका राजचिह्न भी 'कपिध्वज' है।

किष्किन्धा के 'राजा' अथवा 'गणाध्यक्ष' के अधीन आज भी वानरों के द्वीपिन्, शरभ, सिंह, व्याघ्र, नील, शल्यक, ऋक्ष, मार्जार,

लोहास, मायाव तथा वानर नामक ग्यारह प्रमुख कुल विभिन्न स्थानों पर निवास करते हैं। इनमें ऋक्षराज जाम्बवन्त का कुल सबसे पुराना तथा अन्तर्राज्यीय ख्याति का माना जाता है। इनमें प्रमुख कुल मुख्य को 'जाम्बवन्त' कहा जाता है। वर्त्तमान जाम्ववान् के नेत्व में वानरों की नवीनतम शाखा 'शरभ' अस्तित्व में आई हैं। मार्जार–शाखा भी 'ऋक्ष'–शाखा से ही निकली है। इस प्रकार आज एक मुख्य 'ऋक्ष' शाखा, 'ऋक्ष', शरभ तथा मार्जार में विभक्त हो चुकी हैं। लगता है आगे चलकर वानरों की 'वाली–शाखा' तथा 'सुग्रीव शाखा' भी अस्तित्व में आ जावेगी। वानरों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति तथा सम्मान दिलाने का श्रेय ऋक्षराजा द्वारा स्थापित वानर शाखा को जाता है। वानरों को पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सुख्याति वानरेन्द्र श्री वाली के समय मिली थी। वर्तमान महाराज सुग्रीव ने प्रभु श्री राम के भक्त एवं समर्थक वानरों को ''यावच्चन्द्रदिवाकरौ'' (जब तक चन्द्र एवं सूर्य रहेंगे तब तक की विश्वव्याप्ति) कीर्ति प्रदान कराया है।

विरक्त को अनुरक्त, उदासीन को अनुगत तथा अल्पावधि के लिए भी सम्पर्क में आये व्यक्तियों को अतिदीर्घकाल तक के लिये अपना सुहृद एवं परमसहायक बनाने की कला में अद्वितीय परमोदार पुरुषोत्तम श्री राम अवसर मिलते ही अपने मित्रों तथा सहायकों की सार्वजनिक प्रशंसा कर उनको अभिभूत करने में पटु हैं। उनकी वक्तृता से अभिभूत उनका अनुगत अपने स्वामी के प्रति प्राण–पण से समर्पित हो जाता है। अयोध्या की उस मर्मस्पर्शी घटना का स्मरण कर मैं आज भी रोमांचित हो उठता हूँ, जब उन्होंने अपेन प्राणप्रिय अनुज राजकुमार भरत को पितृव्य श्री सुग्रीव का परिचय देते हुए सार्वजनिक रूप से कहा था कि, ''हे भरत! वन में निवास, प्रियजन (पत्नी) विछोह की व्याधि, रक्षा का एक मात्र साधन धनुष, दुर्लंघ्यं महासागर के पार का वासी रावण जैसा दुर्दान्त शत्रु (ऐसी स्थिति में) यदि सुग्रीव जैसा मित्र न मिला होता तो तुम्हारे राम की क्या गति हुई होती तुम इसकी कल्पना कर सकते हो।''

अयोध्या में हम वानरों को आर्यों के जीवनदर्शन, संस्कार, शिष्टाचार एवं आदर्शों के प्रत्यक्ष दर्शन का अवसर मिला। हमने इस पावन पुरी में देखा कि 'अतिथि देवो भव' के वैदिक आदर्शों के अनुसरण में अतिथि चाहे वह वय में छोटा ही क्यों न हो की अभ्यर्थना 'स्वागत' की घोषणा के साथ यथोचित 'अर्घ्य' एवं 'पाद' समर्पित कर किया जाता है। साधुओं, ऋषि–मुनियों तथा पुरोहित एवं विद्वानों के राजसभा में पधारने पर राजा अपने सिंहासन से उठ कर अञ्जलिबद्ध हो उनका स्वागत करता है। विशिष्टजनों के स्वागत के समय अतिथि आगमन को स्वयं अपने तथा अपने परिजनों के लिए परम सौभाग्यसूचक घोषित करते हुए अपने पुरी की तुलना वह अमरावती अथवा स्वर्ग की राजधानी से करता है। जहाँ तक अन्य राज्यों के राजाओं अथवा राजप्रतिनिधियों का प्रश्न है, उनकी स्थिति के अनुसार स्वयं राजा अन्य राजकुमार अथवा अमात्य उनकी अभ्यर्थना करता है। मुझे भलीभाँति स्मरण है कि माता कौशल्या के पिता तथा महाकोशल अथवा दक्षिण कोसल के यशस्वी नरेश भानुमान, राजकुमार भरत के मातामह कैकेयराज अश्वपति एवं विदेहराज जनक के अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर आगमन के समय स्वयं प्रभु श्री राम ने अपने सभी अनुजों तथा अमात्य परिषद के साथ उनकी आगवानी की थी। शेष राजाओं का स्वागत मंत्रिवर सुमन्त सहित अन्य नामित मंत्रियों ने किया था।

अपने कुल वृद्धों, पिता तथा अग्रजों को प्रणति निवेदन अथवा अभिवादन का ढंग आर्यों, वानरों एवं राक्षसों में प्रायः समान रहा है। राजकुमार भरत, भैया लक्ष्मण एवं राजकुमार शत्रुघ्न श्री श्रीराम के चरणों में शीष नवा दोनों हाथों से उनके चरणों का अवगाहन अपने नाम की घोषणा के साथ करते रहे हैं। प्रभु श्री राम तथा उनके तीनों अनुज गण अपने विश्वस्तों के प्रणति निवेदन का उत्तर उनको अपने गले लगा कर आशीष दे करते हैं। गले लगा कर सिर सूंघ कर छोटे को आशीर्वाद देने की प्रथा, चिरपुरातन है।

आलिंगनबद्ध हो सम्मान तथा स्नेह प्रकट करने का ढंग आर्यों की भाँति वानर स्त्रियों में बहुत प्रचलित हैं। अपने सामयिक रोष तथा उग्रस्वभाव के लिए जाने जाने वाले भैया लक्ष्मण भी उदारता एवं नम्रता के प्रदर्शन में अपने अग्रज से बहुत पीछे नहीं हैं। उनको निकट से जानने वाले हम वानरों को वज्र से भी अधिक कठोर दिखलाई पड़ने वाले उनके हृदय के भीतर पुष्प से भी अधिक कोमल भवनाओं का निवास स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। वानरराज महिषी को अयोध्या में परिवारों में एक दूसरे के प्रति समर्पण एवं 'लगाव' भाव अनुकरणीय लगा।

हम वानरों में अवगुंठन (घूंघट या पर्दा) का प्रचलन कभी नहीं रहा है। लंका के राक्षसों में भी इसका अस्तित्व नहीं दिखलाई पड़ा। अयोध्या में आर्यों में भी हमें यही स्थिति दिखलाई पड़ी। वहाँ के राजप्रासाद में राजमातायें तो वयोवृद्ध थीं किन्तु माता सीता की बहनों उर्मिला (लक्ष्मण) माण्डवी (भरत) एवं श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न) को भी हमने कभी अवगुण्ठन में नहीं देखा। देवी 'सीता' ने तो अशोक वाटिका में ही पवनपुत्र को पुत्रवत् मान लिया था। किन्तु अयोध्या के द्विमासिक प्रवास में मुझको देवी सीता तथा देवी उर्मिला के रूप में दो–दो मातायें मिल गईं।

अपने अग्रज श्री राम को ही अपना सर्वस्व मानने वाले भैया सौमित्र के हृदय की कोमलता तथा प्राणिमात्र के प्रति हार्दिक करुणा का प्रत्यक्ष दर्शन अयोध्यावासियों तथा वहाँ उपस्थित ऋषियों सहित भारी जनसमूह को उस समय मिला, जिस समय हम अयोध्या में आयोजित अश्वमेघ यज्ञ के विभिन्न कार्यक्रमों का अवलोकन अत्यन्त निकट से कर रहे थे। समरभूमि में शत्रुओं के मुण्डों का अम्बार लगा देने तथा रक्त का सरोवर उत्पन्न करने वाले अनन्तविक्रम सुमित्राकुमार अनावश्यक हिंसा के कितने प्रबल विरोधी हैं यह अश्वमेघ यज्ञ के समय उपस्थित भारी जनसमूह ने पहली बार देखा और जाना। यज्ञों एवं सामूहिक उत्सवों के अवसर पर निरपराध पशुबध अथवा पशुबलि

के वह विरोधी रहे हैं। उन्होंने अश्वमेघ यज्ञ के समय बलि का उग्र विरोध करते समय स्पष्ट शब्दों में कहा था कि ''वस्तुतः यह एक अत्यन्त कुत्सित कर्म है। मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि भैया लक्ष्मण का यह कथन अयोध्या के माँसाहारी प्रजा तथा दक्षिणा–लोभी ब्राह्मणों को भले ही अच्छा न लगा हो, वहाँ उपस्थित हम वानरों को उर्मिलानाथ का यह विरोध अत्यन्त सुखद, लोकोपकारी तथा रुचिकर लगा था।

अतिथियों से उपहार स्वीकार करने तथा उनको प्रति–अहार उपहार देने में हम वानर आर्यों की परम्परा का अनुकरण करते हैं। अपने से बड़ों से मिलने जाते समय अथवा दूरस्थ परिजनों के यहाँ सम्बन्धियों से मिलने जाते समय हम वानर अनिवार्यतः अपने साथ अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपहार लेकर जाते हैं। विदाई के समय उपहार ग्रहण करने वाले द्वारा अतिथि अथवा अभ्यागत को प्रति–उपहार देना अवश्यक माना जाता है। वानरराज सुग्रीव की आज्ञा के अनुपालन में किष्किन्धा आये वानर–प्रमुख अपने साथ दिव्यफल, कन्दमूल एवं बहुमूल्य रत्न आदि लेकर आये थे (वा.रा. किष्कि0 37.31.12)। महाराज सुग्रीव के राज्यारोहण के अवसर पर इसी भावना के कारण श्री हमने ने भैया सौमित्र को राजधानी में आमंत्रित किया था (वा.रा.किष्कि. 26. 4.8)।

प्रायः विशालकाय किन्तु कतिपय अतिदीर्घकाय स्वर्णाभ तथा विभिन्न आकार–प्रकार के लांगूलधारी वानरों को अपने बीच पा अयोध्यावासियों की धारणा स्वतः पुष्ट हो गई कि हम कपिगण अनश्वर अतिशय शक्ति–सम्पन्न, आश्चर्यजनक तथा अविश्वसनीय कार्यों को करने वाले सर्वसाधन सम्पन्न, इच्छानुसार रूप धारण करने में सक्षम अमृतपायी देवताओं के समकक्ष हैं। अयोध्या के सुशिक्षित एवं आस्थावान लोगों में यह अनुश्रुति त्वरित गति से सुप्रचारित हो रही है कि सृष्टिकर्ता द्वारा रावण आदि के देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, गीध आदि द्वारा अवध्य घोषित करने के कारण

उनके वरदात्र का मान रखते हुए स्वयं श्री विष्णु हरि तथा अन्य देवताओं ने रावण के नेतृत्व में अपराजेय बन चुके आततायी राक्षसों के विनाश के लिए मानवरूप में श्री राम, श्री लक्ष्मण तथा हरिगण का शरीर धारणकर धरावतरण किया है।

स्वामिभक्ति, हम वानरों का स्वाभाविक गुण है। अपने राजराजेश्वर, राजा, सेनापति अथवा नायक के प्रति अटूट निष्ठा हमें एकता के सूत्र में बाँध कर रखती है। अपने यूथ अथवा प्रजाति के किसी भी व्यक्ति को संकट में पड़ा देख सम्पूर्ण उपस्थित वानर समूह उसकी रक्षा के निमित्त आ खड़ा होता है। यही कारण है कि लंका के महासमर में मायावी अकम्पन, अतिकाय, प्रहस्त, मेघनाद, कुम्भकर्ण एवं रावण जैसे राक्षसों के सम्मुख पलायमान वानर योद्धा, अपने हनुमान, अंगद, नील आदि नायकों को उनसे एकाकी जूझते देख दुगुने वेग से वापस लौट पड़ते थे। उनकी वापसी तथा प्रत्याक्रमण की गति इतना अधिक तीव्र होती थी कि राक्षस सैनिक तथा सेनानी हतप्रभ हो उठते थे। स्वामिभक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं रणदुर्दभ वानरों का प्रभूत संख्या–बल शत्रुओं में अतिरिक्त भय उत्पन्न करता था।[1] मेरी तो यह स्पष्ट मान्यता है कि हमारी अतुलनीय जनशक्ति तथा सैनिकगुणों ने ही दिव्यास्त्रधारी राघवकुमारों को वानरों से मैत्री–सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रमुख कारणों में से एक की भूमिका निभाई थी।

शिक्षा के क्षेत्र में अवधपुरी का उदाहरण किसी भी प्रजापालक शासक के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। इक्ष्वाकुवंशीय नरेशों ने प्रारम्भ से ही अपनी समान्य प्रजा को सुशिक्षित तथा प्राज्ञ बनाने का सुनियोजित प्रयास किया है। इसका स्पष्ट प्रभाव हमने अयोध्यावासियों पर देखा। अयोध्या में कई शिक्षण संस्थाओं के 'निवेशन' अथवा प्रमुख केन्द्र हैं। कुलगुरु वसिष्ठ के संस्थान के अतिरिक्त विभिन्न विद्याओं के व्याख्याता आचार्यों ने अलग–अलग शिक्षण–संस्थाओं अथवा आश्रमों की स्थापना कर रखी है। इस प्रकार के संस्थानों में से अयोध्या के

सन्निकट वनक्षेत्र में स्थापित तैत्तिरीय विद्या के परमाचार्य अभिरुप तथा प्रकाण्ड धर्मशास्त्री महर्षि वसिष्ठ के पुत्र सुयज्ञ के आश्रम में जाने का सुअवसर मुझको प्राप्त हुआ था। वहीं मुझको पता चला कि इक्ष्वाकु नरेश परम्परागत रूप में इन शिक्षण–संस्थाओं को समय–समय पर समुचित आर्थिक–भौतिक सहायता प्रदान किया करते हैं। राजा के अतिरिक्त राज्य का सम्पन्न सामन्तवर्ग, अमात्यगण अथवा श्रेष्ठिजन समय–समय पर इन संस्थाओं को आर्थिक तथा सामाजिक (सामग्री सम्बन्धी) सहायता उपलब्ध कराते रहते है। शिष्यों से प्राप्त गुरुदक्षिणा की भी इस दिशा में विशिष्ट भूमिका होती है।

आचार्य सुयज्ञ के आश्रम में मेरे जाने का कारण भी अत्यन्त रोचक है। एक दिन मुझको तथा पवनपुत्र को इस आशय का राजकीय संदेश मिला कि हम दोनों को कुलाचार्य की पत्नी द्वारा अपने पति के आश्रम में सादर आमन्त्रित किया गया है। इस सर्वथा अप्रत्याशित निमन्त्रण पर हमारा चौंकना स्वाभाविक था किन्तु अपने आश्चर्य का शमन कर हम दोनों ने दूसरे दिन ही वहाँ जाने का निर्णय ले लिया था। वहाँ जाने पर हमको सम्मानपूर्वक कुलपति सुयज्ञ तथा उनकी पत्नी के समक्ष प्रस्तुत किया गया। वहीं पर ऋषिपत्नी से पता चला कि वह अयोध्य ाकी राजरानी देवी सीता की प्रिय सखी हैं। वनवास पर जाते समय अपनी सखी को विदा करने गईं आचार्य–पत्नी को देवी जानकी ने अपने बहुमूल्य व्यक्तिगत आभूषण उपहार स्वरूप प्रदान किया था।[2] ''चूँकि देवी सीता हम दोनों पर पुत्रवत् स्नेह रखती हैं, इस लिए ऋषि–पत्नी ने अपने पुत्र के समान प्रिय हम दोनों को अपने यहाँ बुलाया है।'' गुरुपत्नी ने अपने हाथों से बनाया सुस्वादु भोजन खिला हमारे प्रति अपने अकूत स्नेह का परिचय दिया। चलते समय स्नेहाश्रु बहाती उस महानारी ने हमसे बचनलिया था कि ''उनदोनों की जननी तुल्य जानकी के अतिरिक्त अयोध्या के राजप्रासाद से अनति दूर इस आश्रम में उनकी माँ सी 'मौसी' रहती हैं इसे सदा स्मरण रखा जाय।'' आज भी जब

कभी उस ममतामयी नारी का स्मरण हो आता है आँखें भर आती हैं।

अयोध्या में स्यात् ही कोई व्यक्ति निरक्षर रह गया हो, जबकि किष्किन्धा की स्थिति इसके प्रतिकूल है। जैसा कि पहिले कह चुका हूँ शिक्षण संस्थाओं की पर्याप्त संख्या के कारण अयोध्या में विभिन्न आश्रमों से आने वाले अस्थायी रूप से नगर में निवास करने वाले शिष्यों की संख्या हजारों तक पहुँच चुकी है। इन छात्रों अथवा शिष्यों ने अपना अलग–अलग महासंघ (मेखलीनाम् महासंघ) बना रखा है। इन महासंघों को राजपरिवार से प्रदत्त सहायता, एक सहस्त्र मुद्रायें, एक सहस्त्र शालिबाह (बैलगाड़ी) पर्याप्त मात्रा में अन्न, वस्त्र आदि प्रति संघ तक हो सकती हैं। राजपरिवार से भिन्न परिवारों से प्राप्त सहायता इसके अतिरिक्त होती है। वाननराज सुग्रीव तथा श्री हनुमान जी सहित हम वानरों की हार्दिक इच्छा है कि कालान्तर में हमारा किष्किन्धा भी अवधपुरी की भाँति महर्षियों, हेतुवादियों, सद्विप्रों, शिक्षाविदों आदि के आवागमन तथा शास्त्रार्थ का केन्द्र बन जाय।

अयोध्या में शिक्षा के प्रसार अथवा ज्ञान–प्राप्ति की अत्यन्त लोकप्रिय शैली परम्परागत धार्मिक–नैतिक कथाओं का मोहक नाट्य प्रस्तुतीकरण है। पुरा काल के महान् नर–नारी इन कथाओं के प्रमुख पात्र बनते हैं। सन्ध्या के समय सार्वजनिक सभाकक्षों में इन कथाओं का आयोजन नगर का प्रमुख दैनिक सांस्कृतिक कार्यक्रम बन गया है। पाठ एवं स्वाध्याय ज्ञान–प्राप्ति का दूसरा प्रमुख साधन हैं। ब्राह्ममुहूर्त्त में प्रभु श्री राम की इस राजनगरी का शान्त–वातावरण विभिन्न स्थानों पर वेदपाठियों द्वारा वेदमंत्रों के सस्वर पाठ से गुंजायमान हो उठता है। जहाँ तक स्वाध्याय का प्रश्न है, शिष्य बिना किसी गुरु की सहायता के शास्त्रों के आत्माध्ययन द्वारा विद्या की प्राप्ति करता है तथा सीखे हुए मंत्रों को अपने स्मृतिपटल पर बनाये रखता है।

आर्यों, राक्षसों तथा दानवों में स्त्री–शिक्षा पर भी समुचित

ध्यान दिया जाता है। राजपरिवारों में तो उपाध्यायगण शिष्याओं के घर जाकर अध्यापन कार्य करते हैं। अनेक ऋषिकुलों में सहशिक्षा की व्यवस्था है। अहल्या का उदाहरण हमारे सामने है। उसको बचपन में शिक्षा–प्राप्ति हेतु गौतम ऋषि के आश्रम में भेजा गया था। अनेक वर्षों के पश्चात् वह पितृगृह वापस भेजी गई (निर्यातिता) थी। बाद में वही गौतम ऋषि की पत्नी बनी थी।[3] आर्थिक–सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े तथा अस्पृश्य माने जाने वाले शबर जाति में भी स्त्रीशिक्षा अज्ञात नहीं थी। 'चारुभाषिणी' धार्मिक स्वभाव (धर्मसंस्थिता) की शबर कन्या को अपने सहयोगियों के विरोध के पश्चात् भी मतंग–ऋषि ने अपनी शिष्या बनाया था। देवी सीता के अनुसंधान के समय हम वानरों को दक्षिण समुद्र तट का मार्ग बताने वाली तपस्विनी स्वयंप्रभा तथा रावण की पत्नी मन्दोदरी की माँ ने एक ही आश्रम में साथ–साथ शिक्षा प्राप्त किया था। वस्तुतः मेरु सावर्णि की यह पुत्री हेमा नामक अप्सरा की सखी थी। मयदानव ने इसका हरण कर अपनी पत्नी बनाया था, जिससे मन्दोदरी का जन्म हुआ था। इस प्रकार स्वयं प्रभा मेघनाद आदि रावण पुत्री की पूज्य नानी जैसी थी। प्रभु श्री राम का दर्शन कर मुक्ति प्राप्त कर यह स्वर्ग गई थी। हम वानरों में भी माता तारा जैसी सर्वशास्त्र–विशारदा का अस्तित्व है। किन्तु मुझको यह स्वीकार करने में लेश मात्र संकोच नहीं है कि शिक्षा के क्षेत्र में सम्पूर्ण वानर जाति पिछड़ी हुई है। हमारे द्वारा इस दिशा में गम्भीर प्रयास आवश्यक प्रतीत होता है।

दक्षिण के घोर माँसाहारी तथा उत्तर की माँसाहार बहुल जनता के मध्य में बसने वाले हम वानरों को शाकाहर अतिप्रिय है। सच तो यह है कि मांसाहार को अधिकांश वानर सर्वथा त्याज्य मानते हैं। अयोध्या में भी हम वानर मांसाहार से प्रायः दूर ही रहे। यदि किसी ने चुपके से अथवा अनजाने में सामिष भोजन कर भी लिया हो तो वह अपवाद स्वरूप ही रहा होगा। शाकाहारी होते हुए भी हम वानरों ने अयोध्या प्रवास के समय पहली बार जाना कि घृत (घी)

स्नेह (तैल–तेल) एवं विभिन्न प्रकार के लवणादि के सम्यक् एवं सानुपातिक प्रयोग से भोजन को अधिक सुस्वादु, पौष्टिक एवं सुपाच्य बनाया जा सकता है। इसी भाँति हमें यह भी पता चला कि आम, अमरुद, कदलीफल (केला) जम्बूफल (जामुन) बेर, आदि विभिन्न प्रकार के फलों, अल्प मात्रा में तैल, कटु (मिर्च) एवं विभिन्न प्रकारके वासचूर्ण को मिलाकर उसके स्वाद में विविधता लाई जा सकती है। आम्लरस (सिरका) तथा इक्षुरस (गन्ने का रस) की लोकप्रियता भी वानरों में बढ़ी। अयोध्या में ही वानरगण विभिन्न प्रकार के सुस्वादु सुरा अथा मद्य के निर्माण की कला से परिचित हुए। यहीं पर हमने यह भी जाना कि अधिक मद्यपान अथवा मदोन्मत्तता सभ्य समाज में घृणित एवं निन्दित ''ग्राम्यसुख'' हैं। धर्म एवं सदाचार के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाले अत्यधिक 'मद्यपान' को भैया लक्ष्मण गोबध के समान 'पापकर्म' मानते हैं। उनके अनुसार मद्यपान से अर्थ, धर्म एवं काम तीनों का नाश होता है।[4]

अयोध्या–प्रवास के समय प्रभु श्री राम के राज्यारोहण की चक्षुदर्शी घटना हमारे जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सदा स्मरणीय घटना है। राजकुमार भरत के अनुनय–विनय तथा हार्दिक अनुरोध को स्वीकार कर ज्येष्ठ राघव ने अन्ततः राजसिंहासन पर बैठने की अनुमति दी थी। कैकेयी कुमार के सविनय प्रस्ताव पर ''तथास्तु'' की घोषणा के पश्चात् राघवेन्द्र श्री राम एक सुन्दर आसन पर विराजमान हुए। राजकुमार श्री शत्रुघ्न की आज्ञा से निपुण नाईयों को बुलाया गया। प्रभु श्री राम के क्षौरकर्म के पश्चात् सर्वप्रथम कैकेयी कुमार श्री भरत ने स्नान किया तदूपरान्त क्रमशः श्री लक्ष्मण तथा श्री शत्रुघ्न ने स्नान किया। राजपरिवार 'वानरराज सुग्रीव' को प्रभु श्री राम का पाँचवाँ भाई स्वीकार कर चुका था। राक्षसराज विभीषण भी अब तक राजपरिवार से आन्तरिक रूप से जुड़ चुके थे। राजकुमारों के स्नान के पश्चात् मन्त्रपाठ सहित पितृव्य सुग्रीव, लंकेश विभीषण के साथ प्रमुख वानरों द्वारा स्नान किया गया। जटाशोधन के पश्चात् अन्त में

प्रभु श्री राम ने स्नान किया। स्नानोपरान्त बहुमूल्य पीताम्बर, रत्नजटित आभूषणों, सुन्दर अनुलेपन तथाविभिन्न प्रकार की विचित्र पुष्पमालाओं से अलंकृत श्री कौसल्यानन्दन को भव्य सिंहासन पर विराजमान कराया गया।

राजमाता कौसल्या की अगुआई में देवी सीता के शृंगार के उपरान्त राजमाताओं तथा राजभवन की प्रशिक्षित दासियों द्वारा अपने हाथों वानर–पत्नियों का भी शृंगार किया गया। शत्रुघ्न की आज्ञा से मंत्रिवर सुमंत्र द्वारा लाये गये रथ पर प्रभु श्री राम को आरुढ़ कराया गया। उनके निकट ही विदेह कुमारी सीता जी बैठी थीं। राजकुमार भरत ने स्वयं सारथि का दायित्व अपने हाथों में ले लिया। शत्रुघ्न जी ने छत्र लगा रखा था। सुमित्राकुमार श्री लक्ष्मण अग्रज के मुख के ऊपर चंवर डुला रहे थे। विभीषण जी ने एक दूसरा चंवर अपने हाथों में पकड़ रखा था। प्रभु श्री राम के परमप्रिय गजराज शत्रुञ्जय पर वानरेन्द्र सुग्रीव को आरुढ़ कराया गया। सभी वानर कुण्डलादि आभूषणों से समलंकृत एवं स्थानीय नागरिकों की वेश–भूषा में थे।

राजकुमार भरत जी के निर्देशानुसार कपिराज ने रत्नाभूषित चार स्वर्णकलशों को चारों समुद्रों का जल लाने हेतु क्रमशः जाम्वन्त, ऋषभ, पवनपुत्र तथा वेगदर्शी को सौंपते हुए विनीतापुत्र गरुड़ की गति से वापसी की अपेक्षा की। ऋक्षराज जाम्वन्त जी को पूरब, महाबली ऋषभ को दक्षिण, वायुवेग से चलने वाले वेगदर्शी को पश्चिम एवं वायुपुत्र हनुमानजी को उत्तर के महासागरों से पवित्र जल लाने का दायित्व दिया गया था। अयोध्या वासियों तथा उपस्थित जनसमूह को आश्चर्य चकित करते हुए वानर महावीर, चारों समुद्रों सहित पाँच सौ पवित्र नदियों के जल भी विभिन्न स्वर्णकलशों में लेकर उपस्थित हो गये। शत्रुघ्न जी ने समस्त स्वर्ण कलश पुरोहित वसिष्ठ जी को समर्पित कर दिया।

रत्नजटित स्वर्ण पीठ पर देवी सीता सहित प्रभु श्री राम को आसनस्थ करा, सर्वप्रथम वृद्ध पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कात्यायन्, सुयज्ञ, गौतम एवं विजय नामक विप्रवरों, तदूरान्त सोलह कन्याओं, मंत्रियों और श्रेष्ठ वानरों द्वारा आनीत जल में विभिन्न प्रकार की औषधियों को मिला कर प्रभु श्री राम एवं महादेवी जानकी का अभिषेक किया गया। इसके पश्चात् सेनानियों तथा चुने हुए योद्धाओं, प्रमुख नगर श्रेष्ठियों को अभिषेक का अवसर दिया गया। राजपुरोहित वसिष्ठ जी द्वारा अन्त में वंशपरम्परा से चले आ रहे किरीट एवं अन्य आभूषणों से श्री रघुनाथ जी को विभूषित किया गया। इस समय राजकुमार शत्रुघ्न, वानर राज सुग्रीव, लंकापति विभीषण के हाथों में क्रमशः श्वेत छत्र, श्वेत चंवर एवं चन्द्रमा के समान प्रकाशमान चंवर था। मनोरम नृत्य–गान के पश्चात् अयोध्यापति श्री राम द्वारा ब्राह्मणों को एक लाख अश्व, एक लाख दुधारु गायें तथा सौ साँड़ दान स्वरूप प्रदान किये गये। तीस कोटि (करोड़) स्वर्ण मुद्रायें और बहुमूल्य आभूषणों एवं वस्त्रों का वितरण भी ब्राह्मणों में किया गया। इस अवसर पर वानरेन्द्र श्री सुग्रीव को राजराजेश्वर द्वारा सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान दिव्य माला, मुझको नीलम–जटित चन्द्र–किरणों से विभूषित दो अंगद (बाजूबन्द) तथा राजरानी वैदेही को मणिखचित दिव्य मुक्तहकार, दो दिव्य परिधान (वस्त्र) एवं अनेक सुन्दर आभूषण प्रदान किये गये। इस अवसर पर अपने प्राणेश्वर की अनुमति ले राजराजेश्वरी देवी सीता ने प्रभु द्वारा अपने गले में डाली गई मुक्तामाला को अपने हाथों उपहार स्वरूप श्री मारुति (हनुमान) को प्रदान किया। अत्यन्त सम्मान के साथ कपिप्रवर हनुमत् ने वह अद्‌भुत हार अपने गले में डाल लिया। तदूपरान्त प्रभु श्रीराम ने विभीषण, जाम्ववान, द्विविद, मैन्द, नील आदि समस्त वानरवीरों को एक एक कर विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य उपहारों से उपकृत किया।

इस अवसर पर एक बार पुनः इक्ष्वाकु कुल के राजकुमार भैया लक्ष्मण ने अपने अग्रज द्वारा प्रस्तावित युवराज पद को अत्यन्त नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए अपने अग्रज राजकुमार भरत के प्रति अपनी श्रद्धा एवं सम्मान का उदाहरण प्रस्तुत किया। अन्ततः प्रभु श्री राम द्वारा त्यागमूर्ति भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त किया गया। प्रभु श्री अवधेश ने भैया सौमित्र का उनको अपनी व्यक्तिगत सेवा में रखने का अनुरोध स्वीकार कर उनको गत चौदह वर्षों से चले आ रहे सान्निध्य–सुख से वंचित नहीं किया। शत्रुघ्न जी को अयोध्या का सेनाधिपति नियुक्त कर आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा के प्रभारी का महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा गया।

अयोध्या प्रवास के समय आर्यों द्वारा म्लेच्छ अथवा हीन समझी जाने वाली, कृष्ण वर्षीय ह्रस्व आकार के जनजाति निषादों के राजा गुह के सान्निध्य को मैं अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में गिनता हूँ। अयोध्या से रथ से यात्रा करने पर एक रात्रि निवास की दूरी पर स्थित गंगातटवर्ती शृंगवेरपुर निषादों का राजनगर था। अयोध्या राज्य की सीमा के निकट निषादों का स्वतंत्र अस्तित्व महाराज दशरथ की उदार मानवतावादी राजनीति के कारण संभव हुआ। इस विषय में मैंने न तो निषादराज गुह अथवा सानुज श्री राम से ही कोई प्रश्न पूछा था। किसी कारणवश संभवतः बाल्यावस्था में ही परम कृपालु श्री राम से निषाद–राजपुत्र गुह की मित्रता हो गई थी। यह मित्रता उनके यौवन के साथ प्रगाढ़ होती गई। अयोध्या का राजपरिवार इस मैत्री–सम्बन्ध से भली–भाँति परिचित है। यही कारण है कि अयोध्या में राजराजेश्वर के इस मित्र को अत्यन्त सम्मानास्पद माना जाता है। अपने सम्पर्क में आये व्यक्तियों को अपना मित्र, सहयोगी अथवा अनुगामी बनाने की कला में निष्णात् रघुकुल भूषण के इस अनन्य भक्त के अपने अग्रज के प्रति समर्पण भाव का उल्लेख करते भैया लक्ष्मण अत्यन्त भावुक हो उठते हैं। वह बताया करते हैं कि किस प्रकार निषाद राज ने अपने हाथों महादेवी सीता तथा प्रभु

श्री के लिए पर्णकुटी का निर्माण किया था तथा अपनी पत्नी के साथ अपने हाथों बना भोजन प्रस्तुत किया था। भैया लक्ष्मण के अनुसार उनके तथा श्री राम के मना करने पर भी निषादराज ने अपने हाथों में धनुष धारण कर इस पर्णकुटी में प्रभु श्री राम तथा देवी सीता के शयन के समय रामानुज के साथ रात्रि जागरण के समय सुरक्षा–प्रहरी का दायित्व निभाया था। कोसलराज की सीमा के निकट स्थित होने के कारण अयोध्या के लोगों के सम्पर्क से दूर रहने के उद्देश्य से सत्यसन्ध प्रभु ने उसी पर्णकुटी में वनवास अवधि व्यतीत करने का निषादराज का साग्रह अनुरोध अत्यन्त नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। भैया लक्ष्मण ने इस प्रसंग में मुझको बताया था कि राजमाता कैकेयी, महाराज दशरथ तथा राजकुमार भरत के प्रति उनके पूर्वाग्रह ग्रसित विचारों को सुनकर स्वयं निषादराज भी इन तीनों के प्रति अनुदार हो गये थे। यही कारण है कि भरत के चित्रकूट गमन के समय निषादराज अयोध्या की चतुरंगिणी सेना का मार्गावरोध कर वह अपना तथा अपनी सेना के अस्तित्व तक को संकट में डालने को तत्पर हो उठे थे। इस घटना का उल्लेख मैंने जब निषादराज से किया था तब मुझे भली–भाँति स्मरण है कि वह कुछ क्षणों के लिए सोच में पड़ गये थे। पता नहीं किन कारणों से उनके नेत्रों में अश्रुविन्दु छलक उठे थे। कुछ क्षण रुक कर उन्होंने गद–गद स्वर में मुझसे कहा था, ''हे बालि कुमार! रघुवंशियों की रीति–नीति तीनों लोकों से न्यारी हैं मानवमात्र के प्रति समान भाव रखने वाले इक्ष्वाकुवंशियों में प्रभु श्री राम का स्थान अग्रणी है। उनको यों ही नहीं 'समदर्शी' कहा जाता है। मेरा सौभाग्य है कि बचपन में ही संयोगवश अकस्मात् हुई भेंट में उन्होंने मुझको अपना मित्र घोषित कर दिया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार आर्यवर्णों से बाहर समझी जाने वाली निषाद जाति के युवक को 'मित्र' का सम्बोधन देना ही किसी आर्य कुमार के लिए उसकी हार्दिक उदारता का मूर्तिमान प्रमाण है। इस स्नेहिल सम्बोधन मात्र ने वचपन में ही

मुझको उनके प्रति पूर्ण समर्पित बना दिया था। जब मेरे चरों से देवी वैदेही सहित सानुज प्रभु के गंगा तट पर आने की सूचना मिली थी, मैं प्रसन्नता से उछल पड़ा था। वर्षों बाद होने जा रही उनसे भेंट के प्रति मेरे मन में जहाँ उछाह था वहीं अत्यल्प मात्रा में ही सही संशय अथवा संकोच भी था कि कहीं मेरे मित्रवर के स्वभाव में परिवर्तन न हो गया हो अथवा अपनी पत्नी तथा अनुज के समाने मेरे प्रति उनका व्यवहार न जाने किस प्रकार हो। उनके स्वागत के लिए सपत्नीक एवं अनुयायियों सहित आगे बढ़ते हमारे मन में जहाँ अत्यन्त उत्साह था वहीं किञ्चित् आशंका भी थी। तीव्र गति से करबद्ध मुझको अपनी ओर बढ़ते देख श्री रघुनाथ ने अपनी दोनों बाहें फैलाते हुए प्रसन्नता भरे स्वर में कहा था ''आओ मित्र! आओ''। उनकी विनम्रता से अभिभूत मैं साष्टांग की मुद्रा में श्री राघव के चरणों में गिरने वाला ही था कि धरती पर गिरते हुए मुझको उन्होंने लपक कर उठा अपनी बाहों में भर लिया था। म्लेच्छ एवं अस्पृश्य समझे जाने वाले मुझ निषाद के प्रति प्रभु के इस अकल्पनीय व्यवहार से सपत्नीक मेरी आँखें भर आई थीं। अवध के भावी राजा प्रभु श्री राम जैसे देवोपम आर्य द्वारा ऐसा सम्मान देख वहाँ उपस्थित मेरे अमात्य, सैनिक एवं प्रमुख प्रजा जन तो आनन्द के अतिरेक से रो ही पड़े थे। मैं तो प्रभु का दास पहिले हो ही चुका था। उनके इस व्यवहार ने सम्पूर्ण निषाद प्रजा को राघवेन्द्र श्री राम का दासानुदास बना दिया। इसी लिए मेरी इस आशंका पर कि कैकेयी कुमार भरत अपनी चतुरंगिणी सेना सहित प्रभु श्री राम, महादेवी सीता तथा भैया लक्ष्मण का अहित करने के उद्देश्य से वन में जा रहे हैं मेरे सैनिकों के साथ सामान्य प्रजा जन भी अपने प्राणों का मोह छोड़ अयोध्या की चतुरंगिणी सेना का विरोध करने को व्यूह–बद्ध हो गये थे।''[5]

प्रभु श्री राम की भक्तवत्सलता, सर्वजनीन उदारता तथा राजकुमार भरत के भ्रातृप्रेम का उल्लेख करते हुए निषादराज फफक कर रो पड़े थे। कुछ क्षणों के उपरान्त अपने आँसुओं को पोंछते हुए

कुछ रुक कर मुझको सम्बोधित करते हुए पुनः कहा था, ''हे वानर श्रेष्ठ, युवराज अंगद! यह तो राजकुमार भरत से मिलने के पश्चात् ही हम निषादों को पता चला कि बिना सम्यक् विचार–विमर्श के किसी निर्णय पर पहुँच कर हम कितना बड़ा अनर्थकारी कार्य करने जा रहे थे। अयोध्या के राजकुमार के स्वागत अथवा विरोध के निर्णय के अभाव में अनिश्चय की स्थिति में सामने खड़े मुझको देखते ही राजकुमार भरत अपने रथ से धरती पर कूद पड़े थे। लगभग दौड़ते हुए वह मेरे निकट तक आ पहुँचे थे। दोनों हाथों को जोड़ते हुए गद्–गद् कंठ वह इतना ही कह सके थे ''मेरे प्राणाधार भैया, आदरणीया भाभी तथा परमप्रिय अनुज को कहाँ छिपा रखा है निषाद राज।'' अपनी भूल पर मुझको घोर पश्चाताप हुआ था। इस महामानव के प्रति बिना सम्यक् विचार अथवा वस्तु स्थिति का पता लगाये मैंने कैसे यह सोच लिया था कि अपने अग्रज को अपना प्राण मानने वाला आदर्श अनुज उनके प्रति अन्यथा भाव कैसे रख सकता है? अपराध–बोध मेरे मन को व्यथित करने लगा। मुझको लगा अपनी लज्जाजनक योजना का भेद रामानुज को बता देने पर ही मुझको शान्ति मिल सकेगी। राजकुमार भरत के प्रति अपनी पूर्वाग्रह जनित भूल का उल्लेख करते करते मैं भावुक हो उठा था। ''हे मेरे प्राणप्रिय राम के सवसे प्रिय अनुज! इस क्षुद्र बुद्धि निषाद को उसकी अपने प्रति कुत्सित भावनाओं के कारण अवश्य दण्डित करें। मैंने आपको पहिचानने में भयंकर भूल की है रघुबीर। मैं यह कैसे भूल गया था कि आप पुरुषोत्तम श्री राम के अति प्रिय अनुज हैं। मुझ भाग्यहीन को अवश्य दण्डित करें महाराज।'' यह कहते हुए मैंने धरती पर अपने घुटनों के बल बैठ अपराधी की भाँति हाथ जोड़ अपना सिर झुकाया ही था कि अपनी बाँहों से पकड़ मुझे उठा कर रामानुज मुझसे पुनः लिपट पड़े थे। ''दण्ड का वास्तविक पात्र एवं वास्तव में ''भाग्य–हीन''तो यह भरत है निषादराज।.... मेरे कारण ही आज मेरे आराध्य को सपत्नीक वनवास का दुःख भोगना पड़ा है। अनुज लक्ष्मण सचमुच सौभाग्यशाली है जिसने अपने आराध्य के संग के लिए अपना राज्य; अपना परिवार

सब कुछ त्याग दिया है। बस एक बार मात्र एक बार मेरी भेंट मेरे भगवान से करा दो बन्धु!... यदि फिर भी यह भाग्यहीन भरत अपने भैया को वापसी के लिए नहीं मना सका तो वह यहीं वन में अपना प्राण त्याग देगा। प्रभु श्रीराम के बदले इस भरत के लिये त्रैलोक्य का राज्य भी सर्वथा त्याज्य है।'' सहसा मुझको स्मरण हो आया कि प्रभु श्री राम अपने जिस अनुज की प्रशंसा करते अत्यन्त भावुक हो उठे थे। वही आदर्श भ्रातृ–भक्त भरत मेरे सामने खड़े अबोध की भाँति रो रहे हैं तथा श्री राम के वनवास के लिए एक मात्र स्वयं को दोषी मान रहे हैं। 'ऐसा अद्‌भुत भातृ–प्रेम रघुवंशियों में ही संभव है युवराज अंगद।''

भविष्य में जब कभी अवसर मिले, मुझको अपनी राजधानी शृंगवेरपुर आने का स्नेह–निमन्त्रण देते हुए निषादपति ने बतलाया था कि नदी के तटवर्ती क्षेत्रों का निवासी होने के कारण निषाद नौका–निर्माण तथा ''नौ–परिवहन'' की कला में अत्यन्त निपुण होते हैं। नदियों के द्वारा बहाकर लाई गई बहुमूल्य वनसम्पदा के व्यापार से निषादों को प्रतिवर्ष पर्याप्त आय होती है। वन्यजीवों के निरन्तर आखेट के कारण निषाद श्रेष्ठ धनुर्धर होते हैं। स्वच्छ जल के मध्य विचरणशील मछलियों पर हमारे बच्चे बचपन से ही लक्ष्यभेद का अभ्यास करते हैं। निकटवर्ती कोसल, वत्स एवं काशी तथा अंग, पाञ्चाल मगध, अवन्ति, दशार्ण आदि के अन्तर्राज्यीयव्यवसासियों से हमारे निकट के व्यवसयिक सम्बन्ध हैं। आर्यसंस्कृति के बढ़ते प्रभाव के पश्चात् भी हम अपना पृथक् राजनीतिक–सांस्कृतिक अस्तित्व बनाये रखने में अब तक सफल हुए हैं। आर्यों के प्रति निकटता तथा हमारे स्वभावगत गुणों के कारण अनेक ऋषियों ने हमको पाँचवाँ वर्ण ''निषादो पञ्चम् वर्णः'' मान लिया है।

कालचक्र का पहिया निरन्तर गतिमान रहता है, बिना किसी भेद–भाव अथवा मोह–माया के। समय के थपेड़ो को सह सकने में समर्थ–असमर्थ मानव–समूह अपने उत्थान–पतन का साक्षी बनते

रहते हैं। पुरातन मान्यतानुसार दक्ष–प्रजापति की पुत्री अदिति के गर्भ से ऋषि कश्यप द्वारा सूर्य आदि तैतीस देवताओं का जन्म हुआ था।[6] अदिति की सहोदरा दिति के गर्भ से उसी कश्यप से हिरण्याक्ष, हिरण्कशिपु जैसे दैत्य अथवा असुर उत्पन्न हुए। एक ही पिता तथा सगी बहनों की सन्तान होने पर भी दोनों सर्वनाशी संघर्ष में रत रहे। देवताओं के धुर विरोधी, यज्ञादि कर्मकाण्डों को घृणित मानने वाले मांसाहारी दैत्य अथवा असुर देवों द्वारा पराजित हो रसातलवासी बनने को बाध्य हुए। दैत्यों अथवा दानवों या असुरों से निरन्तर संघर्षरत देवता भले ही विजयी हुए हों, निरन्तर संघर्ष ने उनकी शक्ति को विशृंखलित कर दिया। परिणामस्वरूप देवताओं तथा असुरों के समान विरोधी राक्षसों की उदीयमान शक्ति के समक्ष देवताओं तथा असुरों को समानरूप से पराजित होना पड़ा। देव विरोधा असुरों ने विजेता राक्षसों का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। सर्वशक्तिमान देवताओं को भी ऋक्षों (वानरों) नागों, यक्षों, गीधों तथा मनवों की सहायता स्वीकार करने को विवश होना पड़ा। महर्षि अगस्त्य ने असुरराज वातापि तथा उसके अनुज उल्वल का अन्त कर देवताओं को उपकृत किया था। महाराज दशरथ ने दण्डक वन में हुए देवासुर संग्राम में देवताओं का साथ दिया था। गीधराज सम्पत्ति तथा जटायु ने भी इस युद्ध में देवपक्ष में संग्राम किया था। सुख्यात् वानर महावीर जाम्वन्त जी भी देवासुर संग्राम में देवताओं के पक्ष में युद्ध कर चुके हैं। देवराज इन्द्र एवं यक्षपति कुबेर से वानर प्रमुखों के मैत्री–सम्बन्धों का उल्लेख मैं प्रसंगवश अन्यत्र कर चुका हूँ। सामान्य वनवासी एवं कतिपय मुनिगण भी प्रायः गुणधर्म के आधार असुरों एवं राक्षसों को एक समझने की भूल कर बैठते हैं। संभवतः इसी कारण दण्डकवन में तापसों ने प्रभु श्री राम से उक्त वन को मुक्त कराने की प्रार्थना की थी।

आर्यों में मंगल तिथियों एवं जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तिथियों को स्मरण रखने की परम्परा चिरपुरातन है। राजपरिवारों

में यह कार्य राजपुरोहित द्वारा किया जाता है। वही महत्त्वपूर्ण तिथियों को लिपिबद्ध करता है एवं स्मरण रखता है। अयोध्या में ही मुझको वीदित हुआ कि वैशाख शुक्ल प्रथमा अथवा एकम को वनवास के प्रथम दिन आर्य श्री राम की आयु सत्ताईस वर्ष एवं देवी सीता की अठारह वर्ष थी। राज्याभिषेक के दिन जानकी बल्लभ की आयु बयालिस एवं मिथिलेश कुमारी देवी सीता की तैंतीस वर्षों की थी। राक्षसराज रावण के बंदिवास में देवी सीता को कुल ग्यारह मास एवं चौदह दिनों तक रहा पड़ा।[7] सानुज प्रभु श्री राम ने पञ्चवटी में बारह वर्ष एवं छः मास तक निवास किया था। श्री लक्ष्मण द्वारा राक्षसी शूर्पणखा के नाक तथा कानों का कर्त्तन कार्तिक मास के कृष्णापक्ष की दशमी को किया गया था। अवधेश श्री राम ने चौदह वर्ष की वनवास–अवधि की समाप्ति वैशाख शुक्ल पञ्चमी को 'भारद्वाज आश्रम' प्रयाग में हुई। वैशाख शुक्ल षष्ठी को नंदिग्राम में श्री राम तथा श्री भरत का पुनर्मिलन हुआ। राकुमार भरत की मनुहार पर अयोध्या में प्रवेश के दिन ही प्रभु श्री राम का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ।

अयोध्या–प्रवास के समय ही एकान्त क्षणों में मेरे विश्वास्य भैया लक्ष्मण ने मुझको राजनीति में गोपनीयता के महद् महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था, ''तात! अंगद!! समय से पूर्व योजनाओं का रहस्य प्रकट हो जाना अत्यन्त घातक होता है। उन्होंने मुझको बताया था कि 'राम–रावण युद्ध' पर देव, दानव, ऋषि, दैत्य, गन्धर्वादि सभी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की सतर्क दृष्टि थी। रावण के नेतृत्व में पहिले ही तीनों लोकों में आतंक मचा देने वाले राक्षसों को दैत्यों, दानवों आदि का अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन न मिल जावे, इसी आशंका को निर्मूल करने के उद्देश्य से देवताओं ने वानरों की भाँति प्रभु श्री राम का प्रत्यक्ष समर्थन नहीं किया था। यही नहीं सानुज श्री राम के शस्त्र–गुरु महर्षि विश्वामित्र तक ने राघव कुमारों को तब तक विभिन्न दिव्यास्त्रों का ज्ञान नहीं कराया, जब तक ताटका–सुबाहु का

बध एवं शूर्पणखा का नाक–कान काट दोनों रघुवंशियों ने रावण की शक्ति को प्रत्यक्ष चुनौती देने के दुस्साहस का प्रदर्शन नहीं कर दिया था। देवराज इन्द्र तक अपने उद्देश्य को गोपनीयता के प्रति अत्यधिक सतर्क थे। शरभंग मुनि के आश्रम में देवी जानकी तथा रामानुज को प्रवेश करते देख देवेन्द्र शरभंग मुनि से यह कहकर तत्काल स्वर्ग चले गये थे कि श्री राघव का दर्शन वह उनके द्वारा रावण पर पूर्ण विजय की प्राप्ति के बाद ही करेंगे। (वा.रा. 3.5.15–20)। मैंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया था कि राजपद प्राप्ति की स्थिति में भैया श्री लक्ष्मण को अपने मार्ग–दर्शन हेतु किष्किन्धा में अवश्य आमन्त्रित करूँगा।

• • • •

सन्दर्भ–संकेत

1. ''एवं कोटिसहस्त्रेण शङ्कूनां च शतेन च।
महाशङ्कु सहस्त्रेण तथा वृन्दशतेन च।।38।।
महावृन्द सहस्त्रेण तथा पद्मशतेन च।
महापदम सहस्त्रेण तथा खर्व शतेन।।39।।
समुद्रेण च तेनैव महौघेन तथैव च।
एष कोटि महौघेन समुद्र सदृशेन च।।40।।
विभीषणेन वीरेण सचिवैः परिवारितः।
सुग्रीव वानरेन्द्रस्त्वां युद्धार्थमनुवर्तते।
महाबलवृत्तोनित्यं महाबलपराक्रमः।।41।।

– वा0 रा0 युद्ध 28–38–41

(इस पकार सहस्त्र कोटि, सौशंकु, हजार महाशंकु, सौवृन्द, हजार महावृन्द, सौ पद्म, हजार महापद्म, सौ खर्व, सौ समुद्र, सौ महौघ तथा समुद्र के समान (सौ) कोटि–महौघ सैनिकों, वीर विभीषण तथा अपने सचिवों से घिरे हुए वानरराज सुग्रीव आपसे युद्ध करने आए हैं।)

2. ''सुयसं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदतः।।6।।
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायैः सौक्य हारय।
रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी।।7।।
अङ्गदानि च चित्राणि केयूराशि शुभानि च।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायैः गच्छति वनम्।।8।।

– वा0 रा0 अयो0 32. 6–8

(वनगमन के पूर्व श्री राम ने वेदवेत्ता वसिष्ठ–पुत्र युयज्ञ को स्वर्णादि के आभूषणों, विभिन्न रत्नों एवं अपने मामा से प्राप्त गजराज के दान के पश्चात् सीता जी की प्रेरणा से उनकी सखी तथा सुयज्ञ

की पत्नी को दान में अपना सुवर्णसूत्र, करधनी, विचित्र अंगद एवं सुन्दर केयूर प्रदान किया था।)

3. ''सा मया न्यासभूता तु गौतमस्य महात्मनः।
न्यस्ता बहूनि वर्षाणि तेन निर्यातिता चह।।26।।
ततस्तस्य परिज्ञाय महास्थैर्यं महामुनुः।।
ज्ञात्वा तपसि सिद्धिं च पत्न्यर्थं स्पर्शिता तदा।।27।।

वा0 रा0 उत्तर0 30.26–27

(मैंने (ब्रह्माजी) अपनी उस कन्या को धरोहर के रूप में महर्षि गौतम को सौंप दिया जो अनेक वर्षों तक उनके यहाँ (आश्रम में) रही। महामुनि गौतम के महान् इन्द्रियसंयम तथा तपस्या विषयक सिद्धि के कारण ब्रह्माजी ने उस कान्या को पुनः पत्नी के रूप में गौतम को ही लौटा दिया।)

4. ''नहि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेव प्रशस्यते।
पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते।।46।।

(''धर्म एवं अर्थ की सिद्धि अथवा प्राप्ति के लिए मद्यपान कदापि प्रशस्त (वाञ्छित् या अच्छा) नहीं है क्योंकि इससे धन, धर्म एवं काम तीनों का नाश होता है। सुग्रीव द्वारा मद्यान के अनौचित्य को प्रतिपादित करते किष्किन्धा के राजभवन में लक्ष्मण जी का वचन।)

5. ''भरतः कैकेयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति।।5।।
मती चैव सखा चैव रामो दशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः सनद्धा गंगानूपेऽत्र तिष्ठत।।6।।
तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गंगामन्वाश्रिता नदीम्।
बलयुक्ता नदीरसा मांसभूलफलाशनाः।।7।।

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।

संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत।।8।।

(गंगा के उस पार भरत के ससैन्य आने पर निषादराज गुह का अपने भाई–बन्धुओं से कथन– ''भाईयों.... भरत वन में श्री राम को मार डालने के उद्देश्य से जा रहा है। दशरथ कुमार श्रीराम मेरे स्वामी और सखा हैं। इस लिए तुम लोग सुसज्ज सेना के साथ गंगा जी के तट पर ठहरो। इस बीच तुम लोग मात्र (नावों पर रखा) कन्द मूल फल आदि खा कर ही रात व्यतीत करो। (हमारे पास की) पाँच सौ नावों में प्रत्येक नाव पर पाँच सौ कैवर्त–सैनिक युद्ध के लिए सन्नद्ध रहेगें।)

6. भागवत0 6.1.20; विष्णु0 1.15.126; ब्रह्माण्ड0 2.33.17।
7. स्कन्द0 3.3.30; पद्म पु0 (पाताल खण्ड) 36।

• • • •

– 11 –

प्रस्थान

प्रियजन–वियोग सदैव मर्मान्तक कष्ट प्रदान करता है। प्रभु श्री राम जैसे परमोदार, भक्तवत्सल एवं प्रजारञ्जक स्वामी के विछोह से उत्पन्न आत्मिक कष्ट का अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। उसक वास्तविक स्वरूप तथा मात्रा के प्रकटीकरण की सामर्थ्य मुझ अल्पज्ञ में नहीं है। अयोध्या में मेरे अनेक अभिन्न प्रियजन हो गये थे। रामानुज श्री लक्ष्मण का विश्वास तो मैं पहिले ही जीत चुका था। उर्मिला जैसी उदार हृदया दूसरी माँ के सान्निध्य ने मुझको अवधपुरी का अविच्छिन्न अंग बना दिया था। राजमाता कौसल्या एवं आदरणीया माँ सुमित्रा का वात्सल्य प्रेम मेरे जीवन की अमूल्य धरोहर बना रहेगा। राजकुमार भरत लाल, श्री शत्रुघ्नकुमार, उनकी पत्नियों क्रमशः देवी माण्डवी तथा महाभागा श्रुतकीर्ति का स्वाभाविक स्नेह मेरी अतिरिक्त बहुमूल्य 'कमाई' है। इसके अतिरिक्त अयोध्या में अनेक ऋषि–मुनियों, अमात्यों, सामान्यजनों का अहेतुक स्नेह एवं सौजन्य मेरे जीवन की बहुमूल्य उपलब्धियाँ बनी रहेगीं। अयोध्या में हम सभी वानर परम प्रसन्न थे। राजा, राजपरिवार से लेकर सामान्यजन के स्नेह, सौजन्य एवं सद्व्यवहार के मध्य हम आर्य संस्कृति के सार्वलौकिक महत्त्व के संस्कारों, लोकरञ्जक व्यवस्थाओं, मानवजीवन को यथा संभव विषाद–रहित बनाने के विभिन्न उपायों को आत्मसात् कर रहे थे कि सहसा हम पर वज्रपात हुआ। हमको सूचित किया गया कि प्रभु श्री राम ने अन्ततः भरे मन से अपने सगे सम्बन्धियों को विदा देने के पश्चात् हमारी विदाई का निर्णय ले ही लिया है।

भरतखण्ड के युद्धशास्त्रियों में 'दन्तयोधी' 'नरव्नयोधी', 'बाहु–योधी', 'अश्मयोधी' (पाषाण–योधी) आदि विभिन्न संबोधनों से

ख्यात् हम वानर अपनी शारीरिक–मानसिक चपलता ''चापल्यम्'' के लिए कुख्याति की सीमा तक सुख्यात् हैं। दूसरों का अनुकरण भी हमारा स्वाभाविक गुण हैं। लंकायुद्ध में शत्रुओं के परिघ, शूल, कृपाण एवं तीक्ष्णधार वाली गदाओं को छीनकर उन्हीं के प्रहार से उनका वध कर हम अपनी इस कला में निपुणता का परिचय दे चुके हैं। किन्तु यह सत्य है कि भावुकता जैसे जन्मजात स्वाभाविक गुण के आधिक्य से हम आजतक मुक्ति नहीं पा सके हैं। इसी लिए जब हमको अयोध्या से विदाई की राजाज्ञा सुनाई गई हम उस पर सहसा विश्वास नहीं कर सके थे। प्रभु श्री राम ने हमें विश्वास में लिए बिना यह निर्णय कैसे ले लिया है? इस सूचना पर हमको सहसा विश्वास ही नहीं हुआ।

अन्ततः अयोध्या से हम वानरों तथा राक्षसराज विभीषण की विदाई की वह दारुण घड़ी आ ही गई जिसकी कल्पना मात्र से ही हम अत्यन्त दुःखी हो उठते थे। ईक्ष्वाकुओं की भव्य एवं सुविशाल राजसभा–कक्ष में प्रभु श्री राम के सामने निकट ही प्रमुख वानरों के बैठने की व्यवस्था की गई थी। वानरराज सुग्रीव, मुझ युवराज अंगद, पवनपुत्र हनुमान, वयोवृद्ध गद्–गद, ऋक्षपति जाम्ववन्त, वानरप्रमुख केसरी, वानर महावीर शतबली, वानरप्रवीर विनत, वैद्याचार्य सुषेण, सेनापति नील, सेतुबन्ध के प्रमुख अभियन्ता नल, पूर्व सेनापति मैन्द मातुल द्विविद तथा इन्द्रजानु अग्रिम पंक्ति में आसीन हुए। कुमुद, गन्धमादन, पनस, तार, गवाक्ष, धूम्र, बलीमुख, प्रजंघ, सन्नादन, शरभ, रम्भ, ज्योतिमुख दरीमुख, सुरभि, आदि अन्य वानर महावीर हमारी पिछली पंक्ति में आसनस्थ थे। राक्षसराज विभीषण, उनके अमात्यगण–अनल, पनस, सम्पात्ति एवं प्रमति हमारे दाहिनी और पाँच अलग आसनों पर बैठे थे। राजसिंहासन पर प्रभु श्री राम आसीन थे। उनके पीछे तीनों राजकुमार मौन खड़े थे। महारानी सीता का आसन आश्चर्यजनक रूप से रिक्त था। राजपुरोहित महर्षि वसिष्ठ सहित अमात्य सर्व सामन्तगण अपने–अपने आसनों पर विराजमान थे।

बन्दिजनों के मंगलगान तथा राजपुरोहित के स्वस्तिवाचन के पश्चात् सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई।

सदैव प्रसन्न एवं प्रफुल्लित रहने वाले राघवेन्द्र श्री राम के मुख पर आश्चर्यजनक गम्भीरता को लक्ष्य कर सभासदगण भी स्वाभाविक रूप से गंभीर एवं मौन थे। कुछ क्षणों के उपरान्त श्री जानकी नाथ ने एक–एक कर हम वानरों को देखना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा लगता था मानो वह हमको पहली बार देख रहे हों। नेत्रों की भाषा पढ़ने में प्रवीण हम वानर अपने परम कृपालु स्वामी की मनोदशा को समझ पाने की सूझ–बूझखो चुके थे। हम वानरों ने विदाई का समाचार सुन गत लगभग सम्पूर्ण रात्रि को प्रभु श्री राम के निजी निवास राजवाटिका से घिरे वैदूर्यमणि जटित विशाल भवन के सभाकक्ष में महाराज सुग्रीव के साथ विचार–विमर्श में व्यतीत कर दिया था। अयोध्या से वापसी के लिए कोई तत्पर नहीं था किन्तु अपने स्वामी अयोध्यापति श्री राम के आदेश को अस्वीकार करने की भी स्थिति में भी कोई नहीं था। अब न जाने कमलनयन श्री सीतापति का दर्शन पुनः कब हो? इसी सोच में उनके साथ अन्तिम मिलन के क्षणों को आत्मसात् कर लेना चाहते थे हम सब।

कुछ क्षणों के पश्चात् कोसलाधीश श्रीराम ने संकेत मात्र से मुझ को तथा वायुपुत्र को अपने पास बुलाया। हम दोनों करबद्ध मुद्रा में एक साथ आगे बढ़े तथा उनके चरणों में जा गिरने वाले ही थे कि उन्होंने अपनी एक–एक बलिष्ठ बाँह में हमें लपेटते हुए अपनी ओर खींचकर अपने अंक में समेट लिया। आश्चर्य चकित सम्पूर्ण राजसभा ने इस अभूतपूर्व दृश्य का अवलोकन किया। हम दोनों को क्रमशः अपने दाँय–बायें खड़ा कर श्री लक्ष्मणाग्रज, वानरराज सुग्रीव को सम्बोधित कर बोले उठे, ''हे मेरे परम सुहृद् सुग्रीव! अंगद आपका प्रिय पुत्र तथा युवराज एवं हनुमान आपके परम विचारवान अमात्य हैं। हे हरीश्वर! मेरी हितसाधना में निरन्तर रत ये दोनों कपिश्रेष्ठ मेरे स्नेह, सम्मान एवं सत्कार के सर्वथा योग्य हैं।'' इतना कहते हुए

रघुकुलभूषण ने अपने गले का बहुमूल्य हार उतार कर अपने हाथों वायुपुत्र के गले में डाल दिया। तदूपरान्त उन्होंने अपनी भुजाओं में धारण किये रत्नजटित एवं स्वर्णादि खचित अंगदों को उतार कर मेरी बाँहों में बाँध दिया। इस सम्मान से अभिभूत हम दोनों स्वामी की वर्जना की चिन्ता किये बिना उनके चरणों को पकड़ कर सभाकक्ष में बिठाये गये आस्तरण पर बैठ गये। हम दोनों के नेत्रों से आँसुओं की अविरल धार बह निकली। वानरराज सुग्रीव सहित अन्य समस्त वानर यूथप भी आत्म निमंत्रण खो बैठे। वानरों के समवेत रुदन ने ईक्ष्वाकुओं की राजसभा में अकल्पनीय दृश्य उपस्थित कर दिया। बाद में मुझे पता चला कि राजसभा की मर्यादा की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध अमात्यगण सहित कुलगुरु वसिष्ठ जी की आँखें भी भर आई थीं। श्री रघुनाथ के तीनों अनुज भी साश्रु नयन हो उठे थे। राक्षसराज विभीषण तथा उनके अमात्यगण अपने उपरिवस्त्र से अपने आँसुओं को पोंछ रहे थे। सभाकक्ष में एक मात्र प्रभु श्री राम ही प्रकृतिस्थ एवं शान्त दिखलाई पड़ रहे थे। धैर्य के महासिन्धु इक्ष्वाकु रत्न जानकीवल्लभ ने स्वयं को सायास संयमित कर रखा था।

सहसा लोकभर्त्ता श्री राघवेन्द्र का गुरु–गम्भीर स्वर सभा–कक्ष में गूँज उठा। ''मित्रवर सुग्रीव! ऋक्षपति जाम्ववान!! वैद्य शिरोमणि सुषेण!!! सखा विभीषण! क्या आप सब भूल गये कि लंका के महासमर में अपने प्राण प्रिय लक्ष्मण के प्राणों पर आये संकट को देख जब कभी मैं विचलितहो उठता था आप सब मिलकर मुझको धैर्य बँधाया करते थे?..... आप सबने मेरे प्रति सच्चे मन से मैत्री–धर्म का निर्वाह किया है। वन में मात्र निषंग–धनुष का साथ ले वन–वन भटकते वनवासी सानुज राम को आप सबने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर जो अकल्पनीय सहायता दी है उसके प्रति राम यावज्जीवन आप सबका आभारी रहेगा।... मैत्रीधर्म में निष्णात् आप सबसे आपका सखा कौसल्यापुत्र यह पूर्ण आशा करता है कि आप सब अपने राज्यों को वापस लौट पूरी लगन एवं निष्ठा के साथ राजधर्म का अनुपालन

करेगें।... यह रघुवंशी राम सत्य एवं धर्म को साक्षी मान सूर्यवंशियों की इस ऐतिहासिक राजसभा में आप सबको पूर्णरूपेण आश्वस्त करता है कि जब तक सूर्य, चन्द्र सहित इस धरा पर मानव जाति का अस्तित्व रहेगा, ईक्ष्वाकुवंशी राम तथा आप सबकी आदर्श मैत्री का स्मरण सम्मानपूर्वक किया जाता रहेगा। आप सबके राज्य एवं प्रजा के महत्तर हित को ध्यान में रख कर ही आपका राम भरे हृदय से आपको वापस भेज रहा है। ...अयोध्यापति, दशरथनन्दन, राम आप सबको वचन देता है जब कभी आप स्मरण करेगें अयोध्या के सम्पूर्ण साधनों के साथ अयोध्या नाथ आपके साथ आ खड़ा होगा।... जहाँ तक आप सबका प्रश्न है राम का आवास तथा उसका हृदय–द्वार जब कभी आप यहाँ आना चाहें आपके लिए सदैव खुला रहेगा।.... अब आप से प्रार्थना है कि आप सब धैर्य धारण कर आज की कार्यवाही में भाग लें।''

प्रभु श्री राम की अमृतवाणी ने हम सब की मनोदशा को चमत्कारिक रूप से शान्त कर दिया। अब हमारे स्वामी श्री राघवेन्द्र ने अलग–अलग वानर वीरों को उनके पिता श्री के नाम सहित उनका नाम लेकर तथा लंका युद्ध में उनके शौर्यप्रदानि का अलग अलग उल्लेख करते हुए अपने पास बुला कर बहुमूल्य रत्नादि के उपहार के पश्चात् अपना अंक दे उपकृत करना प्रारम्भ कर दिया। सम्पूर्ण राजसभा आश्चर्य चकित हो यह दृश्य देख रही थी। समान रूपाकृति एवं वस्त्रविन्यास में भी प्रभु द्वारा एक–एक वानर वीर की सफल पहचान उनको किसी चमत्कार से कम नहीं लग रहा था। किन्तु हम वानरों को इससे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। हम लंका की युद्ध भूमि पर करुणासागर अपने सर्वोच्च सेनापति श्री राम की अतुलनीय उदारता का प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके थे। प्रति दिन युद्ध के अन्त में प्रभु अपने अनुज श्री लक्ष्मण, महाराज विभीषण एवं कपीश्वर श्री सुग्रीव के साथ युद्धभूमि में आहत योद्धाओं के चिकित्सा–शिविर में पहुँच जाया करते थे। शिविर में उपचारार्थ आए प्रत्येक वानर–योद्धा

के निकट पहुँच उसके सिर पर अपना स्नेहिल हाथ रख न केवल उसकी कुशल–क्षेम पूछते वरन् उसके परिजनों के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करते थे। अपने सर्वोच्च स्वामी को अपने निकट पा वानर वीरों का न केवल मनोबल बढ़ता वरन् शीघ्र स्वस्थ हो अपने स्वामी के लिए प्राणपण से युद्ध करने की उनकी इच्छा भी बलवती हो उठती थी।

वानर–वीरों को उपहार प्रदान करते समय उनके कर्त्तृत्व का बार–बार उल्लेख करते–करते प्रभु श्री राम भी अन्ततः भावुक हो ही उठे। अपनी राजसभा में उपस्थित अमात्यों को सम्बोधित करते हुए खशरि श्री राम ने भरे कंठ से कहा कि ''महाराज सुग्रीव तथा उनके वानर रणबाँकुरों की सहायता के बिना आपका राम न तो जानकी की खोज कर पाता, न चार सौ योजन विस्तीर्ण सागर पर सेतुबन्धन हो पाता और न ही हो पाता त्रैलोक्य कंटक मायावी रावण तथा उसके समर्थकों का समूल नाश।'' कुछ क्षणों तक रुक कर वह पुनः कह उठे थे, ''वानर महावीरों ने ईक्ष्वाकुवंशीय दाशरथि पर जो उपकार किये हैं, उससे उऋण होने के लिए राम का सौ बार जन्म भी पर्याप्त नहीं होगा।''

सिंहासनारुढ़ श्री कौसल्याननदन के चरणों में अगल–बगल सभाकक्ष में भूमि पर बिछे आस्तरण पर बैठे पवनपुत्र तथा मैं अपने आँसुओं पर नियन्त्रण करते हुए वहाँ के एक–एक पल की घटना को अपने स्मृतिपटल पर अंकित कर रहे थे। समस्त वानर मुख्यों को अपने अंक में समेट उपहार देने के पश्चात् राज राजेश्वर श्री राम ने अन्त में कपिराज को पुनः अपने पास बुलाया। अब तक पाषाण की मूर्ति की भाँति बैठे पितृत्य अपना नाम सुनते ही यन्त्रवत् उठकर खड़े हो गये। लड़खड़ाते कदमों से वह किसी प्रकार स्वयं को सम्भालते हुए एक दो पग ही चल पाये थे कि सहसा लड़खड़ा कर धरती पर गिरने को हुए। उसी समय मानव मनोविज्ञान के सर्वज्ञाता हमारे अराध्य प्रभु ने लपक कर उनको अपनी बाँहों में जकड़ लिया था। हम

वानरों सहित सम्पूर्ण राजसभा ने आश्चर्य–विस्फारित नेत्रों से उस अद्‌भुत दृश्य का अवलोकन किया। वानरराज एवं अवधेश, भक्त एवं भगवान, अनुगत एवं उसके स्वामी परस्पर लिपटे अश्रुपात कर रहे थे। एक ओर भक्त अपने भगवान से विछड़ने का संताप अश्रुओं के रूप में निसृत कर रहा था तो दूसरी ओर भगवान अपने भक्त के विछोह का कष्ट सहन कर सकने में असमर्थ हो अपने निरन्तर अश्रुपात से अपनी सांसारिक विवशता का प्रकटीकरण कर रहा था। ईक्ष्वाकुओं की ऐतिहासिक राजसभा भक्त एवं भगवान के इस अद्‌भुत तथा अपूर्व–मिलन का साक्षी बन रही थी।

स्वामी एवं सेवक, भगवान एवं भक्त दोनों को प्रकृतिस्थ होने में कुछ क्षण लग ही गये। अन्त में कृपानिधान सीतापति के गम्भीर स्वर से सभाकक्ष की नीरवता भंग हुई। हरीश्वर के दोनों हाथों को अपने हाथों में लिए उनके नेत्रों में झाँकते हुए रघुकुल केतन प्रभु श्री राम कह रहे थे, ''मित्रवर सुग्रीव! यदि मैं ऐसा कहूँ कि युवराज अंगद एवं महाप्रास हनुमान मुझको प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वैद्याचार्य सुषेण, महामति नल, वीरवर तार, महावीर कुमुद, दुर्द्धर्ष सेनापति नील, वीरवर् शतबली, महाकपि मैन्द, परमवीर द्विविद, वीरशिरोमणि गज, समतुल्य गवाक्ष, महाबली गवय, वीरप्रवर शरभ, नीतिनिपुण जाम्बवन्त आदि पर मेरी प्रीति एवं प्रतीति किसी भी प्रकार से कम है। मैं भला यह कैसे विस्मरण कर सकता हूँ कि प्रचण्ड–पराक्रम विनत, वीरशिरोमणि केसरी, शूरवर शुम्भ, प्रचण्डयोधी सुपाटल, वानर श्रेष्ठ शंखचूड़ आदि हजारों वानर नायकों तथा करोड़ों योद्धाओं ने मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था। हे मित्रप्रबर! आप इन पर कभी अप्रसन्न न होना।''

हम वानरों की औपचारिक विदाई के पश्चात् परमकृपालु प्रभु श्री राम का ध्यान राक्षसराज विभीषण की ओर गया। धर्मप्राण विभीषण के विषय में अपनी राजसभा को अवगत कराते हुए रघुनाथ

जी ने कहा, ''अपने भव्य आकार तथा सौंदर्य से लोगों का मन मोह लेने वाला पंकज (कमल) कीचड़ में ही खिलता है। रावणानुज होते हुए भी धर्ममूर्ति मित्रवर् विभीषण ने असत्य, अन्याय, अनीति, अधर्म एवं पाप के मूर्तिमान स्वरूप अग्रज का त्याग करते हुए सत्य, न्याय, नीति, धर्म एवं पुण्य के पक्षधर आपके राम का साथ दिया। इनके सहयेाग के कारण ही लोकपीड़क रावण एवं उसके आततायी अनुयायियों के गोपनीय रहस्य हमारे लिए अज्ञात नहीं रह सके। इन्हीं के आपके राम के प्रति अखण्डित विश्वास के कारण त्रैलोक्य–विजेता, ब्रह्मा जी के वरद् शिष्य रावण तथा उसके दिव्यास्त्रधारी मायावी सहायकों के विरुद्ध होने वाला महासगर मात्र दस दिनों में निःशेष हो गया था। रावण की लंका में धर्म एवं न्याय की पुनर्स्थापना के लिए वचनबद्ध रामसखा विभीषण का अयोध्या का राजवंश सदैव आभारी रहेगा।'' तदूपरान्त राक्षसराज एवं उनके मंत्रियों को गले लगा अजानुबाहु श्री रामचन्द्र ने बहुमूल्य रत्नादि की भेंट दे उनकी अभ्यर्थना किया।

इधर राजसभा में हमारी विदाई की औपचारिकता पूर्ण की जा रही थी उधर राजमाता महादेवी कौसल्या के प्रासाद में वानर स्त्रियों की विदाई का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था। अब तक महारानी सीतामाता की राजसभा से अनुपस्थिति का रहस्य उजागर हो चुका था। प्रमुख राजमाता के कक्ष में राजमाता कैकेयी, माता सुमित्रा एवं महारानी सीता सहित अन्य बहूरानियाँ उपस्थित थीं। तीनों राज–माताओं तथा माता जानकी सहित देवी माण्डवी, देवी उर्मिला एवं देवी श्रुतिकीर्ति द्वारा माता तारा सहित अन्य वानर स्त्रियों को बहुमूल्य परिधानों, हीरा, मोती, मुक्ता, मणि जटित दिव्य आभूषणों तथा प्रचुर रत्नों से लाद दिया गया। वानर स्त्रियाँ अयोध्या के राजपरिवार की महिलाओं से यथायोग्य माता, दीदी, बहन, काकी, पितृव्या, सखी एवं बहू आदि विभिन्न सम्बोधनों का अधिकार पा अति प्रसन्न थीं।'

अयोध्या से प्रस्थान के पूर्व वानरराज सुग्रीव के साथ मैं, पवनपुत्र हनुमान, वैद्यराज सुषेण, ऋक्षपति जाम्बवन्त तथा वानरसेनापति नील राक्षसराज विभीषण से मिलने गये। लंकापति अपने चारों मंत्रियों के साथ लंका के लिए प्रस्थान हेतु अपने अयोध्या स्थिति आवास से निकलने वाले ही थे कि हम–पाँचों व्यक्ति वहाँ जा पहुँचे। हमें देखते ही लंकापति का मुख–मण्डल प्रसन्नता से चमक उठा। एक–एक कर हम गले मिले। विभषण ने पितृव्य सुग्रीव को श्री राम के सभी भाईयों के मध्य परस्पर स्नेह, विश्वास एवं त्याग भावना की भूरि–भूरि प्रशसां करते हुए बताया कि अयोध्या प्रवास ने उनको यह सीख प्रदान की है कि भ्रातृप्रेम तथा परिवार की प्रतिष्ठा के समक्ष तीनों लोकों का राजपद भी सर्वथा त्याज्य है। पितृव्य ने उनकी बात का समर्थन करते हुए कहा था कि उनकी भी हार्दिक इच्छा है कि 'पुत्र अंगद' को किष्किन्धा का राज्य सौंपने के पश्चात वह वानप्रस्थी हो जायँ तथा अपने बड़े भाई के प्रति कृत जघन्य अपराध के लिए प्रायश्चित स्वरूप कठोर तपस्या का आश्रय लें। अपने अग्रजगण रावण तथा कुम्भकर्ण का उल्लेख करते हुए विभीषण ने भी हमारे समक्ष स्वीकार किया रावण की चारित्रिक दुर्बलताओं के परिणामस्वरूप आज लंका वीर–विहीन हो गई है। अन्त में रावणानुज ने इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया कि धर्मधुरीण राघवेन्द्र की सहायता के माध यम से लोकपीड़क रावण के अत्याचार से संत्रस्त मानवता का संरक्षण कर उन्होंने कुछ अंशों तक अपने पाप कर्मों का प्रायश्चित कर लिया है।

पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना यहाँ कहना चाहूँगा कि राक्षसराज विभीषण की बातें सुनते ही उनसे सम्बन्धित अनेक घटनाक्रमों के चित्र मेरे मानस पटल पर चित्रित हो उठे। विभीषण का दर्शन मैंने पहली बार तब किया था, जब वह अपने अग्रज का पक्ष त्याग कर अपने अनल, तपस, सम्पात्ति तथा प्रमति नामक चार आमात्यों के साथ रघुबर की शरण में आये थे। आकाश में स्थित मेरुपर्वत की

भाँति विशाल आकार युक्त विभीषण के भव्य शरीर से मानों विद्युत तरंगे निकल रही थीं। उन्होंने तथा उनके साथ आये चारों राक्षसों ने भव्यवस्त्राभूषण के साथ तनुत्राण (कवच) पहन कर विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्र धारण कर रखा था। आश्चर्य चकित हो शत्रुभाव से हमवानरों को अपने पर प्रहार के लिए उद्यत देख विभीषण ने आत्म–परिचय देते हुए तथा शस्त्रास्त्र का त्याग कर कहा था ''अपने स्त्री–पुत्रों को लंका में ही छोड़ मैं श्री रघुनाथ की शरण में आया हूँ।'' अग्रज द्वारा अपमानित एवं राज्य–निष्कासित विभीषण की बातें सुनते ही मुझको सहसा अपने पिता द्वारा राज्य से निर्वासित पितृत्व द्वारा अपने अग्रज के वध का निमित्त बनने वाली घटना का स्मरण हो आया। विभीषण के प्रति घृणा की एक लहर सहसा मेरे मन–मस्तिष्क को स्पर्श कर गई। मुझे लगा प्रभु श्री राम के साथ प्रथम भेंट में पितृत्य सुग्रीव ने भी अपने अग्रज पर इसी से मिलते–जुलते आरोप लगायें होगें। प्रभु के समक्ष वानराधिपति सुग्रीव ने जब शत्रु का अनुज होने का तर्क देते हुए विभीषण को मंत्रियों सहित बन्दी बना लेने अथवा मार डालने की सलाह दिया तब मेरे तप्त हृदय को किञ्चित् शीतल बयार के स्पर्श का अनुभव हुआ। किन्तु क्षण भर बाद ही वानरेन्द्र के चरित्र के दोहरेपन का अनुभव कर मुझे उन पर रोष हो आया। यदि भ्रात्तृदोही विभीषण दण्डित करने योग्य है तो राजा सुग्रीव क्षमा के पात्र कैसे हैं? मुझे पूर्ण विश्वास है भविष्य में इतिहास वानरराज सुग्रीव तथा विभीषण के चरित्र एवं व्यक्तित्व की बखिया अवश्य उधाड़ेगा।

मेरी मानसिक ऊहा–पोह की स्थिति ने विभीषण की शरणगति के विषय में व्यक्त मेरे विचारों को प्रभवित किया था। अनिश्चय की स्थिति में मैं कोई स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं कर सका था। विभीषण एवं उनके राक्षस अमात्यों की गतिविधियों पर सूक्ष्म दृष्टि रखने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति कर उनके सुविचारित विचारों को सुनने के पश्चात् विभीषण एवं उसके साथियों को शरण देने का निर्णय लेने

का सुझाव मैं दे बैठा था। युद्ध की आपातकालीन स्थिति में बाद में विचार करने पर यह सुझाव स्वयं मुझको ही अव्यवहारिक लगा था। तत्कालीन स्थिति में जो भी निर्णय लेना था वह उसी समय लेना श्रेयस्कर था। सर्वशास्त्र विशारद महामति हनुमान ने मेरे सुझाव की अव्यवहारिकता को संभवतः लक्ष्य करते हुए महाराज सुग्रीव के राज्यप्राप्ति का सामयिक उदाहरण दे विभीषण की स्वीकार्यता का औचित्य प्रतिपादित किया था। उनके तर्कों से मेरे मन के अन्तर्द्वद्व को विराम मिला। यही कारण है कि अपने अमात्यों की प्रतिक्रिया के पश्चात् जब प्रभु श्री राम ने यह घोषणा किया कि, अञ्जलिबद्ध शरण में आये घोर शत्रु को चाहे वह स्वयं रावण ही क्यों न हो शरण तथा अभयदान के लिए वह वचनबद्ध हैं'' तब मुझको सन्तोष का अनुभव हुआ था।

लंकापति विभीषण के साथ कुछ दिनों के सान्निध्य में यह भली–भाँति स्पष्ट हो गया कि मानव मनोविज्ञान के अद्भुत ज्ञाता रघुकुल तिलक ने विभीषण को स्वीकार कर नितान्त उचित निर्णय लिया था। रावण का अनुज तथा राक्षसों की अमात्य परिषद का प्रमुख सदस्य होने के कारण लंका के गुप्त रहस्यों, राक्षसों की सामारिक दुर्बलताओं से भली–भाँति परिचित था– विभीषण। अपनी अखण्डित निष्ठा तथा बुद्धि की प्रखरता के कारण थोड़े ही समय में वह सीतापति श्री राम का विश्वस्त सलाहकार बन गया। विभीषण की सलाह पर ही श्री राम ने समुद्रोंपासन्न के व्याज से उसके सन्तरण की योजना बनाई थी। हमारे स्वामी ने वाननराज सुग्रीव, जाम्वन्त जी तथा रावणानुज की सलाह पर मुझको दौत्यकर्म के लिये रावण की राजसभा में भेजने का निर्णय लिया था। विभीषण के कारण रामसेना की गुत्पचरी करने आये रावण के शुक, सारन एवं शार्दूल नामक गुप्तचरों की पहिचान हुई और वे पकड़ गये थे। कुम्भकर्ण, राक्षस सेनापति प्रहस्त आदि मायावी राक्षसों के विषय में इन्होंने ही महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दी थीं। इन्द्रजित द्वारा माया–सीता के कपट वध का

पूर्ण रहस्य प्रभु श्री राम सहित सम्पूर्ण वानर सेना को इसी महाभाग द्वारा उद्घाटित किया गया। विभीषण के द्वारा प्राप्त सूचनाओं के कारण ही हम रावण तथा इन्द्रजित के आसुरी यज्ञ में सफलता पूर्वक बिघ्न उत्पन्न कर सके। रावण सहोदर विभीषण युद्ध कला में भी प्रवीण थे। लंका के भीषण महासंग्राम में विभीषण ने अपने युद्ध–कौशल का परिचय देते हुए इन्द्रजित के पर्वण, पूतन, जम्भ, खर, प्रसज, असज एवं प्रथस आदि विश्वसनीय सहायकों का अकेले ही वध किया था। अदृश्य होकर युद्ध कर रहे मायावी इन्द्रजित की अदृश्यता का नाश इन्होंने यक्षराज कुबेर द्वारा प्रदत्त औषधियुक्त जल की बूँदों को वानरों के नेत्रों में डाल, कर किया था। लंकापति रावण के रथाश्वों का वध करने वाले विभीषण ने उसके वध के रहस्य से प्रभु श्री राम को अवगत कराया था। इनकी पत्नी सरमा (पद्मपुराण के अनुसार महाभूति) ने अशोकवाटिका में माता सीता का विश्वास जीत उनकी ''प्रणयिनी–सखी'' कहलाने का गौरव प्राप्त किया है। रावण तथा कुम्भकर्ण के समूलोच्छेद के कारण लंका में 'विभीषणवंश' के संस्थापक अथवा मूलपुरुष होने का श्रेय इन्हीं को मिलना है।

महाराज विभीषण से भेंट के पश्चात् वानर राज सुग्रीव ने मुझको तथा मारुति को लेकर राजमाताओं से भेंट करने की इच्छा प्रकट कीथी। उनके इच्छा की प्रतिक्रिया स्वरूप राजमाता कौसल्या के कक्ष में उनके सहित राजकुमार भरत की माता कैकेयी तथा उनसे बड़ी भैया लक्ष्मण की माता सुमित्रा भी उपस्थित थीं। राजा सुग्रीव सहित हमारे साष्टांग प्रणाम के उत्तर में तीनों माताओं ने हमारे सिरों पर हाथ रख तथा उनको सूंघ कर हमको हार्दिक आशीष दिया था। राजा सुग्रीव ने राजमाताओं से बार–बार स्नेहाशीष की कामना करते हुए उनसे कहा था कि वह बड़भागी हैं जो प्रभु श्री राम तथा श्री लक्ष्मण का स्नेहिल सरव्य उनको मिला है। उनको प्रभु श्री राम, राजकुमार भरत, भैया लक्ष्मण तथ भैया शत्रुघ्न के रूप में जहाँ चार–चार भाई मिले हैं वही महोदवी कौसल्या, देवी सुमित्रा और देवी कैकेयी के रूप में तीन–तीन मातायें भी मिल गई हैं।

राघवेन्द्र श्री राम की इच्छानुसार महाराज सुग्रीव के किष्किन्धा में, लंका–युद्ध में उल्लेखीय शौर्य प्रदर्शन करने वाले वानर वीरों को सम्मानित करने की योजना बनाई गई थी। इसके साथ ही वहाँ वीरगति प्राप्त वानरों के अवयस्क बच्चों तथा निराश्रित परिजनों के प्रतिष्ठापूर्वक जीवन–यापन केलिए राजकीय राजकोष से बृत्तिका निर्धारण होना था। वानरराज ने उस कार्यक्रम में सम्मिलित होने की तिथि का निर्धारण पन्द्रह दिनों के पश्चात् किया। तब तक के लिए वानर यूथपों को सीधे उनके राज्य में पहुँचने का निर्देश दिया गया था।

अयोध्या में हम वानर स्त्री–पुरुषों ने यह भलीभाँति हृदयंगम कर लिया कि पारिवारिक स्नेह, सामञ्जस्य, तथा परस्पर अगाध विश्वास विश्व के समस्त भौतिक सुखों से हजार गुना बढ़ कर है। हमने वहीं यह जाना कि परस्पर विश्वास तथा कुलपरम्परा के प्रति हार्दिक लगाव के भाव ने अयोध्या के राज्य की स्थिति पाद–कन्दुक सी कर दी थी। भगवान श्री राम के त्याग से हम वानर पहिले ही पूर्ण परिचित हो चुके थे। राजसिंहासन पर आरुढ़ होने की पूर्व वेला में मात्र पिता श्री की इच्छा को जान कर ही उन्होंने उसका परित्याग इस प्रकार बिना किसी दुर्भाव से कर दिया था मानो उनके लिए राजवंश का सिंहासन सर्वथा अप्रासंगिक हो। विदेहराज की दुलारी दुहिता ने हार्दिक प्रसन्नता के साथ पति के सान्निध्य–सुख को सर्वोपरि मान स्वेच्छया राजभवन की सुख– सुविधाओं का परित्याग कर दिया। श्री राम के राज्यारोहण को धर्मानुकूल, न्यायोचित एवं सर्वसम्मत निर्णय मानने के कारण अपने पिता श्री महाराज दशरथ एवं बड़े भाई भरत के प्रति कटु भाव रखते हुए भी घटना के समय अयोध्या में उपस्थित एक मात्र रामानुज श्री लक्ष्मण ने अपने अग्रज के अनुकरण को श्रेयस्कर मान राजकीय वैभव ही नहीं वरन् अपनी नवविवाहिता पत्नी तक को छोड़ देने में एक क्षण का बिलम्ब नहीं किया। यही नहीं विपत्ति की इस निर्णायक घड़ी में अपने कष्टों को

भुला माता सुमित्रा एवं देवी उर्मिला ने हँसते–हँसते अपने प्रियतम को अग्रज–अग्रजा की सेवा में विदा किया था। महान अग्रज के स्वनामधन्य अनुज राजकुमार भरत ने राजवंश की परम्परा के उल्लंघन तथा भाईयों में फूट डालने के अपराध में अपनी माता का परित्याग कर चौदह वर्षों तक अपने ज्येष्ठ की पादुका को ही पूजनीय मान एक परमहंस की भाँति राजधर्म का पालन कर अपने साथ अपने कुल को भी मानव इतिहास में अमरत्व प्रदान कर दिया। लंकाविजय के पश्चात् वापसी पर अपने आदरणीय अग्रज द्वारा प्रस्तावित 'युवराज' पद को अत्यन्त नम्रतापूर्वक अस्वीकार भैया लक्ष्मण ने एक बार पुनः प्रमाणित कर दिया कि रघुकुल के प्रत्येक सदस्य में व्यक्तिगत सम्बन्धों की महनीयता के समक्ष तीनों लोकों की भौतिक समृद्धि का स्थान अत्यन्त गौण है। इस त्याग–भावना ने वानर राज्य के नर–नारियों में त्याग एवं परस्पर विश्वास की अटूट भावना को जन्म दिया है। हमने मन ही मन यह दृढ़संकल्प लिया है कि सम्पूर्ण वानर जाति को अपना व्यक्तिगत परिवार मान उसके सभी सदस्यों के सुख, कल्याण एवं भौतिक–आत्मिक सन्तोष के प्रति हम सभी सदैव प्रयासरत रहेगें।

• • • •

– 12 –
प्रशस्ति

हम वानरों की अयोध्या से वापसी के पश्चात् सम्पूर्ण वानर–राज्य का वातावरण राममय हो गया। वानर–राजनगरी किष्किन्धा तो मानों दूसरी अवधपुरी बन गई। राघवेन्द्र श्री राम के अहर्निशि बारम्बार जयघोष की प्रतिध्वनियाँ रह–रह कर हमारे परिवेश को निनादित करने लगीं। स्यात् ही कोई वानर परिवार अथवा घर ऐसा रह गया जो श्री राम के नाम तथा चित्रांकन से अछूता रह गया हो। वानर चित्रकारों ने अपनी–अपनी इच्छा तथा कल्पना के अनुकूल प्रभु श्री राम, युवराज भरत, भैया श्री लक्ष्मण, तथा सेनापति राजकुमार शत्रुघ्न, महारानी सीता, उनकी बहिनों तथा राजमाताओं के भव्य चित्रों को विस्तृत पटल पर उकेर चत्वरों, सार्वजनिक स्थानों तथा उपासनागृहों के पास स्थापित कराया। 'श्री राम–दरबार' जिसमें माता जानकी सहित अवधेश श्री राम अपने भाईयों तथा वीरवर हनुमान के साथ चित्रित थे का सुविशाल चित्रपट वानर राजसभा में स्थापित किया गया। इन सभी चित्रों में लोकप्रियता की दृष्टि से वनवासी वेषधारी भ्रातृयुगल प्रभु श्री राम तथा भैया लक्ष्मण के धनुर्धर स्वरूप वाले चित्र सर्वाधिक प्रिय थे। स्वभाव से अति चञ्चल, अपनी इच्छानुसार कार्य एवं आचरण को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले स्वतंत्रताप्रिय वानरों के स्वभाव में आया चमत्कारी परिवर्तन अकल्पनीय था। इस अश्रुतपूर्व सांस्कृतिक बदलाव को देख कर कभी–कभी मैं स्वयं सोचने को विवश हो जाता कि जिस व्यक्ति का हमारे कुल, हमारे आचार–विचार, हमारे सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से पूर्व में कभी दूर–दूर का सम्बन्ध न रहा हो, दूरस्थ अयोध्याराज से वनवासी के रूप में निष्कासित वह मानव राजकुमार (श्रीराम) अल्पावधि में ही

हमारा कुलपूज्य, हमारा आदर्श, हमारा विश्वास– हमारा सर्वस्व किस प्रकार बन बैठा? कुछ ही दिनों पश्चात् अयोध्या से राज–राजेश्वर श्री राम द्वारा भेजे गये चित्रकारों के एक समूह का आगमन हुआ। उनको निर्देश था कि वानरेन्द्र की इच्छानुसार वानर राजनगरी किष्किन्धा, प्रस्रवणागिरि एवं विध्यपृष्ठ के अन्य राज्यों में दीवालों तथा शिलाओं की 'वीथिकाओं' पर प्रभु श्री राम के चरित से सम्बन्धित घटनाओं को चित्रांकित किया जाय। चित्रकारों के समूह के नायक से पता चला कि ऐसे ही विभिन्न दल लंका, दण्डकारण्य तथा राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में भेजे गये हैं। अयोध्या के सिद्धहस्त चित्रकारों द्वारा वनाये गये चित्र सचमुच अपूर्व थे।[1]

किसी भी राष्ट्र, क्षेत्र अथवा समाज विशेष में हुई सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक क्रान्ति अथवा उल्लेखनीय परिवर्तन की सूचना राष्ट्र, समाज अथवा क्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चतुर्दिक बहुश्रुत अथवा विस्तारित हो जाती हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमको किष्किन्धा में देखने को मिला। अतीत के अनुभवों को त्याज्य मानने वाले, भविष्य की चिन्ता से सर्वथा दूर रहने वाले वर्तमानभोगी वानरों तथा उच्छृंखल वानर–बच्चों और किशोरों की प्रतिक्रिया से भयभीत तापसकुमार, ब्रह्मचारी, अन्तेवासी, उपाध्याय, आचार्य एवं आश्रमों के जो कुलपति वानर राजनगरी में आने में संकोच करते थे, हमारे नये परिवर्तन से अनुप्राणित हो किष्किन्धापुरी को सहसा गमनीय मानने लगे। किष्किन्धा पुरी को अपने शीतल जल से अनवरत सिञ्चित् करने वाली तुंगवेणी अथवा तुंगभद्रा सहसा उनके लिए गंगा, यमुना, सरयू, क्षिप्रा (नर्मदा) अथवा गोदावरी की भाँति अत्यन्त पावन एवं जगतोद्धारिणी बन बैठी। भगवान् विरुपाक्ष (शिव) का मन्दिर सहसा उनका पावन तीर्थ बन उठा तथा श्री आशुतोष बन बैठे उनके– 'परमेश्वर'– 'महादेव'। किष्किन्धा के सामान्य वानरों तक के घरों से त्रिसन्ध्या, हवन एवं वेदमंत्रों के गन्ध तथा स्वर उच्चारित होने लगे। स्थान–स्थान पर धार्मिक–पौराणिक–

नैतिक उपदेशों की ध्वनियाँ गुञ्जायमान हो उठीं। धनैषणा, लोभ, मोह, क्रोध तथा व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव पुरजनों के मन के अथाह सागर में निमज्जित होने लगे। मन की आन्तरिक जड़ता तथा स्वार्थ के बन्धनों के टूटते ही हमोर मन में परस्पर मैत्री, करुणा, उदारता, त्याग, बंधुत्व तथ परस्पर सौहार्द्र के नये भाव दृढ़तर होते गये। वानर समाज में सामाजिक स्तर पर उच्चता तथा निम्नता का कोई भेद–भाव पहिले से ही नहीं रहा है। वानर स्त्रियों के प्रति भी हमारे समाज का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार रहा है। हमारे लिए पुनर्विवाहिता विधवा प्रथम परिणीता की भाँति ही आदरणीया है। आर्यसमाज में विधवा को हीन मानने की भावना के लिए अयोध्या के राजपरिवार में कोई स्थान नहीं था। विधवा होने के पश्चात् भी अयोध्या की तीनों राजमाताओं को अकूत सम्मान प्राप्त था। उनकी स्नेहिल तथा गरिमामयी उपस्थिति के बिना राजपरिवार में किसी मांगलिक कार्य की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। अपने अवध–प्रवास के समय हम वानर स्त्री–पुरुषों को राजपरिवार के आप्तगुणों तथा उच्च संस्कारों को निकट से आत्मसात् करने का अवसर मिला।

किष्किन्धा की वानर–प्रजा में वानरराज सुग्रीव की पूर्व–छवि एक धैर्यहीन व्यक्ति तथा आशुकोपी व्यक्ति की थी– एक ऐसे राजा की जो बात–बात में राजाज्ञा के पालन न होने की दशा में 'प्राण–हरण' की धमकी देने का अभ्यस्त था। अयोध्या से वापसी के पश्चात् हम वानरों ने उनके स्वभाव एवं आचरण में आमूल परिवर्तन स्पष्ट रूपेण लक्ष्य किया। मूर्द्धाभिषिक्त राजा की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र को ही राजपद प्रदान करने की अपनी कुलपरम्परा को विस्मृत कर राज्य–प्राप्ति के लोभ में प्रभु श्री राम को अपने यशस्वी अग्रज के विरुद्ध असत्य, भ्रान्त एवं अतिरंजित सूचनाओं को प्रदान कर उनके हाथों अपने भाई का वध कराने वाले, वानर राज सुग्रीव का स्वभाव सर्वथा परिवर्तित हो चुका था। अपने अग्रज के वध का अपराध–बोध उन पर इतना अधिक प्रभावी हो चुका था कि वह बात–बात पर अपने परमस्नेही

अग्रज की अपने प्रति सदायता का स्मरण कर रो पड़ते थे। उनके स्वभाव की वानर–सुलभ चञ्चलता का सर्वथा लोप हो चुका था। अब वह धैर्य, गाम्भीर्य एवं मृदुभाषिता की साक्षात् प्रतिमूर्ति बन चुके थे। वानरराज के ह्रदयपरिवर्तन का स्वागत वानर–अमात्यों तथा प्रजाजन ने उनके प्रति पूर्णसमर्पण की भावना का प्रदर्शन कर किया।

अयोध्यापति प्रभु श्री राम वानरराज के सर्वस्व थे और उनके राज्यसंचालन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग था प्रजारञ्जन। अपने दो मास के अयोध्या–प्रवास में वानरराज ने राजसभा के मानद सदस्य क रूप में राघवेन्द्र के राज्यसंचालन की पद्धति का निकट से अवलोकन किया। कपीश्वर सहित हम सभी वानरों ने अयोध्या में प्रभु श्रीराम तथा उनके विमातापुत्रों के मध्य अद्‌भुत भ्रातृप्रेम, राजमाताओं का राजवधूओं तथा राजपुत्रों के प्रति अकल्पनीय वात्सल्य, राजा, राजपरिवार के सदस्यों तथा राजपदाधिकारियों के स्वाभाविक प्रजानुरञ्जन का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। सच तो यह है कि राज्य, पद, सुख, समृद्धि, इन्द्रियलिप्सा युक्त बहुसंख्यक मानव जगत के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की अयोध्या के सामान्य जन का जीवन भी नितान्त अनुकरणीय है। वानरराज्य को लौट कपिप्रवर श्री सुग्रीव ने अयोध्या की राजा तथा प्रजा के जीवन दर्शन के अनुकरण को अपने जीवन का एक मात्र उद्देश्य घोषित किया।

अवधपुरी से वापसी के पश्चात् किष्किन्धा की राजसभा में आहूत पहली बैठक में ही महाराज सुग्रीव ने घोषणा की थी, कि उनके प्रजारञ्जन कार्यों के अन्तर्गत उनके व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हितों की रक्षा के प्रति सजगता के स्थान पर उनकी प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जावेगी। सम्पूर्ण भरतखण्ड की राजनीतिक स्थिति की समीक्षा करते हुए उन्होंने उपस्थित वानर प्रमुखों को समझाया कि त्रैलोक्य–कंटक रावण के समर्थकों सहित विनष्ट हो जाने, लंका में विभीषण के रूप में मित्र नरेश के सत्तारुढ़ हो जाने तथा वानरों, गृद्धों, नागों, भीलों जैसे

वनेचरों को प्रभु श्री राम द्वारा अपना स्नेह–पात्र बना लेने के पश्चात् यद्यपि विदेशी आक्रमणों की आशंका निर्मूल हो चुकी है किन्तु उन्होंने अयोध्या के राजनयिकों से हमने यह सीखा है कि ''प्रत्याक्रमण के लिए सर्वांग सन्नद्धता ही आत्मरक्षा का सर्वोत्तम उपाय है।''

लंका के महासमर के प्रत्यक्ष अनुभव तथा अयोध्या में बाह्य–आक्रमण की अनाशंका के पश्चात् भी सैनिकों को निरन्तर प्रशिक्षण तथा उनकी सतत सतर्कता ने वानर युद्धाचार्यों की आँखें खोल कर रख दिया था। आक्रमण तथा प्रतिरक्षा के सर्वाधिक प्रभावी आयुध के रूप में हमने धनुष–बाण की क्षमता का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। आक्रमण एवं आत्मरक्षा के क्षेत्र में हमने असि, भल्ल, शूल, तोमर, मिन्दपाल को गदा, वृक्षों के तनों तथा शिलाखण्डों की तुलना में सरलतापूर्वक धारण तथा प्रहार करने योग्य पाया था। युद्ध की नई विधा में अग्रता प्राप्ति के निमित्त वानर योद्धाओं को आर्य आश्रमों में धनुर्वेदाचार्यों तथा अयोध्या के सैन्य शिविर में प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु भेजने का निर्णय लिया गया। पदाति सैनिकों के अतिरिक्त वानर सेनाओं में भी गज, अश्व तथा रथ–सैनिकों की टुकड़ियों का गठन किया गया। प्रभु श्री राम के कृपापूर्ण निर्देशों के कारण हाथियों, घोड़ों के प्रशिक्षक, चिकित्सकों के लिए आवश्यक उपकरणों एवं साजसज्जा की समुचित व्यवस्था किष्किन्धा में सहज उपलब्ध हो गई।

युद्ध में विजयप्राप्ति के पश्चात् उल्लेखनीय शौर्य का प्रदर्शन करने वाले सेनानियों अथवा सैनिकों को सार्वजनिक रूप से पुरस्कृत करने की जिस प्रेरणादायी परम्परा का श्री गणेश रघुकुलनन्दन श्री राम ने लंका–विजय के पश्चात् समरभूमि में आयोजित समारोह में किया था उसको भविष्य में बनाये रखने की घोषणा वानरेन्द्र सुग्रीव द्वारा की गई। युद्ध–भूमि में शत्रु पक्ष के राजा के बध पर वधकर्ता योद्धा को 'राजा' की उपाधि के साथ क्षेत्रविशेष का 'राजा' घोषित करने की व्यवस्था की गई। प्रतिपक्षी युवराज अथवा मुख्य सेनानी के वध पर ग्रामदान के साथ सेना में उच्चपद देने की घोषणा भी साथ

में की गई। उत्कृष्ट शौर्य प्रदर्शन कर्ता की मृत्यु की स्थिति में उसके उत्तराधिकारियों के लिए यथोचित पद एवं भरण–पोषण हेतु भूमिदान अथवा ग्राम–दान की व्यवस्था की गई। बहुमूल्य रत्नों तथा स्वर्ण–मुद्राओं के अतिरिक्त रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य पशुधन को प्रदान करने की घोषणा भी इस अवसर पर की गई।[2] विजेता सैनिकों को सामान्य रूप से वेतन–वृद्धि तथा प्रतीक–चिन्ह प्रदान करने की घोषणा भी इस अवसर पर की गई।

जैसा कि अंकित किया जा चुका है किष्किन्धा की पहली राजसभा में वानर शिरोमणि महाराज सुग्रीव ने प्रजारञ्जन को अपने राजनीति की सर्वोच्च प्राथमिकता घोषित की थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रभु श्री राम के महान् पूर्वजों में से एक इक्ष्वाकुवंशज चक्रवर्ती सम्राट सगर के पुत्र–त्याग की कथा सुनायी थी। कथा के अनुसार अपने समय के जम्बूद्वीप के सर्वाधिक सशक्त एवं सर्वश्रेष्ठ प्रजारञ्क सम्राट सगर का पुत्र युवराज असमञ्ज प्रजापीड़क एवं शिशुघाती था। प्रजाजन के अबोध शिशुओं को उफनाती सरयू में फेंक वह प्रसन्नता से अट्टहास कर उठता था। अपनी प्रजा को ही अपनी सन्तान मानने वाले यशस्वी सम्राट सगर ने प्रजा द्वारा अपने पुत्र के कुकृत्यों को सुन असमञ्ज को जीवन–पर्यन्त राज्य से निष्कासन का दण्ड दिया था।[3] इसी क्रम में उन्होंने यह भी बताया था कि सम्राट सगर के देहावसान के पश्चात् अयोध्या की प्रजा ने धर्मात्मा अंशुमान का अयोध्या के राजपद पर वरण किया था। वानरों एवं इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रियों के प्रथम उल्लेखनीय सम्पर्क की स्थापना का श्रेय इसी राज्य से सदैव के लिए निष्कासित राजकुमार असमञ्जस को जाता है। राज्य से निष्कासन के पश्चात् राजकुमार असमञ्जस ने ऋक्षवान् पर्वत पर रहने वाले ऋक्ष प्रजाति के वानरों के संरक्षण में कुछ समय तक निवास किया था। यह घटना भगवान राम से चौबीस पीढ़ी पहिले की है।[4]

पितृव्य सहित हम सभी वानरों ने अयोध्या–प्रवास में यह भली–भाँति समझ लिया था कि राजनीतिक–आर्थिक दृष्टि से समर्थ एवं सम्पन्न राष्ट्र में ही प्रजा सुखी एवं समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकती है। वही राजा स्वयं के प्रजारञ्जक होने की घोषण कर सकता है, जिसके राजतंत्र ने राज्य भर में समस्त प्रजा के समुचित भरण–पोषण, प्रभावी शिक्षा–दीक्षा की सुव्यवस्था सुनिश्चित कर रखा हो। यही कारण है कि हमने सर्वसम्मति से निर्णय लिया कि मात्र कन्द–मूल, विभिन्न प्रकार के फल, मधु एवं विभिन्न फलों–फूलों के रस और वनों में उत्पन्न होने वाले खद्यान्नों पर अपना जीवन व्यतीत करने के स्थान पर सुव्यवस्थित कृषि–कर्म के साथ वनों पर आधारित उद्योगों को प्रश्रय दिया जाय। मानव जाति के प्रथम कुल मुख्य मनु के विचारों का सन्दर्भ देते हुए रघुकुल तिलक प्रभु श्री राम प्रायः कहा करते थे कि ''मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से सर्वथा मुक्त समाज'' की स्थापना के लिए राज्य की समस्त योजनायें प्रजा के सर्वांगीण कल्याण के एक मात्र उद्देश्य से संचालित होनी चाहिए।

वानराधिपति श्री सुग्रीव द्वारा सभी वानरों से उनके सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवन में सदाचार एवं नैतिकता को सर्वोच्च महत्त्व देने की अपेक्षा की गई। उदण्डता, क्रोध, परपीड़ा, अकृतज्ञता, लोभ, निरंकुशता, विषयासक्ति तथा मिथ्याभाषण को सबके लिए त्याज्य बताया गया। महाराज ने स्वयं को अत्यन्त प्रिय 'मद्यपान' का त्याग कर अन्य वनरों के लिए एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। वानरों में मद्यपान के प्रति सामान्यतया आसक्ति के भाव कभी लोकप्रिय नहीं रहे। किन्तु अब केवल विदेशी अतिथियों के आगमन तथा कतिपय सार्वजनिक समारोहों के अवसर पर ही सार्वजनिक आयोजनों में मद्य परोसने का निर्णय लिया गया है। महाराज सुग्रीव ने स्व्यं मद्यपान के परित्याग की घोषणा करते हुए अधिक मदिरा–पान को क्रोध एवं विवेक–नाश का प्रमुख कारण बताया है।

अयोध्या से लौटने के पश्चात् किष्किन्धा में आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों में त्याग, तपस्या, भक्ति, चातुर्य एवं पराक्रम के मूर्तिमान स्वरूप, सूर्यशिष्य तथा विद्यावारिधि, महाप्राज्ञ हनुमान की अनुपस्थित अत्यन्त कष्टकारक थी। पितृव्य सहित प्रायः सभी वक्ताओं ने अपने–अपने उद्गारों में इस अनुपस्थिति का उल्लेख किया था। केसरीनन्दन का नामोल्लेख करते हुए प्रायः सभी वक्ता साश्रुनयन हो उठते थे। कतिपय वक्ता तो कण्ठावरोध के कारण कुछ कहने में असमर्थ हो अपने विचारों को बीच ही में छोड़ बैठने को विवश हो जाते थे। अञ्जनानदन के परिजनों सहित हम समस्त वानरों को सन्तोष मात्र इसी कारण था कि हमारे सम्राट प्रभु श्री राम के चरणों में महामति हनुमान की निरन्तर उपस्थिति अपने अराध्य के प्रति हमारे शौर्य एवं समर्पण तथा त्याग और बलिदान का स्मरण सम्पूर्ण मानव जाति को अहर्निशि कराती रहेगी। इसके अतिरिक्त प्रभु श्री राम का यह आश्वासन भी हमारे लिए आश्वस्ति का कारण था कि ''किसी राज्य में प्रजा का सर्वाधिक सम्मान एवं विश्वास राजपरिवार के सदस्यों एवं राजा के सर्वाधिक विश्वस्त एवं सशक्त अमात्य अथवा सेवक को मिलता है''। यह तथ्य हमें सुवीदित है। ककिष्कन्धा में अपने निर्वासित जीवन में रघुराज पितृव्य सुग्रीव, वायुपुत्र श्री हनुमान को अपना परम विश्वासी तथा सर्वाधिक सक्षम सेवक एवं सहयोगी मानते थे। प्रभु श्री राम के सम्पर्क में आने के पश्चात् केसरी कुमार ने अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से राघव शिरोमणि का हृदय जीत लिया था। अपने प्रति आंजनेय के एकनिष्ठ समर्पण को देख भक्तवत्सल रघुवीर के समक्ष उन पर अपना सम्पूर्ण स्नेह तथा विश्वास लुटाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया था। रघुकुल शिरोमणि की परमोदार मानसिकता, सर्वजनीन कृपालुता तथा मानव मात्र के दुःखों के निवारण के प्रति प्रतिबद्धता को जानने के कारण हम वानरों को इसी बात से पूर्ण सन्तोष था कि वानरों का सर्वप्रिय राजनेता हनुमान माता जानकी सहित श्री अवधेश का भी लाड़ला है।

चारित्रिक दृढ़ता के क्षेत्र में पवनपुत्र मेरे लिए पूज्य तथा अनुकरणीय बने रहेगें। लंका के महासमर के पश्चात् वह आज भी उस घटना का उल्लेख होते ही वह लज्जानत हो उठते हैं, जब देवी सीता के अनुसंधान के समय उनको राक्षसों के शयनकक्ष में लेटी राक्षसियों को निहारने को विवश होना पड़ा था। उस घटना का उल्लेख करते हुए उनके स्वर में पश्चाताप के भाव स्पष्ट झलक उठते थे। खेदयुक्त स्वरों में वह कह उठते थे कि, ''लंका में देवी सीता की खोज के समय मैंने रात्रि में राक्षसों के शयनकक्ष में मदिरा के दुष्प्रभाव के कारण अस्त–व्यस्त परिधानों वाली, अर्द्धनग्न राक्षस सयुन्दरियों को ध्यान से देखने का जो गर्हित कार्य किया था उस पर मुझको आज भी पछतावा है। इसके पूर्व अथवा पश्चात् किसी भी पर स्त्री के मुख अथवा बदन पर उस प्रकार का दृष्टिपात करने का निन्दनीय कर्म मुझसे नहीं हुआ है।'' ऐसे दिव्य चरित्र वाले जननायक की उसके राजनगर से सदा के लिए अनुपस्थिति किसी भी समाज के लिए अपूरणीय क्षति तो होगी ही।

राजनीति में राजाओं अथवा राजवंशों के मध्य परस्पर शत्रुता अथवा मित्रता का निर्धारण काल–चक्र अथवा परिस्थितियों द्वारा होता हैं। पुलस्त्य ऋषि के वंशज होने के कारण प्रारम्भ में राक्षसों एवं यक्षों एवं ऋक्षों (वानरों) में मैत्री अथवा सहज निकटता के भाव विद्यमान थे। यक्षराज कुबेर तथा राक्षसराज रावण के पूर्व के लंका तथा वानरों के राजाओं के मध्य निकट के मैत्रीपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध विद्यमान थे। हमारे पूर्वजों के माध्यम से आज भी लोकप्रिय लोक–कथा के अनुसार तत्कालीन लंकापति कीर्तिधवल ने अपने सगे साले तथा वानरराज श्री कंठ को लंका के निकट का एक द्वीप उपहार स्वरूप प्रदान किया था। हम वानरों के कारण उक्त द्वीप ''वानर–द्वीप'' के नाम से सुख्यात हुआ।[5] कालान्तर में कभी रावण के मातृपक्ष के राक्षसों को लंका से निष्कासित कर भगवान श्री हरि अथवा विष्णु ने लंका का राज्य यक्षपति कुबेर को सौंप दिया था। श्री

ब्रह्मदेव से अजेयता का वरदान प्राप्त कर रावण ने अपने पराक्रमी अनुज कुम्भकर्ण तथा विभीषण की सहायता से धनधान्य से परिपूर्ण अपने सौतेले बड़े भाई कुबेर की राजनगरी लंका को उसके पुष्पक विमान सहित छीनलिया। धनाध्यक्ष कुबेर के साथ श्री लंका से यक्ष, गन्धर्व, नाग तथा किम्पुरुष लोगों ने गन्धमादन पर्वत को अपना आश्रयस्थल बना लिया। कतिपय नीतिमान राक्षसों ने भी कुबेर का अनुकरण किया था। सत्ता के लोभ में रावण ने कभी राक्षसों के सहयोगी रह चुके विभिन्न शक्तिशाली समूहों को राक्षस–विरोधी बना लिया था। यही नहीं, परिस्थितिवश वनवासी प्रभु श्री राम के व्यक्तित्व, कर्त्तृत्व एवं क्रान्तिकारी सामाजिक मान्यताओं ने वानरों सहित, वनवासी शबर, निषाद, गरुड़ उनके सजातीय गृद्ध तथा मुनिजनों को उनका घोर समर्थक बना दिया था। गरुड़ों से शाश्वत शत्रुता के कारण नाग सामूहिक रूप से प्रभु श्री राम के पक्ष में खुलकर भले ही न आये हों अधिकांश प्रभावशाली नागों की व्यक्तिगत सहानुभूति हमारे पक्ष में बनी रही। नागमाता सुरसा का उदाहरण हमारे सामने है, जिसने समुद्रसंतरण के समय अञ्जनापुत्र की परीक्षा लिया था तथा अन्ततः उनको 'सफलकाम' होने के आशीष सहित लंका के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण सूचनायें दी थीं। नागों के अतिरिक्त देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष आदि की सहानुभूति खुल कर प्रभु श्री राम के पक्ष में थी। रावण के पक्ष में राक्षसों के अतिरिक्त मात्र पर्वण, पत्तन, जम्भ, पुरुज, आरुज तथा पिशाच जैसी कतिपय महत्त्वहीन हो चुकी जातियों के लोग ही रह गये थे।

जिस समय राक्षसराज अपने अनुजों तथा अन्य परिजनों को साथ ले विजय–अभियानों में व्यस्त था, उसका युवराज मन्दोदरी–कुमार मेघनाद दैत्यगुरु शुक्राचार्य के परम्परा के वर्तमान आचार्य शुक्र की सहायता तथा मार्गदर्शन का लाभ उठा इहलौकिक–पारलौकिक कीर्ति, समृद्धि तथा मनोवाञ्छित फलों को प्रदान करने वाले अग्निष्टोम, अश्वमेघ, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध तथा वैष्णव इन छः महायज्ञों

का सफल आयोजन सम्पन्न कर चुका था। जब वह चतुर्दिक विजयों से सन्तुष्ट हो वापस लौटा मेघनाथ सातवें महायज्ञ– ''माहेश्वर–यज्ञ'' में व्यस्त था। चूँकि अब तक रावण की मानसिकता घोर 'देव–विरोधी' हो चुकी थी। उसने देवताओं को हविर्भाग देने वाले यज्ञों के आयोजनों को प्रतिबन्धित कर दिया। विवश रावणपुत्र अन्य यज्ञों का अयोजन नहीं कर सका किन्तु इन यज्ञों के कारण उसको अनेक सिद्धियाँ तो प्राप्त हो ही चुकी थीं। 'श्री माहेश्वर' महायज्ञ के परिणामस्वरूप भगवान आशुतोष शिव की कृपा के परिणामस्वरूप इन्द्रियजयी इन्द्रजित् को आकाशचारी दिव्य रथ, दिव्य धनुष–बाण–तूणीर तथा तामसी माया की प्राप्ति हुई। श्री ब्रह्मदेव ने अपने अनुरोध पर देवराज इन्द्र की मुक्ति से प्रसन्न हो कर रथारुढ़ युद्धरत राक्षसकुमार को, असंभव पराजय का दुर्लभ वरदान दिया था। यही कारण है कि अयोध्या में अवधेश श्री राम की राजसभा में पधारे कौशिक, यवक्रीत, गार्ग्य, स्वस्तात्रेय, नमुचि, प्रमुचि, अगस्त्य, कवष, धौम्य, कश्यप, विश्वामित्र, गौतम, भारद्वाज आदि ऋषियों ने समवेत स्वर में भैया लक्ष्मण द्वारा इन्द्रजित के वध की घटना को रावण–वध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बताया था।

आज मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के कारण देवोपम राघवेन्द्र श्री राम मुझ सहित समस्त वानर जाति के सर्वस्व बन गये हैं, किन्तु यह सम्बन्ध ऐहिक संसार से ऊपर उठ अतिमानवीय स्वरूप ले चुका है। जहाँ तक मानवीय सम्बन्धों का प्रश्न है मेरा आदर्श, मेरे नायक तो वस्तुतः शेषावतार श्री लक्ष्मण हैं। उनसे परिचय के पश्चात् मैं ज्यों–ज्यों उनके निकट सम्पर्क में आता गया उनके व्यक्तित्व के सम्मोहक आकर्षण के पाश में आबद्ध होता गया। आज भी जब कभी मेरे मन में किसी प्रकार की द्वन्द्व अथवा उलझन की स्थिति उत्पन्न होती है, अपने व्यक्तिगत उपासनाकक्ष में दीवारों पर अंकित रामानुज के चित्रों को बार–बारी ध्यान से निहारने लगता हूँ। कुछ ही क्षणों में मेरे

मानस पटल पर ओज, शौर्य, पराक्रम तथा धैर्य का मूर्त विग्रह जीवन्त हो उठता हैं मैं रोमाञ्चित हो उठता हूँ। मुझे लगता है कि तपःपूत तथा सत्यवाक् श्री रामानुज की प्रतिमा से निसृत प्रकाशपुञ्ज ने मेरे मन की निराशा तथा द्वन्द्व के तमस अथवा अन्धकार को पूर्णतया उदरस्थ कर लिया है। सहस्रबदन श्री लक्ष्मण का बारम्बार स्मरण तथा गुणगान मुझमें नई ऊर्जा भर देता है।

पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना बार–बार बताना चाहूँगा कि यों तो तापस वेषधारी धनुर्धर श्री रामानुज को देखने का प्रथम अवसर तब मिला था, जब पूज्य पिता श्री के साथ युद्ध–नियमों का उल्लंघन कर उन पर प्राणान्त प्रहार करने वाले अपने आदरणीय अनुज के साथ वह घटनास्थल पर पहुँच कर पूर्ण सतर्क स्थिति में अपने भाई से कुछ पग पीछे दाहिनी ओर हट कर खड़े थे। मेरी मानसिक स्थिति उस समय उनकी ओर विशेष ध्यान देने की नहीं थी किन्तु उस दारुण परिस्थिति में भी उनकी सतर्कता ने एक क्षण के लिए ही सही मेरा ध्यान आकर्षित अवश्य कर लिया था।

योग के अष्टांग, हठ, तथा मन्त्र जैसे विभिन्न रूपों के स्थान पर सामान्य जन की आत्मिक शक्ति को दृढ़ता प्रदान करने वाले सरलता पूर्वक ग्रहणीय सर्वस्वीकार्य योग को श्रेयस्कर मानने वाले निद्राजित परमयोगी भैया श्री लक्ष्मण को पहली बार ध्यान से देखने तथा उनके व्यक्तित्व को अंशतः जानने का अवसर मुझे उस समय मिला जब वानरराज श्री सुग्रीव की प्रतिज्ञा–विमुखता से खिन्न श्री राघवेन्द्र के आदेश पर वह किष्किन्धा नगर में पधारे थे। वानरेश्वर श्री वाली के वध के उपरान्त 'राजपद' प्राप्त महाराज सुग्रीव द्वारा अपनी उपेक्षा तथा देवी सीता के अनुसन्धान के प्रति उदासीनता से आहत अपने आदरणीय अग्रज का दुःख उनसे देखा नहीं जा सका था। पौरुष एवं पराक्रम को अपने जीवन में सर्वश्रेष्ठ मानने वाले श्री रामानुज ने अपने अग्रज के मन को दुर्बल बनाने वाले विषाद को भगा कर उनके सुप्त बल को जागृत करने के उद्देश्य से योग का

आश्रय ले अपने चित्त की एकाग्रता तथा अपने पराक्रम पर ध्यान केन्द्रित करने का परामर्श अपने बड़े भाई को दिया था।

क्षात्रतेज, स्वाभिमान तथा धैर्य के मूर्त विग्रह सुमित्राननदन अन्याय, अपमान, वचनभंग तथा विश्वासघात जैसे घृणित कृत्यों के घोर विरोधी हैं। अग्निदेव को साक्षी मान ईक्ष्वाकुनन्दन श्री राम के साथ मैत्री–संधि कर प्राथमिकता के आधार पर देवी सीता के अनुसन्धान में वानरराज्य के सम्पूर्ण संसाधनों को तत्काल झोंक देने का वचन दे सुरा–सुन्दरी के मोह में सब कुछ भुला देने वाले कपिराज सुग्रीव पर उनका रोष स्वाभाविक था। क्रोधाग्नि से जलते हुए रौद्ररूप धारी धनुर्धर उर्मिलानाथ का उत्तप्त मन तब भी पूर्णतया नियन्त्रित था। वानरराज के अन्तःपुर में उन्होंने किसी भी वानर स्त्री की ओर आँख उठाकर देखना भी अनुचित समझा। नेत्र मन के आन्तरिक भावों को व्यक्त करने के सर्वाधिक विश्वसीनय साधन होते हैं। इसीलिए वानरराज–महिषी मातु श्री को भैया लक्ष्मण को स्मरण दिलाना पड़ा था कि कतिपय व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण स्नेह, सम्मान, वात्सल्य तथा सखा भाव से पर–स्त्री से आँख मिला कर बात करना आर्य–मर्यादाओं का उल्लंघन कदापि नहीं है।

वचपन से ही छाया की भाँति ज्येष्ठ राघव का अनुसरण करने वाले सौमित्र गुरुकुल तथा तदूपरान्त राक्षसों के विरुद्ध अभियान में, वनों तथा महावनों में भी साथ–साथ थे। श्री राम–वनवास के समय माता, पिता अथवा पत्नी की अनुमति अथवा सहमति के बिना वह मात्र आत्मानुभूति के बल पर ही उनके साथ चौदह वर्षों की दीर्घावधि के लिए वनगमन को प्रस्तुत हो गये थे। उनकी दृष्टि में अपने अग्रज की सेवा का सुख त्रिलोक के समस्त सुखों से बढ़कर था। शोक एवं लोभ उनके वशानुवर्ती थे। स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म के पचड़ों से सर्वथा दूर श्री राघवानुज वीर–लोक के आकांक्षी रहे हैं।

सुमित्रानन्दन, शिथिलाचार को, मनुष्य मात्र के लिए अत्यन्त गर्हित कृत्य मानते हैं। बलात्कारी चाहे स्त्री ही क्यों न हो उनके

अनुसार कठोर दण्ड की पात्र है। नारी जाति की मर्यादा का उलंघन कर परपुरुष से सहवास को उद्यत् रावणभगिनि चन्द्रनखा (सूर्पणखा) की नाक तथा कानों को काट उसको विरुप करने में उन्होंने लेश मात्र संकोच नहीं किया था। मतंगवन में शारीरिक सुख की कामना से उनको बलपूर्वक अपने बाहुपाश में जकड़ लेने वाली अयोमुखी के नाक, कानों के अतिरिक्त दोनों स्तनों तक को उसके शरीर से पृथक् कर देने में उन्होंने तनिक भी विलम्ब नहीं किया था। इक्ष्वाकु कुल की परम्परा तथा राजनीतिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर प्रभु श्रीराम को वनवास दिलाने वाली अपनी विमाता राजरानी कैकेयी तक को दण्डित करने के लिए वह तत्पर हो उठे थे। भ्रातृप्रेम के सर्वोच्च प्रतिमान, त्याग, जितेन्द्रियता एवं सेवा के मूर्तिमान स्वरूप पराक्रम पुञ्ज श्री लक्ष्मण को अपना आदर्श मान मैं स्वयं को परम सौभाग्यशाली एवं गौरवान्वित मानता हूँ।

अपने कुल एवं राष्ट्र की अस्मिता की सफलतापूर्वक रक्षा के लिए सम्बन्धित कुल एवं राष्ट्र के इतिहास की अद्यावधिक जानकारी आवश्यक है। कुल को जहाँ अतीत के कुलमुख्यों के श्रेष्ठ अथवा नेष्ट कर्मों का फल भोगने को बाध्य होना पड़ता है, राष्ट्र अपने पूर्व शासकों के अच्छे–बुरे कर्मों से सीख ले उसके स्वाभिमान को नई दिशा दे सकने में सफल होता है। अयोध्या के शिक्षा संग्रहालयों में हमने इक्ष्वाकु नरेशों के गौरवशाली अतीत को शिलापटों पर लिपिबद्ध देखा था। प्रभु श्री राम के भागीरथ सहित अन्य पूर्वपुरुषों के सैकड़ों वर्षों के अनवरत प्रयास तथा बलिदान के पश्चात् गंगा का धरावतरण अत्यन्त लोकप्रिय आख्यानों में से एक है। इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की दानशीलता, प्रजाप्रेम, शरणागत की रक्षा की अनेक आख्यायिकायें शिलापटों पर उत्कीर्ण है। उत्कीर्ण आलेखों ने हम वानरों की चिन्तनधारा को एक नई दिशा प्रदान किया।

अयोध्या से किष्किन्धा महानगरी की वापसी के पश्चात् सम्पूर्ण वानर–राज्य में परम्परागत कथावाचकों का महत्त्व सहसा बढ़

गया। महाराज सुग्रीव ने मातुल तार को, वानरों के अतीत की उल्लेखनीय घटनाओं को लिपिबद्ध कराने का दायित्व सौंपा। उनके निर्देश पर किष्किन्धा तथा अन्य वानर–रक्षित क्षेत्रों के पर्वतीय गुफाओं की दीवालों पर वानरों के अतीत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को जहाँ लेखबद्ध कराया गया वहीं अन्यत्र चित्रकारों ने चित्रों के माध्यम से अनेक लोक कथाओं को अमरत्व प्रदान किया। इतिहास में विशेष रुचि के कारण मैंने स्वयं को भी इस कार्य से को जोड़ लिया।

पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना पुनः कहना चाहूँगा कि वयोवृद्ध श्री जाम्बवन्त स्वयं अत्यन्त लोकप्रिय कथाकार हैं। जब कभी वह प्रभु श्री राम का स्मरण कर भावविभोर हो उठते हैं। उनके मुख से रुचिकर राम–कथा का स्रोत मानों फूट पड़ता है।[6] अञ्जनानन्दन हनुमान जी रामकथा के आदर्श कथावाचक एवं श्रोता दोनों हैं। इनके विषय में यह जनश्रुति लोकप्रिय हो गई है कि अपनी पहिचान छिपाने के उद्देश्य से वह रामकथाओं के श्रोतासमूह में वेष परिवर्तित कर सम्मिलित हो जाया करते हैं।

अब मैं वानरों के इतिहास के स्वर्णिम पृष्टों के अभिलेखीकरण की ओर वापस लौटता हूँ। वानरों की प्रमुखाराज नगरी में जहाँ राजप्रासाद की दीवारों, प्रस्तरनिर्मित शिलालेखों पर अतीत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को उत्कीर्ण कराया गया, प्रभु श्री राम का अनुकरण कर दूरस्थ वानर राज्यों के लिए त्रप (टिन) या अयस पत्रों पर इन घटनाओं का अंकन कराया गया (पुरुषोत्तम श्री राम ने वनवास से वापसी के पश्चात् राजाधिराज के रूप अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा राज्य शासन के महत्त्वपूर्ण नियम–निर्देशों को ताम्रपत्रों पर अंकित करवा कर उनकी स्थापना श्री माता स्थान, बकुलार्क एवं धर्मस्थान आदि स्थानों में कराया। इस अवसर पर आयोजित समारोह में उन्होंनें पचास ग्रामों को ब्राह्मणों को दान में दिया था।[7] प्रस्तरांकित शिलालेखों की तुलना में धातुपत्र पर अंकित लेखपटों को दूरस्थ तथा दुर्गम वानरराज्यों में ले जाना अत्यन्त सरल था।

पहिले वानर–अभिलेख में वानरों की मूलभूमि वानरद्वीप तथा उसके प्रथम उल्लेखनीय नरेश श्री कंठ का संक्षिप्त विवरण अंकित किया गया। घटना तब की है जब यक्षपति कुबेर को श्री विष्णु द्वारा लंका का राज्य दिये जाने से पूर्व के राक्षसवंशीयों का लंका में शासन था। राक्षस वंशीय राजा कीर्तिधवल का विवाह विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के मेघपुर नगर के राजा तथा हमोर पूर्वपुरुषों में से एक राजा अतीन्द्र की स्वनाम धन्य पुत्री महामनोहरदेवी से हुआ था। युवराज श्री कंठ इसका प्रिय साला था। लंकाद्वीप की सुरक्षा की दृष्टि से लंकेश कीर्तिधवल ने पार्श्ववर्ती सुन्दर तथा सुरभ्य वानरद्वीप का राजा अपने प्रिय साले श्री कंठ को बनाया था। वानर–द्वीप के राजाओं तथा निवासियों को सरल पहिचान के निमित्त ''वानर'' अभिधान प्राप्त हुआ'।[8] वानरराज श्री कंठ ने किप्कुपुर के नाम से चौदह योजन विस्तीर्ण राजनगरी का निर्माण कराया था। अपने पुत्र वज्रकंठ को राज्य सौंप वह मुनि हो गया था। उसके पुत्र वज्रप्रभ ने भी राज्य करने के उपरान्त अपने पिता का अनुकरण किया था। कुछ वर्षों के सफल शासन के उपरान्त वज्रप्रभ ने भी अपने पुत्र इन्द्रमत को राज्य दे मुनिव्रत धारण कर लिया था।[9]

इन्द्रमत के पश्चात् क्रमशः मेरु, मन्दर, समीरण तथा रविप्रभ वानरद्वीप पर वानरों के नरपति अथवा राजा बने। वानरराज रविप्रभ के पश्चात् उनके पुत्र अमरप्रभ को किष्कुपुर का राजा बनने का अवसर मिला। वानरद्वीप का प्रथम शक्तिशली नरेश बनने का गौरव इसी राजेश्वर को है जिसने लंका राज्य के अधीनस्थ त्रिकूट के नरेश की पुत्री गुणवती से विवाह कर राक्षसराज का दामाद वानरेन्द्र बनने का गौरव प्राप्त किया। दक्षिण समुद्र की सीमाओं को लांघ इसने पहली बार भरतखण्ड के विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों पर विजय प्राप्त की थी। यह पहिला वानराधिपति था जिसने वानर आकृति को अपने राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में अपनी ध्वजाओं, मुकुट के अग्रभाग तथा तोरणद्वार पर अंकित कराया। अपने पुत्र कपितकेतु को राज्य

सौंप अन्त में यह भी वैरागी बन गया था।[10] उस समय तक भगवान श्री विष्णु के नेतृत्व में राक्षसों के विरुद्ध निरन्तर सफल अभियानों के कारण लंका के राक्षसों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। हमारे पूर्वपुरुष श्री अमरप्रभ ने राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय देते हुए विजयार्धपर्वत एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्रों को वानर सत्ता का केन्द्र बनाने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया था। उल्लेखनीय है कि विजयार्धपर्वतमाला वानरों की मूलभूमि रही है। जैसाकि पहिले बताया जा चुका है वानरेन्द्र अतीन्द्र की पुत्री मनोहरदेवी लंका के राक्षराज कीर्तिधवल को ब्याही थी। अपनी राजनगरी की सुरक्षा को ध्यान में रखकर राक्षसराज ने अपने साले श्री कंठ को पड़ोसी वानर द्वीप उपहार स्वरूप दिया था। तब से वानर–सत्ता का प्रमुख केन्द्र 'वानरद्वीप' बन गया था। महाराज अमरप्रभु ने अपनी मूल भूमि को पुनः विजित किया था। इस महापूर्वज की कीर्तिगाथा को दूसरे अभिलेख में स्थान मिला।

वानरेन्द्र अमरप्रभ के पश्चात् क्रमशः कपितकेतु, प्रतिबल, गगनानन्द, खेचरानन्द, गिरिनन्द एवं महोदधि वानरों के राजा बने। इनमें वानर राज महोदधि समकालीन लंकेश्वर–विद्युत्प्रकाश के साथ अपने निकट सम्वन्धों एवं हार्दिक लगाव के कारण प्रतिश्रुत हुए। राक्षसराज विद्युत्प्रकाश की बहन विद्युत्प्रकाशा से विवाह के उपरान्त कहा जाता है कि वानराधीश महोदधि को कुल एक सौ आठ पुत्र उत्पन्न हुए थे। राक्षस शिरोमणि विद्युत्प्रकाश के वैराग्यव्रत धारण करते समय वानरराज महोदधि अपने प्रिय साले के साथ वैरागी बन गया था। वैराग्य के वरण के पूर्व वानर–नरेश ने अपने पुत्र प्रतिचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। महाराज प्रतिचन्द्र के किष्किन्ध तथा अन्धकरुढ़ि नाक दो पुत्रों के मध्य अगाध प्रेम थ। छोटे भाई अन्धकरुढ़ि ने अपने अग्रज की प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त समरभूमि में अपना प्राणोत्सर्ग कर दिया था। घटना के अनुसार आदित्यपुर नरेश विद्याधर विद्यामन्दर और उनकी रानी वेगवती के गर्भ से

उत्पन्न श्री माला ने अपने स्वयंवर में किष्किन्धकुमार का वरण किया था। इस स्वयंवर में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के विजयार्धा पर्वत पर स्थित रथनूपुर के राजा अशनिवेश भी अपने युवराज विजयसिंह के साथ सम्मिलित था। किष्कन्धकुमार के प्रपितामह अमरप्रभ द्वारा विजयार्ध की दोनों पर्वत श्रेणियों का अपमान विजय रथनूपुर नरेश एवं उनके परिजन भूले नहीं थे। वानर युवराज किष्किन्धकुमार के गले में श्रीमाला द्वारा 'वरमाला' डालते ही कुपित रथपूनुर के युवराज विजयसिंह ने आक्रमण कर दिया। अपने अग्रज की ओर सशस्त्र बढ़ते देख अनुज ने उसको बीच में ही रोक लिया था। दोनों के मध य द्वंद्वयुद्ध में आक्रामक विजय सिंह वानर कुमार के असिप्रहार से मारा गया। वानर–वन्धु इस विजय का आनन्द मना भी नहीं पाये थे कि असावधान अन्ध्रक पर विजयसिंह के पिता अशनिवेग ने पीछे से आक्रमण कर उसको मार डाला था। तब तक वानरवीर सतर्क हो चुके थे। समरभूमि में परिवर्तित विवाहमण्डल में अन्ततः विजयी वानर युवराज किष्किन्धकुमार का विवाह श्री माला के साथ सम्पन्न हुआ। इस घटना का विवरण अलग अभिलेख–बद्ध कराया गया।[11]

अपने नाम पर विजयार्धपर्वत पर स्थित वानरों की नई राजनगरी किष्किन्धापुर को बसाने का श्रेय महाराज किष्किन्ध को जाता है। इनके दो पुत्र क्रमशः सूर्यरज एवं ऋक्षरज अथवा यक्षरज तथ एक पुत्री सूर्यकमला थीं। महाराज सूर्यरज मेरे आदरणरीय पितामह ताया पिता श्री बाली एवं काका श्री सुग्रीव के पूज्यपाद पिता श्री थे। सफल राज्य संचालन के पश्चात् उन्होंने भी पिताश्री को राजा तथा पितृव्य को युवराज घोषित कर दीक्षा ले ली थी।[12] राक्षसों के साथ पूर्व मैत्री एवं निकट सम्बन्धों को ध्यान में रखकर वानर श्रेष्ठ सूर्यरज ने अपनी छोटी पुत्री श्री प्रभा का विवाह लंकापति रावण के साथ किया था।[13] स्पष्टतया रावण भगवान आशुतोष शिव के परम भक्त पराक्रमपुञ्ज पिता श्री का प्रिय बहनोई था, किन्तु शक्ति के अहंकार तथा सर्वजेता बनने की दम्भजनित तीव्रेच्छा ने उसे

मदान्ध बना दिया था। पिताश्री के हाथों हुई अपमानजनक पराजय से उसकी मोहनिद्रा भंग हुई थी। परिणामस्वरूप उसने हरीश्वर वाली से आजीवन मैत्री–संधि कर अपने प्राण बँचाये थे। इन समस्त घटनाओं को अलग–अलग लेखबद्ध किया गया। किष्किन्धापुराधीश महाराज सूर्यराज के सहोदर ऋक्षरज के पुत्र होने के कारण नल तथा नील पिताश्री वाली तथा पितृत्य सुग्रीव के सगे चचेरे भाई हैं।

महाराज सुग्रीव तथा प्रभु श्रीराम की मैत्री, वानरों द्वारा देवी सीता के अनुसन्धान, पवनात्मज द्वारा सफल समुद्रसंतरण, सीता–अनुसंधान तथा लंकादहन, समुद्र पर सेतुबन्धन, लंका के महासमर में वानरवीरों के पराक्रम की गाथायें अलग–अलग शिलापटों तथा ताम्रपटों पर उत्कीर्ण करा कर वानरराज्य के विभिन्न भागों में वितरित की गईं। इसके अतिरिक्त हम वानरों के अयोध्या– प्रवास, वानरों पर प्रभु श्री राम तथा उनके परिजनों के कृपापूर्ण व्यवहार तथा अनेक राजनियमों को भी अलग–अलग अभिलेख–बद्ध कराया गया। अधिकांश अभिलेख ''वानर–भाषा'' में अंकित किये गये। कतिपय महत्त्वपूर्ण लेखों का रूपान्तर संस्कृत में किया गया।

वानर अभिलेखों में हमने स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले वर्णव्यवस्था के पोषकों के राजप्रमुखों को अतीत में दिए गये संरक्षण का उल्लेख जान बूझ कर किया है। हमारा उद्देश्य मात्र इतना है कि आगामी युगों में भी स्वयं को पूर्णविकसित एवं सर्वोपरि मानने वाले कतिपय मानव समूह के लोग हमको नितान्त पिछड़ा, असंस्कृत, अस्पृश्य एवं मानवीयगुणों से हीन समझने ही भूल की पुनरावृत्ति न करें। परमपराक्रमी, दानवीर, सुविख्यात् इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट सगर के पुत्र असमंजस को वानरों द्वारा शरण एवं संरक्षण देने का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

हमारे पूर्वजों द्वारा आर्यनरेशों को संरक्षण देने की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनायें भी वानर–पुराकथाओं को भली–भाँति स्मरण हैं। वस्तुतः इन कथाओं के मूल में ब्राह्मणों द्वारा भौतिक सुख–सुविधाओं

पर एकाधिकार के निमित्त पृथ्वी तथा राजपद का अपहरण था। उनके उकसावे पर क्षत्रियेतर वर्णों (वैश्यो एवं शूद्रों) ने भी उनका साथ दिया था। कहा जाता है कि प्रारम्भ में वर्णव्यवस्था का आधार जन्म नहीं, वरन् कर्म हुआ करता था। एक ही परिवार में माता शूद्रा, पिता वैश्य तथा पुत्र ब्राह्मण हो सकता था (तुलनीय– ऋग्वेद का कारुरहम् भिषगुपल पछिनि नना'' तथा अर्थववेद में बालक शुनःशेप के ब्राह्मणत्व पर विवाद आदि)। यही नहीं एक ही मानव–समूह से राजा, सेनानी, पुरोहित,ग्रामणी आदि का चयन किया जाता था। कालान्तरों में विभिन्न समूहों की बढ़ती जन संख्या न एक समूह को कई समूहों में विभक्त होकर कृषि, पशुपालन तथा जीविका के अन्य साधनों पर एकाधिकार एवं स्वयं को सर्वश्रेष्ठ शक्तिमान समझने की प्रवृत्ति ने शीघ्र ही एक वर्ग के प्रमुख अथवा 'राजा'द्वारा दूसरे वर्ग के राजा पर आक्रमण की भावना को सुदृढ़ किया। फलतः समाज में 'युद्ध' अस्तित्व में आये। किन्तु इन युद्धों से समाज में योद्धा, राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग का प्रभुत्त्व विवाद रहित ढंग से स्थापित हो गया। राजा का स्थान तो देवोपम हो गया। यह स्थिति पुरोहित वर्ग को सहन नहीं हो सकी। पुरोहित वर्ग ने अन्य वर्गों को भी आवश्यकतानुसार अपने पक्ष में कर लिया। पुरोहित वर्ग ने इस नई शक्ति का आश्रय ले प्रचुर दान–दक्षिणा दिलाने वाले यज्ञों को दिनानुदिन दीर्घावधि पर्यन्त चलने वाला तथा अति व्ययसाध्य बनाना प्रारम्भ कर दिया। अनेक क्षत्रिय विचारकों ने शारीरिक बल में अग्रणी अपने कुलधरों के शस्त्रबल के समानान्तर ब्राह्मण–प्रभुत्व के विरुद्ध वैचारिक क्रान्ति को श्रेयस्कर समझा। क्षात्र तेज के प्रतीक महर्षि विश्वामित्र एवं ब्रह्म शक्ति के उन्नायक महर्षि वसिष्ठके संघर्षों की दारुण परिणति ''दाशराज्ञ–युद्ध'' के रूप में सामने आई थी। दोनों पक्षों के इस युद्ध में सर्वाधिक जनहानि राजन्य वर्ग की ही हुई थी। परिणामस्वरूप क्षत्रिय विचारकों ने बलिप्रधान व्यय–साध्य यज्ञों तथा कर्मकाण्डों को पाखण्डपूर्ण एवं अनावश्यक घोषित किया। ज्ञातव्य है कि यज्ञों में हजारों पशुओं तथा कहीं कहीं नरबलि के रूप में हो रहे घोर

हिंसात्मक कार्यों की अनिवार्यता स्थापित हो चुकी थी। यज्ञों में वाञ्छित् अकूत धन की प्राप्ति के लिए जहाँ वैश्यों से धन छीना जाना यज्ञकर्ताओं की विवशता बन गई वहीं हजारों शूद्रों अथवा दलित से इन यज्ञों में 'बेगार' ले उनकी श्रमशक्ति का शोषण आवश्यक हो उठा था। अनेक उदारचेता ब्राह्मण ऋषि–मुनि भी क्षत्रिय विचारकों के शिष्य बन गये। परिणामतः यज्ञविरोधियों को मिल रहे अपार जनसमर्थन ने बलिप्रधान तथा व्ययसाध्य यज्ञों का आयेजन समाप्तप्राय सा कर दिया। विवश पुरोहित पुनः विभिन्न वर्णों के मध्य मधुर सम्बन्ध बनयो रखने की घोषणा को बाध्य हुआ।

सत्ता के मद का महाब्यालमनुष्य के अन्तस् में उत्पन्न कोमल भावनाओं के शिशुओं का उदरस्थ कर उनको लोभी तथ आशुकोपी बना देता है। लोभ तथा क्रोध अन्ततः विवेक का नाश करते हैं। यही विजेता क्षत्रियों के साथ हुआ। कुछ वर्षों तक तो वह समाज के सभी वर्गों के हितों का चिन्तन करते रहे, किन्तु शीघ्र ही पूर्ण निरंकुश हो गये। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा एवं लोभ ने उनमें से अनेक को आततायी बना दिया। परस्पर संघर्षरत राजाओं की संत्रस्त प्रजा आये दिन समाज में शीघ्रतापूर्वक प्रभावशाली बन रहे दस्युओं के आतंक की दोहरी मार से कराह उठी। उधर भौतिक–वैचारिक स्तर पर राजन्यों के हाथों पराजित पुरोहित वर्ग ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में था। राजन्यवर्ग के अत्याचारों से खिन्न प्रजा के बहुसंख्यक वर्ग की मानसिक स्थिति का लाभ उठा, उसने राजन्य वर्ग के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजा दिया। किन्तु सफलता सरल नहीं थी। हैहय नरेशों की कोपाग्नि का सर्वाधिक प्रतिकूलप्रभाव भृगुवंशी ब्राह्मणों पर पड़ा। हैहयों द्वारा अत्यधिक त्रास देने के परिणामस्वरूप भार्गव दक्षिण से भाग कर मध्यदेश में शरण लेने को विवश हुए। भार्गव और्व के पुत्र ऋचीक के साथ कान्यकुब्ज नरेश गाधि की पुत्री सत्यवती (महर्षि विश्वामित्र की बहन) के साथ हुए विवाह ने भार्गवों को कान्यकुब्ज के शक्लिशाली क्षत्रियों का सहयोगी बना दिया। ऋचीक तथा सत्यवती

के सहवास से उत्पन्न पुत्र आर्चिक जमदग्नि अत्यन्त मेधावी एवं वेद की ऋचाओं का यशस्वी रचनाकार हुआ। उसका विवाह इक्ष्वाकुवंशीय राजा रेणु (प्रसेनजित) की पुत्री रेणुका के साथ सम्पन्न हुआ।[14] कतिपय मनीषियों के अनुसार कामली नामान्तर वाली रेणुका विदर्भराज की पुत्री थी।[15] रेणुका के गर्भ से इसके क्रमशः पाँच पुत्र– रुमण्वत, सुषेण, वायु, विश्वासु एवं परशुराम उत्पन्न हुए।[16] इस विवाह सम्बन्धा से एक अन्य क्षत्रिय राजवंश भी भार्गवों का समर्थक बन गया। हैहयों ने काशिराज हर्यश्व, उसके पुत्र सुदेव तथा पौत्र दिवोदास को बार–बार अपमानजनक पराजय दी थी। दिवोदास का शक्तिशाली पुत्र काशिराज प्रतर्दन हैहयों से प्रतिशोध लेने को कटिबद्ध था। परिस्थितिवश तीन–तीन क्षत्रिय राज्य हैहयों के विरुद्ध एक हो गये। उस समय, क्षत्रियों में राजर्षि से ब्रह्मर्षि बने परम तेजस्वी विश्वामित्र (कान्यकुब्जाधिपति) को अत्यन्त सम्मान के साथ देखा जाता था। हैहयनरेश कार्तवीर्य अर्जुन द्वारा अपने बहनोई जमदग्नि की नृशंस हत्या से विश्वामित्र हैहयों से अत्यन्त रुष्ट थे। सौभाग्यवश उनका भागिनेय (भाञ्जा) परशुराम अपने समय के सर्वश्रेष्ठ शस्त्रास्त्र धारकों में से एक था। कान्यकुब्ज, काशी तथा विदर्भ के तीनों क्षत्रिय राजाओं ने अपने गुरु महर्षि अगस्त्य द्वारा दिव्यास्त्र एवं रथप्राप्त परशुराम को अपना नेता बनाया। परशुराम के नेतृत्व में आक्रामक सेनायें हैहय शक्ति का सर्वनाश कर उनकी राजधानी माहिष्मती को जलाने में सफल हुई। हैहयों में मात्र वीतिहोत्र ही अपेन प्राण बँचाकर जीवित पलायन कर सका। हैहयों तथा उनसे संत्रस्त क्षत्रियों एवं भार्गवों के मध्य घोर शत्रुता जनित सघर्ष को क्षत्रिय द्वेषी पुरोहितों तथा उनके समर्थक ब्राह्मणों ने ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष के रूप में बहुप्रचारित किया। मुझको आशंका है कहीं यह कुप्रचार भविष्य में राजन्यों–ब्राह्मणों के मध्य घृणा उत्पन्न कर दोनों के प्रभुत्व का अन्त न कर दे।

इस नृशंसकाण्ड का मुख्य उत्तरदायी स्वयं को मानते हुए परशुराम ने प्रायश्चित स्वरूप महेन्द्र पर्वत पर दस वर्षों तक घोर

तपस्या किया। तत्पश्चात् विजित भू–भाग को कश्यप ऋषि को दान में देने के निमित्त जामदग्नेय ने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञोपरान्त रेणुकापुत्र ने महर्षि कश्यप को सम्पूर्ण विजित भू–भागदान में दे दिया था। पौराणिकों ने इस घटना का अलंकारिक विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार घोर अराजकता तथा संत्रास के संतप्त पृथ्वी रसातल को जाने लगी थी। महर्षि कश्यप ने रसातल में जा रही पृथ्वी के 'उरु' भाग (जांघ का प्रदेश) को पकड़ कर थाम लिया था। परिणामतः पृथ्वी का नाम ''उर्वी'' पड़ गया। कतिपय कथाकार उसको ''काश्यपी'' भी कहते हैं। पृथ्वी पर कश्यप ने सुशासन की स्थापना के उद्देश्य से क्षत्रिय को चुन–चुन कर विभिन्न क्षेत्रों का राजा नियुक्त किया। तत्कालीन ब्राह्मणों ने दयाभाव से क्षत्रियों को शासन नहीं लौटाया था वरन् विवश हो ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का शासन पुनः स्वीकार किया था।[17]

पुराणकथाकारों के अनुसार जामदग्न्य राम के हत्याकाण्ड से बँचे हैहय तथा उनके समर्थक अन्य क्षत्रिय राजकुमारों में से पौरव ऋक्षवान् की रक्षा इसी नाम के पर्वत पर बसने वाले ऋक्ष जाति के वानरों ने की थी। मगधराज पुत्र बृहद्रक्ष के रक्षक लांगूल प्रजाति के वानर थे। अन्य भरतवंशीयों की रक्षा दक्षिण समुद्र तटवर्ती शूद्रों ने की थी। अयोध्या के राजपुत्र सर्वकर्मन को पाराशर ऋषि का संरक्षण मिया था। अग्रवंशी चित्ररथ गंगातीर पर आश्रम बनाकर रहने वाले गौतम ऋषि की कृपा से सुरक्षित बँचा। इसी भाँति शिविपुत्र गोपालि, प्रत्तर्दनपुत्र वत्स एवं मरुत्त ने क्रमशः गोपालों, गाय के वछड़ों तथा दक्षिण समुद्र तट के शिल्पकारों की शरण ले अपने प्राणों की रक्षा की थी। स्पष्टतया परशुराम द्वारा पृथ्वी को क्षत्रियों से निर्मूल करने की परशुराम विषयक कथा सत्य से परे है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि जमदग्नि–पुत्र द्वारा अपने सम्बन्धी क्षत्रियों की सहायता से हैहयों एवं उनके समर्थकों की नृशंस हत्याओं के कारण चतुर्दिक अराजकता फैल गई। इस अराजक स्थिति को नष्ट करने के लिए ब्राह्मण ऋषि

कश्यप ने चारों दिशाओं से क्षत्रियों को ढूँढ़–ढूँढ़ कर तथा उनका राज्याभिषेक कर सुशासन स्थापित करने का प्रयास किया।[18]

खौलते हुए अथवा चलायमान लहरों से युक्त जल में प्रतिच्छाया का दर्शन नहीं होता है। इसी भाँति क्रोधावस्था एवं स्वार्थपरताकी स्थिति में मनुष्य सत्य का दर्शन नहीं कर पाता है। यही स्थिति ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के मध्य पुनः प्रतिद्वंद्विताजनित संघर्षका कारण बनी। परिस्थितियों से विवश ब्राह्मणों का एक वर्ग अधिक समय तक शान्त नहीं रह सका। विजेता परशुराम उनके आदर्श बन गये। प्रथम परशुराम जामदग्न्य के आश्रम उनकी प्रेरणा का केन्द्र बन गये तथा आश्रम के प्रमुख कुल–मुख्य ''परशुराम'' नाम से प्रतिश्रुत होते गये। दूसरी ओर क्षत्रिय भी अपनी राजसत्ता की रक्षा के प्रति कटिबद्ध हो उठे। अपने स्वत्व की रक्षा के प्रति सजग क्षत्रियों ने जहाँ अपनी सैन्यशक्ति को अप्रतिम बनाये रखने का निरन्तर प्रयास किया वहीं समाज में ब्राह्मणों को सम्मान सहित सम्पूर्ण प्रजा के रञ्जन के लिए विविध उपायों का आश्रय लेना भी प्रारम्भ कर दिया।

इतना होने के पश्चात् भी ब्राह्मण–क्षत्रिय विवाद पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो सका। पूर्व वैदिक परशुराम के नेतृत्व में ब्राह्मणों ने प्रभु श्री राम तथा उनके यशस्वी अनुज सौमित्र लक्ष्मण के नेतृत्व में उदीयमान क्षात्र–शक्ति को चुनौती देने का प्रयास किया। उल्लेखनीय है कि विजेता ब्राह्मणों की उद्दण्डता ने आद्य परशुराम के जीवन काल में ही उनके घोर समर्थक रह चुके क्षत्रियों तक को परशुराम का विरोधी बना दिया था। इसी कारण परशुराम की दादी ऋचीक ऋषि की पत्नी तथा जगदग्नि की माता सत्यवती के सगे भाई विश्वामित्र के पौत्र रैभ्य के पुत्र परावसु ने भरी सभा में अपेन निकट संबंधी परशुराम का अपमान किया था। परशुराम पर व्यंग करते हुए उसने कहा था, ''पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की प्रतिज्ञा तुमने की थी किन्तु ययाति के यज्ञ के लिए एकत्रित प्रतर्दन प्रभृति नरेश क्या क्षत्रिय नहीं हैं? तुम मनचाही बकवास करते हो। सत्य तो यह है कि सब ओर

फैले क्षत्रियों के भय से मुख छिपा, कर तुम वनवासी बने हो''।[19] सगे ममरे भाई के पुत्र द्वारा अपने कुलपूज्य परशुराम जैसे आशुकोपी का अपमान इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समाज किसी भी व्यक्ति के पापकर्मों का चिरकाल तक समर्थन नहीं करता है। जब तक किसी समाज में प्रबुद्ध एवं अग्रणी लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सर्वोपरि मानते रहेगें, सामाजिक समरसता का स्वप्न अधूरा रहेगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्तिगत कारणों से परस्पर संघर्षरत दो गुटों (पक्षों) को क्षत्रिय ब्राह्मण संघर्ष का स्वरूप देने का समर्थन सभी क्षत्रियों या ब्राह्मणों ने कदापि नहीं किया था। पृथ्वी को अराजक स्थिति से उबार क्षत्रियों को पुनः राजपद देने का गुरुतर दायित्व ब्राह्मण श्रेष्ठ कश्यप ने ही निभाया था। परशुराम के आक्रमण से बचे क्षत्रिय राजपुत्रों में दधिवाहन के पौत्रों तथा दिविरथ की सन्तान की रक्षा गंगातटवासी गौतम ऋषि ने की थी। उदारचेता वसिष्ठ पौत्र पराशर ने सौदास का वंश–नाश बचाया था।[20]

प्रतिष्ठान को अपनी राजनीतिक सत्ता का केन्द्र बना आसमुद्र पृथ्वी पर शासन करने वाला ययाति दूसरा मानव शासक तथा प्रथम मानव चक्रवर्ती सम्राट था जिसने दूसरी बार भरतखण्ड की वानर सहित अन्य मानवेतर प्रजातियों को अधीनस्थ कर मानव संस्कारों से परिचित कराया था।[21] आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष महाराज इक्ष्वाकु की इक्कीसवीं पीढ़ी में उत्पन्न सार्वभौम चक्रवर्ती अयोध्यापति मान्धाता ने तो मानवों की विजय का क्षेत्र भरतखण्ड की सीमाओं से बाहर सुदूर देवलोक (त्रिविष्टप=तिब्बत), रसातल अथवा पाताल (अफ्रीका), सुमेर (दजला–फरात का मिलनदेश–इराक), नांबिया (सूडान), असुर राज्य (असीरिया– आधुनिक तुर्की–ईरानआदि पार्श्ववर्ती क्षेत्र) तथा रमणक (मिश्र) आदि देशों तक विस्तीर्ण किया।

जहाँ तक जम्बूद्वीप अथवा भरतखण्ड का प्रश्न है दक्षिण के वनाच्छादित भू–भाग तथा सुदूरवर्ती मानवेतर राज्यों में कोशिक विश्वामित्र अत्रि सुतीक्ष्ण पुलस्त्य एवं मातंग जैसे ऋषियों ने

मानव–संस्कृति के सम्बर्द्धन में पर्याप्त रुचि ली थी, किन्तु उत्तरभारत के मानव सभ्यता के केन्द्रों से दूर विंध्य पर्वतमाला के दक्षिण के भू भाग में मानव संस्कृति को सुनियोजित ढंग से प्रसारित करने वालों में महर्षि अगस्त्य का अप्रतिम स्थान है। वैदिक ऋचाओं के प्रबुद्ध रचनाकार अपनी विदुषी पत्नी लोपामुद्रा के नर्मदा की बाढ़ में प्राणोत्सर्ग से अवचिलित महर्षि मित्रावरुण एवं अप्सरा उर्वशी के इस यशस्वी पुत्र तथा महिर्ष वसिष्ठ के अग्रज ने दक्षिण भारत के निषादों, शबरों, नागों, गृधों, गन्धर्वों, यक्षों, वानरों को मानवसंस्कृति से परिचित कराने तथा मानव संस्कारों को अपनाने की प्रेरणा देने का आजीवन प्रयास किया। वनवासियों तथा राक्षसों आदि की हिंसक प्रतिक्रियाओं की चिन्ता किये बिना मानव ऋषियों द्वारा वनबासी जनों के प्रति ऋषियों के उदारतापूर्ण सेवाभाव ने अनेक विधर्मियों को मानव आचार–दर्शन के प्रति आकृष्ट अवश्य किया किन्तु उनमें अपने मूल संस्कारों तथा परम्पराओं के प्रति लगाव के भाव निश्शेष नहीं हो सके।

राघवेन्द्र श्री राम ने मानव शास्त्र–व्यवस्था के अनुसार आचार–मर्यादा को मानवेतर समाज में प्रतिष्ठापित करने के निमित्त मात्र शैक्षणिक उपदेशों को अपर्याप्त माना। ऋषि–मुनियों द्वारा स्थापित आश्रमों की भाँति किसी स्थान विशेष को केन्द्र बना कर मानव संस्कारों के प्रचार को उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा। वह यह भली–भाँति समझ चुके थे कि गुरु विश्वामित्र, महर्षि अगस्त्य, वाल्मीकि, भारद्वाज, अत्रि, सुतीक्ष्ण मतं आदि ऋषि–मुनियों की भाँति मात्र आश्रमों को केन्द्र बना कर स्वयं एवं शिष्यों के माध्यम से मानवेतर प्रजातियों में मानव धर्म तथा आचार–दर्शन का प्रचार व्यर्थ प्रमाणित होगा। वनों के अन्दर हुई विभिन्न घटनाओं ने उनकी इस धारणा को सुदृढ़ कर दिया था कि शक्ति के आवश्यक उपयोग के बिना समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं परपीड़क प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण संभव नहीं है। आर्य संस्कृति के सम्यक् एवं सर्वजनीन प्रसार के लिए श्री राम ने सर्वापकारी

एवं आततायी तत्वों के समूल नाश को भी समान रूप में आवश्यक समझा था।

राक्षस–राज रावण द्वारादेवी जानकी के अपहरण की घटना ने उनकी उक्त सुस्थापित धारणा को उग्रता प्रदान करने में विशिष्ट भूमिका निभाई। रावण द्वारा अपहृता सीता के करुण–विलाप को ब्रह्मा सहित अनेक देवी–देवताओं तथा दण्डकारण्य में वास करने वाले ऋषि–मुनियों एवं वनवासियों ने देखा–सुना था किन्तु रावण का विरोध करने का साहस किसी में नहीं था। कापुरुषता का परिचय देते हुए ब्रह्मदेव तक इस दुःखद घटना को रावण–विनाश का शुभ संकेत मान कर मौन रह गये। ऋषि–मुनि भी मात्र इतना सोच कर चुप रह गये कि अब राम अवश्य ही रावण का विनाश कर डालेगें। सम्पूर्ण दण्डकारण्य में मात्र वृद्ध जटायु ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति था जिसने इस जघन्य अपहरण–काण्ड को रोकने में अपने प्राणों का उत्सर्ग तक कर दिया था। अपने आर्यमित्र की कुलवधू की प्रतिष्ठा के रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग का साहस एक वनवासी वृद्ध ही दिखा सका था।

सीता–हरण की घटना ने पुरुषोत्तम श्री राम को यह मानने को विवश कर दिया था कि समाज का उदण्ड व्यक्ति अपनेप्रतिपक्षी में दया, करुणा तथा उदारता आदि गुणों को उसकी कापुरुषता समझ लेता है। अपनी इस धारणा–परिवर्तन को अभिव्यक्ति देते हुए श्री राम ने अपने तेजपुञ्ज अनुज से यह स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, ''समस्त लोकों की सृष्टि के पालन तथा संहार के कर्त्ता त्रिपुर विजयी, शौर्य–सम्पन्न महेश्वर को भी उनके करुणामय स्वभाव के कारण उनके द्वारा धारण किये गये मौन को लोग उनकी दुर्बलता समझ, उनको तिरस्कार का पात्र समझ लेते हैं। लोकहित में तत्पर मेरी भूतानुकम्पा को इन्द्र आदि देवताओं ने मेरी निर्वीयता समझ लिया है। करुणा, दया, शान्ति, उदारता प्रभृति मेरे गुण ही मेरे दोष बन गये हैं। अब अपने समस्त गुणों को समेट कर मुझे अपना तेज

प्रदर्शित करना पड़ेगा''। ''दण्डनीय पुरुष के लिये अनिवार्यदण्ड''के घोर समर्थक इक्ष्वाकुकुलभूषण श्री राम का यही तेज उनकी मानव तथा मानवेतर प्रजा समूहों में उनके अन्ध–समर्थन का प्रमुख कारण बना। सत्य, दया, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, गुरुजनों के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ सेवाभाव तथा प्रजारञ्जन के आप्तगुण मूर्तिमान रूप में उनमें विद्यमान थे ही। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के इन समस्त गुणों के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही निषादों, नागों, वानरों, राक्षसों, दानवों, गन्धर्वों, शबरों आदि मानवेतर समूहों ने अयोध्यापति श्री राम की मानव संस्कृति को सर्वथा महनीया एवं अनुकरणीया मान लिया है। जिस शीघ्रता के साथ इन प्रजातियों द्वारा मानव संस्कारों तथा सभ्यता को अंगीकार किया जा रहा है, वे दिन दूर नहीं जब ये सभी संस्कृतियाँ अपने अस्तित्व को स्वेच्छापूर्वक मानवसंस्कृति के महार्णव में निमज्जित कर अन्तर्ध्यान हो जावेगी।

हम वानरों को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि जब तक इस भारतभूमि पर नारी जाति के पातिव्रत्य की पवित्रता बनी रहेगी, मर्यादा पुरुषोत्त श्री राम के रामराज्य की परिकल्पना भारतीय जनमानस में विद्यमान रहेगी, अपने प्राणप्रिय पति के मन के सन्देह को दूर करने के निमित्त अग्निस्नान करने वाली माता वैदेही की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने वाले ''सीतासरोवर'', 'सीताकुण्ड', 'सीता सेज' जैसे तीर्थस्थल बने रहेगें, प्रज्ञावत्सल प्रभुराम के साथ त्यागमूर्ति देवी सीता भी सम्पूजित होती रहेगीं। जब तक इस धरती पर पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरु–भक्ति की पराकाष्ठा के मूर्तस्वरूप विश्वमान श्री राम की सुकीर्ति का गान होता रहेगा, तीनों लोकों को रुलाने वाले ''लोकरावण'' (रावणः लोकरावणः–वाल्मीकि) के विरुद्ध होने वाले महासमर में आततायी राक्षसों के विरुद्ध उनके तथा उनके पराक्रमपुञ्ज अनुज युवराज लक्ष्मण के अनन्य सहायक के रूप में हम वानरों के त्याग, शौर्य तथा आत्मोसर्ग का सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।... मुझे पूर्ण आश्वस्ति है कि 'श्री रामभक्त हनुमान', तथा 'श्री

रामसखा सुग्रीव' का जब कभी उल्लेख होगा, उल्लेखकर्ता द्वारा अतिसम्मान के साथ मुझ वालिपुत्र युवराज अंगद को भी अवश्य स्मरण किया जावेगा। किष्किन्धा में मेरे राजपद की प्राप्ति पर शेषावतार श्री रामानुज भैया लक्ष्मण द्वारा मझको किष्किन्धा में रुक राजशास्त्रा का प्रदत्त व्यवहारिक प्रशिक्षण कदापि निष्फल नहीं होगा।

अयोध्या से मैं मानव विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता करुणावतार, भक्तवत्सल प्रभु श्री राघवेन्द्र से एक ऐसा अमर–आवश्वासन लेकर लौटा हूँ जो 'वानर–इतिहास' की ''न भूतो न भविष्यति'' घटना सिद्ध होगी। वानरेन्द्र सुग्रीव से चिरंजीविता तथा अपने सतत सान्निध्य का आशीर्वाद पवनपुत्र के भाग में जाने की घटना पर मैंने एक क्षण के लिए दृष्टि उठाकर सर्वज्ञ विश्वेश्वर की ओर देखा था। अपने भक्तों को सर्वस्व प्रदान करने वाले कृपानिधान ने तत्काल प्रतिक्रिया दी, ''माँगो पुत्रा माँगों तुम्हारी क्या इच्छा शेष रह गई है। भावविभोर प्रभु के चरणों में गिरते मेरे मुख से निकला, ''मेरी हार्दिक कामना है कि मुझको राजपद पर अभिषिक्त करने भैया श्री लक्ष्मण मेरे राज्याभिषेक–समारोह में उपस्थित रहें।'' तब कुछ समय तक वहीं रुक मुझे राजधर्म का व्यवहारिक प्रशिक्षण प्रदान करें। अपने प्राणप्रिय अनुज के मुख पर दृष्टि दौड़ा प्रभु ने ''एवमस्तु'' कह मुझको त्रैलोक्य का सर्वसुख दे दिया। {यह मेरा परम सौभाग्य कि मेरी प्रार्थना पर विचार कर शेषावतार भैया श्री लक्ष्मण ने कुछ दिनों किष्किन्धा में रुकने की महती अनुकम्पा की थी।} ईशानुकम्पा से भविष्य में यदि अवसर मिला तो श्री रामानुज के साथ बिताये क्षणों का आत्मानुभव पुनः कभी प्रस्तुत करूँगा.....।

• • • •

सन्दर्भ–संकेत

1. सरकार, (डॉ0) दि0 च0– द ज्योग्राफी आव एंशियण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ. 327। (।।) तु0– भवभूतिकृत–उत्तर रामचरित, अंक–1।
2. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) : 10–3–45; कामन्दक0 20–12–21; अग्नि0पु0 24–2–45।
3. ''अथ काले गते तस्य ज्येष्ठां पुत्रं व्यजायत्।
   असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मज।।6।।
   स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसम्भवः।
   बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन।।20।।
   प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्यं मज्जतस्तान् निरीक्ष्य वै।
   एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः।।21।।
   पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासिता पुरा। $21\frac{1}{2}$ ।
   – वा0रा00 बाल0 48.16–$21\frac{1}{2}$ ।
   (समय बीतने पर उसकी (राजा सगर की) ज्येष्ठ रानी (केशिनी) ने सगरपुत्र असमञ्ज को जन्म दिया! हे रघुनन्दन! सगर का ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज बलपूर्वक बच्चों को सरयू के जल में फेंक देता था तथा हँसता था। तब पिता ने उसे नगर से निर्वासित कर दिया क्योंकि वह सत्पुरुष नगरनिवासियों के दुःख का कारण बन चुका था।)
4. राघव, रांगेय : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1990 का संस्करण– पृ. 187।
5. जैनपुराण कोश, पृ0 357 ।
6. पद्मपुराण पाताल खण्ड के अनुसार जाम्बवान ने श्री राम तक को रामकथा सुनाई थी। सम्बन्धित कृति को ''जाम्बवत् रामायण'' कहा गया है– लेखक।
7. स्कन्द0 पु0 3–2–24।
8. पद्म0 पु0 6.3.151, 206, 84.98 आदि।
9. पूर्वोक्त0 6.160–61।
11. वही0 2. 160–200।

12 वही0 6.520–24, जैन पुराणकोश, पृ. 466।

13. पद्म पु0 6.1–10–12।

14. भागवत0 पु0 9.15.2; हरिवंश 1.27–38; महाभा0 वन0 116.2।

15. कालिका पु0 86।

16. महाभा0 वन0 116–10–11।

17 राघव, रांगेय : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ. 168–711

18. महाभा0 शान्ति 49.57–60।

19. चित्राव, सिद्धेश्वर शास्त्री; प्राचीन चरित्रकोश, पृ. 870।

20. राघव, रांगेय– पूर्वोक्त, पृ. 171।

21. अरुण – भरतीय पुराकोश– ययाति पर लेख।

• • • •

– 13 –
प्रकीर्ण

सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए कतिपय रामायणकालीन– महत्त्वपूर्ण स्थलों; सरिताओं, पर्वतों एवं समकालीय अग्रगण्य ऋषि–मुनियों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण अधोलिखित है। इन्हीं के साथ अन्त में वानरों, गृधों तथा नागों के सम्बन्ध में प्रस्तुत पंक्तियों में सामान्य जन में विद्यमान भ्रम के निवारण का प्रयास भी किया गया है–

(1) कतिपय महत्त्पूर्ण पुरास्थल

अंगदीया :– रामानुज लक्ष्मण के ज्येष्ठ पुत्र अंगद के नाम पर वाल्मीकि रामायण के अनुसार कारुपथ की राजधानी के रूप में बसाई गई नगरी– अंगदीयापुरी रम्याप्यंगदस्य निवेशिता, रमणीया सुगुप्ता च रामेणाक्लिष्ट कर्मणा''।[1] आनन्द बरुआ के मतानुसार उ0प्र0 का वर्तमान शाहाबाद इसी स्थान पर बसा है।[2]

अगस्त्याश्रम :– श्री राम को सुतीक्ष्ण मुनि ने अपने आश्रम से चार योजन=सोलह कोस दक्षिण में अगस्त्य के भाई के आश्रम ''भ्रातुराश्रम'' से एक योजन=चार कोस दूर दक्षिण गहन वन में अगस्त्याश्रम की स्थिति बतलाई थी।[3] अगस्त्य ने राम को पञ्चवटी में निवास की सम्मति दी थी। पञ्चवटी अगस्त्याश्रम से लगभग सात मील पश्चिम गोदावरी तट पर थी। आश्रम की पहिचान नासिक के निकट अकोह्रा से की गई हैं। कुछ नासिक से आगे बम्बई के निकठ इगतपुरी में इसकी स्थिति बताते हैं। एक अन्य अगस्त्याश्रम गया (बिहार) के निकट था जिसकी यत्रा बलराम ने की थी।

अयोध्या :– ''गंगा बड़ी गोदावरी तीरथ बड़ो प्रयाग! सबसे बड़ी अजोधिया जहाँ राम लियो अवतार'' की लोकोक्ति के अनुसार श्रीराम की जन्मभूमि होने के कारण भारत के हिन्दुओं द्वारा सम्पूजित

आधुनिक उ.प्र. के फैजाबाद जनपद मुख्यालय के निकट सरयू नदी के तट पर स्थित यह नगरी प्राचीन भारतीय साहित्य एवं इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। इसकी गणना भारत के मोक्षप्रदायिनी सप्तपुरियों में प्रथमतः की गई है :– ''अयोध्या मथुरा, माया, काशी, कांचिरवन्तिका पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिकाः।'' मनु द्वारा बसाई गई यह नगरी इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी रही है। श्री राम के परमधाम सिधारने के पश्चात् जनशून्य एवं हीन हो चुकी अयोध्यापुरी के (जैन तीर्थंकर) ऋषभदेव के समय पुनः बसने की भविष्यवाणी भी वाल्मीकीय रामायण में की जा चुकी है।[4]

ऋक्ष पर्वत :– विष्णु पुराण (2,3) में इसकी गणना जम्बूद्वीप अथवा भरतखण्ड के सात कुल–पर्वतों में की गई है– ''महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विंध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः''। विध्याचल पर्वत की पूर्वी श्रेणियों को प्राचीन भारतीय इस नाम से जानते थे। नर्मदा, शोण, दशार्ण, पयोष्णी तथा ताप्ती नदियाँ इससे निकली है। स्कन्दपुराण (रेवा खण्ड) में भी नर्मदा का उद्‌गम इसी से माना गया है। रावण के विरुद्ध श्री राम का साथ देने वाले ऋक्ष प्रजाति के वानरों की वासभूमि इसी पर्वतमाला को बताया गया है। ऋक्षराज धूम्र यहीं निवास करता था।[5]

ऋषबिल अथवा स्वयंप्रभागुहा :– सीता के अन्वेषण हेतु अंगर के नेतृत्व में गये भूख–प्यास से व्याकुल वानरों ने एक बिल अथवा गुहा से जलपक्षियों को निकलते देख गुहा के अन्दर पानी की उपलब्धता का अनुमान लगा उसमें प्रवेश किया था। बाल्मीकि ने एक दानव द्वारा रक्षित इस गुहा को ऋक्षबिल कहा है। इसकी पहिचान दक्षिण रेलवे में चैन्नई (मद्रास) के निकटस्थ रेलवे स्टेशन कलयनल्लूर से लगभग एक कि0मी0 दूर स्थित लगभग तीस फीट गहरी गुफा से की गई है। गुफा स्थित तपस्विनी स्वयं प्रभा की कथा वा0 रामायण के किष्किन्धाकाण्ड के सर्ग 50, 51 तथा 52 में दी गई है। अध्यात्म रामायण (किष्कि0 6.53) में स्वयं प्रभा का उल्लेख है। तुलसीदास ने

रामचरित मानस के किष्किन्धाकाण्ड में गुहा का वर्णन करते हुए लिखा है :– ''चढ़िगिरि शिखर चहुँदिशि देखा। भूमि बिवर इक कौतुल पेखा।। चक्रवका बक हंस उड़ाही। बहुतहि खग प्रविशहि तेहि माहीं।।'' स्वयंप्रभा ने अपने तपोबल से समस्त वानरों को आँख बन्द करा क्षणमात्र में ऋक्षबिल से बाहर निकाल दिया था (वा.रा. किष्कि0 52, 26–29)।

ऋष्यमूक :– वानरों की राजधानी किष्किन्धा का निकटवर्ती पर्वत। अपने अग्रज वाली से भयभीत सुग्रीव ने इसी पर्वत पर शरण ले रखा था। राम–सुग्रीव की मैत्री इसी पर्वत पर हुई थी। स्थानीय जनश्रुति के अनुसार प्राचीन विजयनगर के खण्डहरों अथवा हम्पी में स्थित विरुपाक्ष–मन्दिर के निकटवर्ती पर्वत ही ऋष्यमूक हैं विरुपाक्ष मनिदर को घेरती हुई तुंगभद्रा नदी बहती है तथा चक्रतीर्थ का निर्माण करती है। (ऐतिहासिक स्थानावली, पृ. 108–9)। अधिकांश विद्वान तमिलनाडु के अनागुण्डी स्थान से आठ मील की दूरी पर स्थित पर्वत को ऋष्यमूक मानते हैं। विभिन्न धातुओं से विभूषित (वा. रा. 4.1.74) इस गिरिवर (वही, 10.28) अथवा शैलमुख्य (वही 24.7) के ऊपर से होकर श्री राम पुष्पक विमान से वापस अयोध्या लौटे थे (वही. 6.123–38–40)।

कारुपथ :– वा0रा0 (उत्तर0 102.5 एवं 8) में लक्ष्मणपुत्र अंगद द्वारा कारुपथ राज्य की राजधानी के रूप में अंगदीया नगरी बसाई गई। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने कारुपथ को 'कारापथ' कहा है। श्री नन्दलाल डे ने पाकिस्तान के बन्नू जनपद का पार्श्ववर्ती क्षेत्र 'काराबाग' को कारुपथ बताया है। आनन्द राम बरुआ उ0प्र0 के शाहाबाद को कारुपथ की राजधानी अंगदीया से अभिन्न मानते हैं।[6] वाल्मीकि रामायण में कारुपथ को एक रमणीय निरामय देश कहा गया है (वा.रा. 7.102–5)।

किष्किन्धा :– बिलारी से लगभी 90 कि0मी0 उत्तर तथा हापसेट रेलवे स्टेशन से लगभग $3\frac{1}{2}$ कि0मी0 दूर हम्पीग्राम के निकट तुंगमद्रा के किनारे किष्किन्धा का अस्तित्व बताया जाता है। थोड़ी दूर पर हनुमान की माता के नाम का अज्जनीपर्वत स्थित है। कुछ ही दूरी पर ऋष्यमूक पर्वत है जिसको घेर कर तुंगभद्रा बहती है। नदी के दूसरी ओर मध्ययुगीन विजयनगर राज्य की राजधानी के खण्डहर हंपी में स्थित हैं। किष्किन्धा के निकटवर्ती विरुपाक्ष मन्दिर से लगभग छः कि.मी. दूर माल्यवान पर्वत एवं प्रस्रवण गिरि की स्थिति है। किष्किन्धा से लगभग डेढ़ कि.मी. पश्चिम में पम्पासरोवर है। उसके पास ही में शबरी का आश्रम सुरोवन है। महाभारत (सभा0 31.17–18) के अनुसार सहदेव पाण्डव ने मैन्द एवं द्विविद को, वंशजों के हाथों में था। यन्त्रादि से सुरक्षित वाली तथा सुग्रीव की नगरी किष्किन्धा की पहिचान तुंगभद्रा नदी के वाम तट पर स्थित अनेगुंडी गाँव से की गई हैं (ऐति0 स्थाना0, पृ. 190–192)। कतिपय विद्वान इसकी स्थिति आधुनिक कल्याणपुर के निकट के धुलेव से लगभग 6 कि.मी. दक्षिण पूर्व में बताते हैं (इ.ए. XXX भाग 1, जनवरी 1953 पृ. 4)

क्रौञ्चारण्य :– वाल्मीकि रामायण (अरण्य. सर्ग 69, श्लोक 5) के अनुसार सीता की खोज में राम–लक्ष्मण ने जनस्थान में पंचवटी से चल कर तीन कोस दूर स्थित क्रौञ्चवन में प्रवेश किया था। घने क्रौञ्च वन को पार कर तीन कोस की दूरी पर स्थित मतंगाश्रम में दोनों तेजस्वी रघुवंशी पहुँचे थे (वा0रा0 69.8)। इस से स्पष्ट हो जाता है कि क्रौञ्चारण्य जन स्थान तथा मतंगाश्रम के मध्य स्थित था। महाकवि भवभूति के अनुसार क्रौञ्चारण्य, क्रौञ्चगिरि पर स्थित था (उत्तर राम चरित. 2.19)। इसकी पहिचान वेल्लारी (मैसूर) से लगभग 9 कि.मी. पूर्व में स्थित पर्वत से की गई है (ऐतिहासिक स्थानावली, पृ. 24–8)। सुग्रीव ने इस दुर्लंघ्य पर्वत माला में देवी जानकी के अनुसंधनार्थ उत्तरदिशा को जाने वाले

कपिदल के नायक वानर यूथपति शतबलि को भेजा था (वा.रा. किष्कि. 43.25–27)।

चित्रकूट :– राम, सीता तथा लक्ष्मण द्वारा वनवास–अवधिका अधिकांश समय यहीं व्यतीत करने के कारण वाल्मीकि रामायण सहित समस्त अन्य ग्रन्थों में वर्णित अनेक धातुओं से विभूषित इस स्थान को चित्रकूट कहा जाता था। प्रयाग स्थित भारद्वाज–आश्रम से इसकी दूरी दस कोस बताई गई है (वा.रा. अयोध्या. 54.28) जबकि आजकल यह दूरी चौगुनी है। स्पष्ट है गंगा–यमुना नदियों के द्वारा मार्ग–परिवर्तन के कारण यह दूरी बड़ी है। चित्रकूट स्थित कामद गिरि का आधुनिक परिक्रमामार्ग पाँच कि0मी0 से कुछ अधिक ही है। यहाँ से लगभग दस कि0मी0 पश्चिमोत्तर में सुप्रसिद्ध भरतकूप है। पास ही में गुप्तगोदावरी की अनवरत जल–प्रवाहिनी गुफा है। चित्रकूट से सटी मदाकिनी नदी बहती है। पास ही में सती अनुसूयया का आश्रम तथा स्फटिक शिला है। उ0प्र0 में जनपद बाँदा स्थित चित्रकूट के सन्निकट नवसृजित जनपद का मुख्यालय यहीं में बनाया गया है। मन्दाकिनी तथा पयस्विनी (पैशुनी) के मिलन स्थान 'संगम' को राघवतीर्थ कं रूप में मान्य किया गया है। आधुनिक विद्वान पयस्सिवनी को मन्दाकिनी की उपशाखा मानते हैं। चित्रकूट से लगभग पन्द्रह कि0मी0 उत्तर वर्तमान हनुमानधारा है।

तमसा :– इस समय यह नदी अयोध्या से लगभग 20 कि0मी0 दक्षिण में बहती हुई अकबरपुर (वर्तमान अम्बेडकर नगर–उ0प्र0) के पास बिस्वी नदी में मिल जाती है। यहाँ दोनों का सम्मिलित नाम टौंस हो जाता है जो मऊनाथ भंजनके जनपद मुख्यालय से सट कर बहती हुई जनपद बलिया (उ0प्र0) में गंगा में मिल जाती है। वनगमन के समय राम, लक्ष्मण तथा सीता ने पहली रात तमसा नदी के तट पर ही व्यतीत किया था। वाल्मीकि रामायण में अनेकशः (अयोध्या0 46.1–2, 45.32–33, 46.16; 46, 28 आदि) तमसा उल्लिखित है। आदि कवि ने तमसा को शीघ्रतापूर्वक बहने

वाली तथा भ्रमरों से भरपूर कहा है। रघुवंश में कालिदास ने वाल्मीकि आश्रम को तमसा तट पर बताया है (रघु0 14.76)। भवभूति ने इसका समर्थन उत्तमरामचरित में किया है। तमसा तट पर ही निषाद द्वारा क्रौञ्च पक्षी के वध से दुःखी वाल्मीकि के मुख से लौकिक संस्कृतसाहित्य का पहिला श्लोक निसृत हुआ था। तुलसीदास ने भी मानस में कहा है कि ''तमसा प्रथम दिवस कारि वासू। दूसर गोमति तीर निवासू'' अर्थात् वन जाते समय राम आदि ने प्रथम रात्रि तमसा तथा दूसरी रात गोमती तट पर व्यतीत किया था। तमसा के जल में भ्रमरों (भँवरों) का बाहुल्य था (वा.रा. अयोध्या. 46.28)।

तुंगभद्रा :– तुंग तथा भद्र नामक दो पर्वत श्रेणियों से निकलने वाले दो सोतों का सामूहिक नाम तुंगभद्रा है। इसका उद्गमस्थल गंगामूल कहलाता (इण्डियन एण्टीक्वेरी, पृ. 212) है। श्रीमद् भागवत (5.19.18), पद्मपुराण (178.3) में इसका उल्लेख है। महाभारत (भीष्म.2:27) में वर्णित तुंगवेणा संभवतः तुंग भद्रा ही है। प्रसंगवश इसका उल्लेख ऋष्यमूक एवं किष्किन्धा के विवरण में किया जा चुका है।

दण्डकाराण्य :– यह वन विध्याचल से कृष्णा नदी के काँठे तक विस्तृत था। पार्जिटर ने इसको बुन्देलखण्ड से कृष्णा नदी तक विस्तृत माना है (ज0रा0ए0.सो0 1894, पृ. 242)। श्रीराम ने सीता तथा लक्ष्मण के साथ चित्रकूट एवं ात्रि–आश्रम छोड़ने के पश्चात् इसमें प्रवेश किया था। वाल्मीकि (रामयण. उत्तर. 92.18) के अनुसार दण्ड द्वारा बसाये दण्डक राज्य की राजधानी मधुमत्त थी। भवभूति के अनुसार (उत्तररामचरित. अंक. 1) दण्डकारण्य जनस्थान से लगभग सटा हुआ। पश्चिम दिशा में था। विद्वत्गण प्रायः जनस्थान को दण्डकवन का ही भाग मानते हैं (वा.रा. 7.81.19)। विश्वामित्र का एक आश्रम यहाँ स्थित था (वा.रा. 3.38.12–13)। राजा दण्ड के नाम पर 'दण्डकारण्य' कहलाने वाला भू–भाग विंध्य एवं शैवलपर्वतों के मध्य स्थित था (वा.रा. उत्तर. 81.18–19)।

दक्षिणापथ :– विनध्याचल के दक्षिण में स्थित भू–भाग को स्थूल रूप से दक्षिणपथ कहा जाता है। विध्याचल के उत्तरी भाग को मोटे तौर पर उत्तरापथ की संज्ञा दी जाती है। विंध्य के जंगल–बहुल क्षेत्र में बसे राक्षसों का दमन कर महर्षि अगस्त्य ने इस भू–भाग को आर्य–मनुष्यों के शरण लेने योग्य बनाया था (वा0रा0 3.11.81–84)।

द्रोणाचल – द्रोणाचल, द्रोणगिरि अथवा द्रोण पर्वत का उल्लेख लंका की युद्धभूमि में लक्ष्मण की मूच्छा को समाप्त करने के लिए वहाँ से दिव्य औषधि लाने के प्रसंग में हुआ है (वा.रा. युद्ध. 74)। वहाँ इसकी स्थिति हिमालय के कैलाश तथा ऋषभ पर्वतों के मध्य बताई गई है। अध्यात्मरामायण (युद्ध. 5,72) में पर्वत का नाम 'द्रोणगिरि' तथा औषधि का नाम संजीवनी दिया गया ह। इसकी निश्चित पहिचान नहीं हो सकी है, किन्तु संभव है वाल्मीक रामायण का द्रोणगिरि बदरीनाथ एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्रों से दिखलाई देने वाला द्रोणाचल था (ऐति. स्थाना0 प1. 456)

धनुष्कोटि :– रामेश्वरम् से लगभग 18 कि0मी0 दूर भारतीय प्रायदीप का वह भाग जो समुद्र में नोक की भाँति घुसा हुआ है 'धनुष्कोटि' है। कहा जाता है कि लंका की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए श्री राम ने अपने धनुष की नोक से दबा कर पारगामी सेतु को समुद्र में डुबो दिया था। नासा के आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस सेतु के अस्तित्व को समुद्र तल में ढूँढ़ निकाला है। स्कन्दपुराण (सेतुमहात्म्य. 33.65) में धनुष्कोटि को महान् तीर्थ कहा गया है।

नन्दिग्राम :– वा.रा. (युद्ध. 125.28–29) के अनुसार अयोध्या से एक कोस दूर स्थित था। हनुमान ने यहीं पर भरत को श्री राम आदि के सकुशल लौटने की सूचना दी थी। इसकी स्थिति अयोध्या के पूर्व दिशा में बताई गई है (वा0रा0 2.115, 10)।

पञ्चवटी :– नासिक के निकट स्थित पञ्चवटी में राम, सीता एवं लक्ष्मण ने वनवास–अवधि में काफी दिनों तक प्रवास किया था। गृधराज जटायु से श्री राम का परिचय यहीं हुआ था। अश्वत्थ

(पीपल) आमलक, बट, बिल्ब तथा अशोक इन पाँच पेड़ों की उपस्थिति के कारण इसका पंचवटी नाम पड़ा। मारीचवध तथा शूर्पणखा की नाक तथा कान यहीं काटे गये थे। गोदावरी तट पर स्थित पंचवटी का वर्णन वाल्मीकि आकर्षक ढंग से किया हैं कालिदास के रघुवंश, भवभूति के उत्तर रामचरित, अध्यात्म रामायण में पंचवटी का मनोरम वर्णन हे। रामचरित मानस के अनुसार महर्षि अगस्त्य ने श्री राम को पंचवटी–निवास का सुझाव देते हुए कहा था, ''हे प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ।''... ''चले राम मुनि आयसु पाई। तुरत हि पंचवटी नियराई।।''..''गृधराज सौ भेंट भई बहुविधि प्रीति दृढाय। गोदावरी समीप प्रभु पर्णगृह छाय।।'' पंचवटी के निकट नासिक में शूर्पणखा का अंगभंग हुआ था। गोदावरी अथवा गौतमी नदी का उद्गम त्र्यम्बकेश्वर पंचवटी से लगभग 30 कि.मी. दूर है। नासिक से लगभग तीन कि.मी. दूर गौतम ऋषि का आश्रम है। ''कृते तु पद्मनगरं, त्रेतायां तु त्रिकंटकम्, द्वापरे जनस्थान कलौ नासिकमुच्यते'' के अनुसार नासिक को ही विभिन्न युगों में पद्मनगर (सत्ययुग), त्रिकंटक (त्रेतायुग) तथा नासिक (कलियुग) कहा गया है (ऐति. स्थाना. 0.413)।

पम्पासर :– तुंगभद्रा पार कर हंपी के निकट बसे अनेगुन्दी गाँव के निकट से होकर जाने वाले मुख्यमार्ग से थोड़ी दूर हटकर पश्चिम दिशा में पम्पासर की स्थिति है। इसी के निकट स्थित शबरी आश्रम का तदात्म्य किष्किन्धा के निकटवर्ती सुरोवनम् से किया गया है। पंपा के निकट की मतंगवन में मतंग ऋषि के आश्रम श्री ऋष्यमूल के निकटस्थ पहाड़ी को आज भी मतंगपर्वत कहा जाता है। अध्यात्म रामायण (किष्कि0 1.1.2–3) में पंपासरोवर को एक कोस विस्तार वाला अगाध सरोवर कहा गया है। वाल्मीकि के अनुसार श्री राम ने पंपासरोवर के निकटस्थ मतंगसरोवर में स्नान किया था (वा0रा0 अरण्य. 75.14)।

मधुवन :– वानरराज सुग्रीव के इस प्रिय बन को सीता के सफल अनुसन्धान के पश्चात् लौटे वानरों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया (वा. रा. सुन्दर. 62.31) था। स्थानीय जनश्रुति के अनुसार पूर्व मैसूर राज्य में स्थित राजगिरि की पहिचान मधुवन से की गई है। आधुनिक बंगलुरु–मैसूर–रेलपथ के मद्दर स्टेशन से लगभग 18 कि.मी. दूर इसकी स्थिति बताई गई है। सुग्रीव के इस वन की उनके मातुल रक्षा किया करते थे। वह दधिमुख अथवा दधिवक्त्र के नाम से सुख्यात् थे। लंकायुद्ध में इन्द्रजित के विरुद्ध शौर्य–प्रदर्शन कर आहत हुए थे (वा.रा. 6.73.59)। श्री राम द्वारा सत्कृत वानरों में यह भी था (वा.रा. 7.39.22)।

लंका :– आधुनिकतम वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा दक्षिणसमुद्र में भारत–श्रीलंका के मध्य समुद्र पर निर्मित सेतु के अवशेष मिल जाने के कारण वर्त्तमान सीलोन से रावण की लंका का तदात्म्य प्रायः निर्विवाद हो गया है। अपनी सुसम्पन्नता की पराकाष्टा के कारण पुरातन साहित्य में लंका को स्वर्णमयी नगरी कहा गया है। आधुनिक सीलोन में अनेक स्थान ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध राम एवं हनुमान आदि से जोड़ा जाता है।

वाल्मीकि आश्रम :– आदि कवि के जीवन काल में रामायण–काल में कम से कम दो स्थानों पर वाल्मीकि आश्रम अवश्य स्थापित थे। पहिला आश्रम आधुनिक चित्रकूट के निकट जनपद मुख्यालय कर्वी के निकट कर्वी–इलाहाबाद मार्ग पर लालगढ़ की पहाड़ी में स्थित बछोई ग्राम के आस–पास था। भारद्वाज आश्रम (प्रयाग) से चलकर राम सीता एवं लक्ष्मण ने तुलसीदास (अयोध्याकाण्ड) के शब्दों में– ''देखत वन सर शैल सुहाये। वाल्मीकि आश्रम प्रभु आए।।'' वा. रा. में अन्यत्र (उत्तर काण्ड) गंगा पार तमसा नदी के तट पर स्थित दूसरे वाल्मीकि–आश्रम में लक्ष्मण ने गर्भवती सीता को वाल्मीकि के संरक्षण में छोड़ा था। कालिदास (रघुवंश. 14.76) भी इसका समर्थन करते हैं।

शरभंग–आश्रम :– वनवास के समय राम, सीता तथा लक्ष्मण द्वारा जिस शरभंग आश्रम का भ्रमण किया गया था वह निश्चित रूप से चित्रकूट के निकट था। इसकी पहिचान इलाहाबाद–मानिकपुर रेल–र्मा पर जैतवारा रेलवे स्टेशन से लगभग 21–22 कि.मी. दूर वन में स्थित शरभंग नामक स्थल से किया जाना उचित प्रतीत होता है। वाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास द्वारा वर्णित शरभंगाश्रम की स्थिति यहीं स्वाभाविक लगती है। विराध का वधस्थल यहीं आस पास में होना चाहिए। चित्रकूट से दक्षिण दिशा में पत्नी सहित सानुज श्रीराम को विराध ने शरभंग आश्रम जाने की सलाह दी थी (वा.रा. 3.4.20–21)।

शृंगवेरपुर :– राम–सरवा निषादराज गुह की राजधानी शृंगवरेपुर की पहिचान प्रयाग से अठारह मील उत्तर पश्चिम में स्थित सिंगरौर से की गई है। रामकथा से सम्बन्धित प्रायः सभी ग्रन्थों (वा. रामायण, अध्यात्म रामायण, रामचरित मानस आदि) में इस स्थान का वर्णन है। मुगलसम्राट अकबर के समकालीन तुलसीदास ने शृंगवेरपुर की सिंगरौर से पहिचान को विवाद रहित बना दिया है {''सीता सचिव सहित दोउ भाई। शृंगवेरपुर पहुँचे जाई।। अनुज सहित शिर जटा बनाए। देखि सुमन्त्र नयन जल छाए।। केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गंवाई।।'' –अयोध्याकाण्ड}। उत्तरप्रदेश के इलाहाबाद जनपद में सिंगरौर नामक स्थान के पर्यटक स्थल बनाने का प्रयास हो रहा है।

{2}

कतिपय महत्त्वपूर्ण व्यक्ति

अगस्त्य :– ऋग्वेद के मंत्रों के रचनाकार ऋग्वैदिक ऋषि अगस्त्य की कुल–परम्परा के राम के वरिष्ठ समकालीन ऋषि अथवा महामुनि। अगस्त्य नामक किसी ऋषि ने विंध्याचल के दक्षिण स्थित घोर वनाञ्चलीय क्षेत्रों में मानवों की आर्यसंस्कृत का प्रसार–प्रचार किया था। अगस्त्य कुल का दक्षिण भारत से सम्बन्ध अनेक पीढ़ियों

तक निरन्तर बना रहा। वनवासी राम ने सुतीक्ष्ण आश्रम से पाँच योजन दक्षिण घने वन क्षेत्र में स्थित अगस्त्याश्रम में जाकर ऋषि से भेंट की थी (वा.रा.अरण्य. 12वाँ सर्ग)। श्री राम द्वारा पूछने पर महर्षि ने अपने आश्रम से दो योजन दूर (इतौ द्वियोजने तात....'') स्थित पञ्चवटी में पर्णकुटीर बना राम, सीता एवं लक्ष्मण को निवास करने की सम्मति दी थी। राक्षसों से राम के संघर्ष को अवश्यम्भावी मान इस महर्षि ने राम को हीरा तथा स्वर्ण खचित वैष्णव धनुष, ब्रह्मशिर बाण, इन्द्र–प्रदत्त दो देदीप्यमान अक्षय तूणीर, स्वर्णखड्गकोष सहित स्वर्ण जटित तलवार प्रदान किया था (वा.रा. अरण्य. 12.32–33)। रावण पर श्रीराम के बाणों के वाञ्छित् प्रभाव को निष्फल देख इन्होंने राघवेन्द्र को आदित्य हृदय–स्रोत की दीक्षा दी थी। पुराणों में अगस्त्य को लंकावासी (मत्स्य0.61.51) दक्षिण–विजेता (ब्रह्मपुराण. 118.159) भी कहा गया है। मित्रावरुण महर्षि अगस्त्य के पिता एवं स्वर्गवेश्या अप्सरा उर्वशी इनकी माता थी। महर्षिवसिष्ठ इनके अनुज थे। वसिष्ठ कुल के प्रारम्भकर्ता वही वशिष्ठ थे। अगस्त्य का विवाह विदर्भराजकन्या लोपामुद्रा से हुआ था। वैदिक मंत्रों की रचयिता लोपामुद्रा की कृपा से काशी–नरेश प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने दीर्घायु प्राप्त की थी (वायु. 92.67, ब्रह्माण्ड 11.53)। वस्तुतः आदि अगस्त्य राघव राम से तीस पीढ़ी पहिले हुए थे। स्पष्टतया राम के समकालीन अगस्त्य उसी कुल परम्परा के वरिष्ठ समकालीन थे।

अत्रि :– अगस्त की भाँति राम के समकालीन अत्रि तथा उनकी पत्नी अनुसूयया भी वैदिक सूक्तकार अत्रि तथा अनुसूयया के वंशजों में थे। अत्रि को प्रजापति ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है। अनसूयया दक्ष प्रजापति एवं प्रसूति की सन्तान थी। सोम (चन्द्र), दत्त (दत्तात्रेय) तथा दुर्वासा नामक तीन पुत्रों के पिता–माता थे– अत्रि–अनसूयया। ऋग्वेद में अश्विनों द्वारा अत्रि के ताप–हरण की कथा आई है (ऋ0वे0 1.122.7)। लोकशासित शासनपद्धति का यह घोर समर्थक था (ऋ0वे0 5.66)। अत्रि की गणना मनु 'आदिपुरुष'

अथवा स्वायंभुव मनु के समकालीन सप्तर्षियों में– अंगिरस, 'अत्रि' क्रतु पुलस्त्य पुलह, मरीचि तथा वसिष्ठ में की गई है (प्राचीन चरित्र कोश, पृ. 607)। पुरातन परम्परा का अनुकरण करने के कारण राम के समकालीन अत्रिवंशज तथा उनकी पत्नी अनसूयया अपने आदिपुरुष तथा प्रथम स्त्री के नामों से ही सम्बोधित होती थीं। वाल्मीकि ने सीता को उपदेश तथा दिव्य वस्त्रादि देने वाली अनसूयया को पर्याप्त वय का बतलाया है। प्राणिमात्र के हित की रक्षा के निमित्त सतत् सक्रिय 'धर्मज्ञ' तथा 'ऋषिसत्तम' अत्रि के आश्रम के निकट श्री राम द्वारा विराध का वध किया गया था (वा.रा. 6.123.49)।

अहल्या :– राजा मुद्गल वृद्धाश्व की मेनका से उत्पन्न अद्वितीय सुन्दरी कन्या अहल्या का विवाह गौतम ऋषि से हुआ था। इसकी गणना सूक्तद्रष्टा सप्तर्षियों– 1. भारद्वाज बार्हस्पत्य 2. काश्यप मारीच 3. गौतम राहूगण 4. अत्रि भौम 5.विश्वामित्र गाथिन् 6. जमदग्नि भार्गव तथा 7. वसिष्ठ मैत्रावारुणि (अगस्त्य का अनुज) में की गई है (ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी)। महाभारत में उत्तर दिशा के सप्तर्षियों में अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज तथा विश्वामित्र के साथ इसकी भी गणना की गई है। स्पष्टतया वैदिक गौतम–अहल्या राम के समकालीन समान नाम धारियों से भिन्न थे। उल्लेखनीय है कि अयोध्या के संस्थापक तथा राम से चौहत्तर पीढ़ी पूर्व उत्पन्न हुए तथा मनु के पश्चात् अयोध्यानरेश बने महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र निमि जिसने अलग राज्य की स्थापना की थी के शुभेच्छु थे गौतम ऋषि। इसी निमि के पुत्र मिथि जनक जो विदेह जनके के नाम से सुप्रसिद्ध हुए थे, ने मिथिला की स्थापना की थी। राम के समकालीन मिथिलानरेश अथवा जनक का वास्तविक नाम सीरध्वज जनक था। सीरध्वज की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज कुशध्वज मिथिलापति बने थे। देवेन्द्र द्वारा कपटपूर्वक इसके सतीत्व हरण के कारण गौतमऋषि द्वारा परित्यक्त अहल्या को वाल्मीक रामायण में दुर्वृत्ता' एवं 'दुष्चारिणी' आदि कहा गया है (1.48.32–33)। श्रीराम ने इसको शापमुक्त कर

(वा.रा. 1.49.16, तथा 6.3028–46) सम्पूर्ण नारी जाति के प्रति सदाशयता का परिचय दिया था।

सुतीक्ष्ण :– चित्रकूट से प्रस्थान कर सीता सहित सानुज श्री राम ने दक्षिण दिशा में घने वन क्षेत्र में प्रवेश किया था। मार्ग में विराध ा राक्षस के वध के पश्चात् तीनों शरभंग ऋषि के आश्रम में पहुँचे थे। शरभंग के आश्रम से दक्षिण दिशा के घोर वन क्षेत्र के अनेक नदी नालों को पार करते हुए तीनों वनवासी सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम में पहुँचे थे। सुतीक्ष्ण महर्षि व्यास के शिष्य थे। महर्षि ने इनको ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की शिक्षा दी (योग–वाशिष्ट. 1)। राम ने सीता तथा लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण–आश्रम में दो रात्रि–विश्राम किया था। पहला रात्रि विश्राम शरभंग आश्रम से आने पर किया गया था (वा.रा. अरण्य. सर्ग 8)। वहाँ से चलकर आस–पास के अनेक आश्रमों तथा पंचाप्सर तीर्थ का भ्रमण कर तीनों वनवासियों ने वापस लौट सुतीक्ष्ण–आश्रम में दूसरी बार रात्रि–विश्राम किया (वा.रा. वही, सर्ग 8)। सुतीक्ष्ण ने श्री राम से भेंट के निमित्त देवराज इन्द्र के साथ स्वर्गलोक जाने का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया था। राम द्वारा सुतीक्ष्ण–आश्रम में वनवास–अवधि व्यतीत करने तक रुकने का प्रस्ताव अस्वीकार करने पर सुतीक्ष्ण ने राम को महर्षि अगस्त्य से मिलने का सुझाव दिया था। राम को मुनि द्वारा बताया गया था कि सुतीक्ष्ण–आश्रम से चार योजन अथवा सोलह कोस दक्षिण दिशा में सघन वन में महामुनि अगस्त्य के भाई का आश्रम –''भ्रातुराश्रम'' है (वा.रा. अरण्य. र्स 11, श्लोक 37)। वहाँ पर रात्रि विश्राम कर और अधिक सघन वन में दक्षिण दिशा में स्थित अगस्त्याश्रम पहुँचा जा सकता। सुतीक्ष्ण का चरणस्पर्श कर सानुज श्री राम ने अपनी धर्मपत्नी सीता तथा कतिपय दण्डकारण्य वासी मुनिजनों के साथ सुतीक्ष्ण आश्रम से दक्षिण दिशा के लिए प्रस्थान किया था। लंका विजय कर लौटते समय श्री राम ने देवी सीता को पुष्पक विमान से सुतीक्ष्ण आश्रम को दिखलाया था (वा.रा. 6.123.47)।

शरभंग :– विराध–वध के पश्चात् सर्वप्रथम प्रमुख जानकी, लक्ष्मण के साथ महामुनि शरभंग के आश्रम में पदार्पण किया था। राम द्वारा कुछ समय पहिले महामुनि से इन्द्र के आकर मिलने के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा था ''इन्द्र मुझको ब्रह्मलोक ले जाने के लिए आये थे किन्तु मैंने अपने तपोबल से यह जान लिया था, कि आप आश्रम से थोड़ी दूर हो। मैंने आपका दर्शन किये बिना स्वर्गलोक जाने से मना कर दिया। मैंने देवेन्द्र से कह दिया कि दशरथननदन राम से मिलकर ही ब्रह्मलोक जाऊँगा अन्यथा नहीं।'' सीता सहित सुखपूर्वक वनवास अवधि व्यतीत करने के लिए उपयुक्त स्थान के विषय में पूछने पर इन्होंने तपोलीन सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाने का सुझाव दिया था। राम का सत्कार करने के उपरान्त आत्म तेज से उत्पन्न ऋषि ने अग्नि में स्वयं को समर्पित कर दिया था (वा.रा. अरण्य. सर्ग 5)। शरभंग आश्रम का उल्लेख इसी ग्रन्थ में पहिले किया जा चुका है।

भरद्वाज :– अपने नाम से कुल की स्थापना करने वाला आदि भरद्वाज ऋग्वेद के छठवें मण्डल के अनेक सूक्तों का प्रणयनकर्ता था (ऋ.वे. 6.15, आदि)। दूसरा सुप्रसिद्ध भरद्वाज अंगिरस बृहस्पति का पुत्र था। इसकी माँ ममता नाम धारी थी। यह काशी–नरेश सुख्यात् सुदास का पुरोहित था। कहा जाता है कि इसी के कुशल पौरोहित्य के कारण दिवोदास–पुत्र प्रतर्दन ने वीतहव्य तथा ऐलों को पराजित किया था (महाभा. अनु. 34.17)। इसका समर्थन अन्य स्रोत भी करते हैं (कठ संहिता (लिपझिक 1912, 21.10; पंचविशब्राह्मण 15. 37)। भरद्वाज नामक एक अन्य ऋषि पुरुसम्राट भरत को पुत्र रूप में प्राप्त हुआ था। अंगिरसकुलोत्पन्न एक अन्य भरद्वाज, विश्वामित्र के पुत्र रैम्य का परम मित्र था। रैम्य द्वारा अपने पुत्र यवक्रीत की हत्या के पश्चात् आत्महत्या को दृढ़संकल्पित भरद्वाज को विरत करने के निमित्त रैम्य–पुत्र अर्वावु ने भरद्वाज के पुत्र को पुनर्जीवित किया था (महाभा0व0 135–138)। पाँचवा भरद्वाज पूर्व भन्वन्तर का एक ब्रह्मर्षि

तथ धृताची अप्सरा से उत्पन्न श्रुतावती नामक कन्या का जनक था (महाभा. शल्य. 47)। वाल्मीकि ऋषि के शिष्य तथा राम के वरिष्ठ समकालीन भरद्वाज ऋषि का सुप्रसिद्ध आश्रम प्रयाग में था। शृंगवेरपुर से चलकर वनवासी राघवबन्धुओं ने जानकी सहित इस आश्रम में पहुँच कर महर्षि को प्रणाम किया था। रामद्वारा प्रयाग–आश्रम में बनवास–अवधि बताने के लिए अवध से निकटता के कारण उपयुक्त स्थल न मानने पर भरद्वाज मुनि ने उनको चित्रकूट में बनवास अवधि व्यतीत करने का सुझाव दिया था। श्री राम आदि ने चौथा रात्रि–विश्राम भरद्वाज–आश्रम में किया था (वा.रा. अयोध्या. सर्ग 54)। पाँचवे दिन राम, सीता तथा लक्ष्मण ने प्रातः काल भरद्वाज आश्रम से चित्रकूट के लिए प्रस्थान किया था। श्री राम के मार्ग का अनुसरण करते हुए राजकुमार भरत ने, अमात्यों, राजमाताओं तथा वसिष्ठ सहित भरद्वाज ऋषि का आतिथ्य स्वीकार किया था। महाभारत काल में उत्पन्न एक अन्य भरद्वाज के पुत्र सुप्रसिद्ध द्रोणाचार्य हुए। धनुर्वेद के समकालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोण का वध उन्हीं कि शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने किया था।

वाल्मीकि :– रामवन गमन के समय भरद्वाज ऋषि ने गुरुवर वाल्मीकि अपने चित्रकूट स्थित आश्रम में निवास कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उनका आश्रम तमसा नदी के तट पर था। यहीं पर काममोहित मिथुनरत क्रौञ्च को निषाद द्वारा मारा जाता देख उनके मुख से सहसा निकल पड़ा था :–

''मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः क्षमा।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेक वधीः काममोहितम्।''

(वा0रा0 1.2.3–15)।

अर्थात् 'हे निषद! तुम इस लोक में कभी भी प्रतिष्ठा के पात्र नहीं बन पाओगे, क्योंकि तुमने कममोहित मिथुनरत क्रौञ्च के जोड़ों में से एक को मार डाला है।'' इस आदि श्लोक के वाल्मीकि के मुख

से उच्चारण से प्रसन्न ब्रह्मदेव ने ऋषि को लौकिक छन्द में रामकथा लिखने का निर्देश दिया था। ऋषि–मुख से इस श्लोक के उच्चारण तथा सम्बन्धित घटना का चक्षुदर्शी वाल्मीकि का प्रमुख शिष्य भरद्वाज था (वा.रा. बाल. 2.7–21)। राम वनगमन के समय आदि कवि चित्रकूट स्थित आदि कवि के आश्रम में सीता सहित राघव बन्धु पहुँचे थे। वर्तमान जिला–मुख्यालय कर्वी के निकट कर्वी–इलाहाबाद मार्ग पर कर्वी से अनतिदूर वर्तमान लालगढ़ में तत्कालीन वाल्मीकि–आश्रम की स्थिति बताई गई है। कुछ लोग आदि कवि को श्री रामकालीन मानते हैं किन्तु आधुनिक समीक्षकों के अनुसार महाकवि ने रामायण की रचना पाणिनि के अष्टाध्यायी के पश्चात् तीसरी शती ई.पू. में की थी। रामायण के अध्ययन से यह स्पट वीदित होता है कि वाल्मीकि का उत्तरभारत विषयक सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा पुरैतिहासिक ज्ञान पर्याप्त समृद्ध था। किन्तु दक्षिण भारत के विषय में उन्होंने स्पष्ट जानकारी के अभाव में उत्तर भारत के लोगों में दक्षिण भारतीय जनसमूहों विशेषकर वानरों, गरुड़ों, गृद्धों, नागों आदि के विषय में प्रचलित विभिन्न धारणाओं तथा दन्त कथाओं का ही पृष्टपोषण किया है। इन्हीं धारणाओं के चलते वाल्मीकि ने वानरों को शाखामृग, कपि जैसे बन्दर सूचक विशेषणों का प्रयोग कर वृक्षों पर रहने वाले बन्दर नामक पशु से अभिन्न बना दिया है। इसी भाँति जटायु गरुड़ प्रजाति का एक मानव तथा अपने समूह का राजा था। जो प्रजारञ्जन में प्रवीण था (वा.रा. अरण्य. 14.3; 33; महाभा. आदि0 60.67)। इसका सहोदर सम्पाति भी गीधों की पूजा करने वाले आदिवासियों के एक समूह का राजाथा। दोनों स्वयं को मानव मानते थे (वा.रा. किष्कि. 56.4), किन्तु वाल्मीकि रामायण में ही दोनों का निर्देश पुनः–पुनः गीध पक्षी के रूप में किया गया है।

विश्वामित्र :– वैदिक विश्वामित्र तथा उनके समकालीन वसिष्ठ की प्रतिद्वंद्विता के अनेक प्रकरण वैदिक एवं अन्य पुरातन साहित्य में उल्लिखित हैं। यही विश्वामित्र अनेक कुलों का प्रथम

पुरुष अथवा कुलमुख्य था। श्री राम के समय विश्वमित्र का प्रमुख आश्रम– 'सिद्धाश्रम' बक्सर (जनपद–शाहाबाद–बिहार) के सन्निकट था। यही विश्वामित्र श्रीराम–लक्ष्मण को लेकर सिद्धाश्रम गया था तथा वन में राक्षसी ताटका तथा सुबाहु का वध कराया था। राक्षस मारीच ने पलायन कर अपने प्राणों की रक्षा की थी। ताड़का तथा सुबाहु के वध के पश्चात् अपने समय सर्वश्रेष्ठ आयुधाचार्य कौशिक मुनि (विश्वामित्र) ने राम को मन्त्र सहित देवदुर्लभ अनेक दिव्यास्त्र प्रदान किया था। विश्वामित्र की प्रेरणा से ही राम ने शापित होने के कारण समाज से वहिष्कृत अहल्या को समाज में पुनः प्रतिष्ठित कराया था (वाल्मीकिरामयण)। देवेन्द्र के कपट जाल में आबद्ध अहल्याका पक्ष सुने बिना ही उसके पति गौतम ऋषि ने उसका परित्याग कर दिया था। दृढ़मानसिक शक्ति के बल पर वायुभक्षण मात्र का आश्रय ले कठोर ब्रतधारण करने वाली अहल्या को महर्षि विश्वामित्र की प्रेरणा से ही श्री राम ने प्रतिठित सर्वसमाज द्वारा स्वीकर्य बनाया था।

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड के प्रथम सर्ग में श्री राम के राज्यारोहण के पश्चात वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम, जगदग्नि एवं भरद्वाज नामक सप्तर्षियों के अयोध्यापति के अभिनन्दनार्थ आने का उल्लेख है (श्लोक– 6 एव 7)। स्पष्ट रूप से ये ऋषिगण वर्त्तमान मन्वन्तर के थे। इन ऋषियों ने लंका के रावण, कुम्भकर्ण, प्रहस्त, विकट, विरुपाक्ष, महोदर, दुर्द्धर्ष, अकम्पन, त्रिसिरा, अतिकाय, देवान्तक, नरान्तक, कुम्भ, निकुम्भ, यज्ञकोष, मत्त, धूम्राक्ष, युद्धोमत्त जैसे रणदुर्दभ राक्षस परमवीरों से बढ़–चढ़ कर मेघनाद को स्थान दिया था। इन सप्तऋषियों में ब्रह्मा के मानसपुत्र एवं प्रजापति के रूप मे पूज्य कश्यप निश्चित रूप से चिरपुरातन ऋषि थे। भरद्वाज ऋषि त्रेतायुग के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए थे। इन्द्र का विरोध स्वीकार कर अश्विनकुमारों को यज्ञों में हविर्भाग दिलाने वाले महर्षि अत्रि की प्राचीनता भी असंदिग्ध है (मरीचि, अंगिरा पुलस्त्य पुलह एवं क्रतुसहित

अत्रि को प्रजापति कहा गया है – लेखक) ये सभी ऋषि समकालीन थे, इसका निश्चित प्रमाण अलभ्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ये सातों श्री राम के समकालीन थे। अतएव पूर्ण संभव है सप्तर्षियों के नाम पर चलने वाले उनके वंश अथवा कुल में उत्पन्न समकालीन ऋषियों ने अयोध्यानाथ का अभिनन्दन किया था।

{3}

वानर, गृद्ध, नाग आदि कतिपय वनवासी जातियाँ

सामान्य जन में वानरों, गृधो तथा नागों के सम्बन्ध में आज भी अनेक भ्रम हैं। राम कथाओं के मञ्चन में आज हनुमान आदि समस्त वानर वीरों को वनर स्वरूप दिया जाता है। पूँछ के अतिरिक्त बन्दरों के मुखौटे भी यदा–कदा प्रयोग में लाये जाते हैं। इसी प्रकार जटायु, सम्पात्ति एवं गरुड़ का अभिनय करने वाला पात्र गृद्ध एवं बाज पंखों के साथ–साथ गृध अथवा बाज का मुखौटा धारण करता है। हमारे देश में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो बन्दरों को श्री राम समर्थक बन्दरों अथवा श्रीराम–भक्त हनुमान का वंशज मानते हैं।

राम–कथा का आदि ग्रन्थ वाल्मीकि कृत 'रामायण' है। इस ग्रन्थ के सम्यक् अध्ययन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि प्रभु श्री राम की सहायता में विशिष्टा भूमिका निभाने वाले वानर, रीछ, नाग अथवा गृध दण्डकारण्य एवं दक्षिण भारत के विस्तृत भू–भाग में रहने वाली वनवासी अथवा वनेचर प्रजाति के लोग थे। 'सर्वशास्त्र विशारद' एवं 'बहुभाषविद' हनुमान के आत्म परिचय के समय प्रस्तुत वार्तालाप कौशल से प्रभावित श्री राम ने अपने अनुज लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहा था :–

ना नृग्वेद विनीतस्य ना यजुर्वेदधारिणः।
ना साम वेद विदुषः शक्यमेवं विभाषितुम।।

वा.रा. 4.3.28

{अर्थात् जो ऋग्वेद की शिक्षा से विनीत न हुआ हो, जिसने यजुर्वेद को धारण न किया (अभ्यास न किया) हो, जो सामदेव का विद्वान् न हो, वह ऐसी (शुद्ध एवं सुन्दर) भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता है।}

पुनश्च–

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्यहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्।।

वही, 4.3.29

{निश्चय ही इन्होंने व्याकरणशास्त्र का बहुत बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत सी बातें बोल जाने पर भी इनके मुख से अपशब्द (अशुद्धवचन) निसृत नहीं हुआ है}

वस्तुतः श्री राम ने किष्किन्धा काण्ड के तीसरे सर्ग के श्लोक 28वें से 35 तक हनुमान के वाक्कौशल तथा बुद्धिमता की भूरि–भूरि प्रशंसा की हैं प्रचण्ड तेज सूर्यदेव के शिष्य सुग्रीव सचिव हनुमान के बुद्धि कौशल, अप्रमेय पराक्रम तथा उनकी प्रत्युत्पन्नमतिता के अनेक उदाहरण रामकथा में विद्यमान हैं।

वानर तो घोंसला तक नहीं बनाते हैं। वानर सेनाधिपति नील–सहोदर नल ने तो भरतखण्ड एवं श्री लंका के मध्य विस्तीर्ण महासागर पर सफल सेतु निर्माण कर अपने अद्भुत अभियन्त्रण–ज्ञान का परिचय दिया था। समरभूमि में दुर्द्धर्ष राक्षस सेनानी प्रतपन की आँखों को निकाल लेने (वा.रा. 6.43.24) वाले, राक्षस सेना का भयंकर संहार करने वाले (वा.रा. 6.55.30–31) तथा रावण (वही 6.59.42–43) और मेघनाद (वही 6.73.43) के विरुद्ध घोर युद्ध का साहस प्रदर्शित करने वाले श्री राम के प्रिय सेनानी यूथपति नल को बन्दर कहना या मान लेना कितना तर्क संगत है?

सुग्रीव का तत्कालीन वैश्विक भूगोल का ज्ञान तो आश्चर्यचकित कर देने वाला है। चारों दिशाओं में वानर प्रमुखों को भेजते हुए सुग्रीव

ने न केवल उस दिशा में पड़ने वाले विभिन्न देशों का विवरण प्रस्तुत किया था वरन् किस देश में किसका निवास है तथा सीता–अनुसंधान में क्या–क्या सावधानियाँ बरतनी होगी उसका भी उल्लेख किया था। ''जब श्री राम ने इनसे पूछा कि ये समस्त भूमण्डल के महत्त्वपूर्ण स्थानों से कैसे परिचित हो गये तो इन्होने इसका विस्तृत वृतान्त बताते कुए कहा था कि वालिन् के भय से वह समस्त भूमण्डल पर भागते फिरे थे और अन्ततः ऋष्यमूक पर आकर शरण ली क्योंकि यहाँ वाली का प्रवेश नहीं है'' (वा.रा. किष्कि. सर्ग 46)। ससैन्य समुद्र तट पर पहुँच कर समुद्र संतरण के विषय में विभीषण की सम्मति को सुनने के पश्चात् श्रीराम ने वानरेन्द्र सुग्रीव को राजनीति का पण्डित तथा अपने अनुज (लक्ष्मण) के तुल्य माना था। उन्होने स्पष्ट शब्दों में लक्ष्मण से पूछा था–

विभीषण मन्त्रोऽयं मम लक्ष्मण रोचते।।
सुग्रीवः पण्डितो नित्यं भवान् मन्त्रविचक्षणः।
उभाभ्यां सम्प्रधार्यार्थं क्रियादक्षं स्मितश्र्वमभाषत्।।

(वा.रा.युद्ध. 19.35–36)

{अर्थात् हे लक्ष्मण! विभीषण की सम्मति मुझे भी अच्छी लगती है, परन्तु सुग्रीव (राजनीति के) पण्डित (विद्वान्) हैं और तुम भी समयोचित सलाह देने में सदैव कुशल हो। इसी लिए तुम दोनों प्रस्तुत कार्य पर भलीभाँति विचार कर जो उचित जान पड़े वह बताओ}।

असंदिग्ध स्वामिभक्ति तथा अद्वितीय राजभक्ति के आप्त गुणों से युक्त वानरों का परिवार–प्रेम भी अप्रतिमेय था। अपने राजाधिराज सुग्रीव की राजाज्ञा पर सम्पूर्ण वानर प्रजाति ने सम्राट के मैत्री–धर्म–पालन की प्रतिज्ञा के रक्षार्थ लंकायुद्ध में अपना सर्वस्व झोंक दिया था। एक ही परिवार में कई 'यूथप' तथा ''यूथप–यूथप'' की उपस्थिति से यह प्रतीत होता है कि वानरों में सैनिक शिक्षा

प्रत्येक पुरुष के लिए अनिवार्य थी। उदाहरणस्वरूप अधोलिखित पंक्तियों में कतिपय प्रमुख परिवारों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है :–

वानर श्रेष्ठ गद्–गद् के तीन सुख्यात् पुत्रों के नाम क्रमशः धूम्र, जाम्बवन्त तथा केसरी थे। नर्मदा नदी के निकटवर्ती ऋक्षवान् पर्वत पर निवास करने वाला 'भीमाक्ष' (बड़ी–बड़ी आँखों वाला) एवं भीमदर्शन (डरावना) धूम्र ऋक्षप्रजाति के वानरों का राजा तथा यूथपति था (वा.रा. 27.5–9)। इसका अनुज जाम्बवन्त रामायण के पात्रों में हनुमान तथा सुग्रीव के पश्चात् सर्वाधिक लोकप्रिय वानर है। धूम्र का सबसे छोटा भाई तथा हनुमान के पिता होने के कारण आज भी वानरराज केसरी अभिनन्दनीय है। केसरी को घेर कर जहाँ हजारों वानर सैनिक चलते थे (वा. रा. युद्ध. 39.17–18) वहीं रणदुर्दम एवं राजनय प्रवीण जाम्बवन्त ने दस करोड़ (कोटिर्भिदशभिः) सैनिक सुग्रीव को समर हेतु उपलब्ध कराया था (वही. श्लोक 29)। शत्रुसंहारक धूम्र के सैनिकों की संख्या बीस अरब बताई गई है (वही. श्लोक 20)। जाम्बवन्त के गज, गवय, गवाक्ष, गन्धमादन एवं शरभ नामक पाँच महावीर पुत्रों ने लंका के महासमर में बढ़–चढ़ कर भाग लिया था। शरभ सम्भवतः पाँचों भाइयों में ज्येष्ठ था। यही शरभ वानरों की 'शरभ' नामक नई प्रजाति का संस्थापक अथवा जन्मदाता था (ब्रह्माण्ड पुराण. 3.7.304)। इन पाँच भाईयों को बैवस्तपुत्र भी कहा गया है (वही 6.30.26)।

सुमुख, दुर्मुख तथा वेगदर्शी नामक तीनों भाईयों को मृत्युपुत्र (यमदेव का पुत्र) कहा गया है :– ''सुमुखो दुर्मुखश्चात्र वेगदर्शी च वानरः। मृत्युर्वानररूपेण नूनं सृष्टः स्वयं भुवा।'' (वा.रा. युद्ध0 30.23)। समरभूमि में दुर्मुख ने रावण के सेनापति प्रहस्त के सचिव क्षिप्रहस्त समुन्नत को कुचलकर मार डाला था (वा.रा. युद्ध. 58.21)। इन्द्रजित के साथ युद्ध में आहत होने के पश्चात् भी वेगदर्शी ने अंगद की रक्षा में कुम्भकर्ण के बड़े पुत्र निकुम्भ से युद्ध किया था (वही. युद्ध.57.61)।

वानर सेनाधिपति नील तथा स्थापत्यकला विशारद नल दोनों धृताचक्षी के पुत्र तथा सहोदर भाई थे। दोनों को देवत्व प्रदान करने के उद्देश्य से महाकवि वाल्मीकि ने नील को अग्नि देव तथा नल को देवशिल्पी विश्वकर्मा का पुत्र बताया है। प्रथम दिवस के युद्ध में राक्षस सेनाधिपति प्रहस्त का वध करने वाले नील ने कुम्भकर्ण के पुत्र निकुम्भ के सारथि महाबली महोदर का वध किया था। इनके कुशल सेनापतित्व की प्रशंसा श्री राम ने स्वयं की थी (वा.रा. युद्ध. 128.87–88)।

वानर सेनाओं की गणना, प्रशिक्षण, अनुशासन के उत्तरदायी सैन्य सहायक श्वेत तथ प्रचण्ड पराक्रम ज्योर्तिमुख को सूर्यपुत्र कहा गया है (वही. 6.30.33)

युवराज अंगद के मातुल एवं श्वसुर तथा सुषेण–पुत्र वाली के समय वानर सेना के सेनाधिपति रह चुके मैन्द तथा उनके अनुज महाबलशाली अंगदमातुल द्विविद को अश्विनीकुमारों का पुत्र बताया गया है (वही. 6.30)। इनके देवोपम सुन्दर शरीर की प्रशंसा रावण के दूत शुक ने निम्नवत किया थाः–

यौ तौ पश्यसि तिष्ठन्तौ कुमारौ देवरुपिणौ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव ताभ्यां नास्ति समो युधि।।

(वा.रा. युद्ध. 28.6)

लंका–युद्ध में भाग लेने वाले महर्षि मरीच के दो पुत्रों मारीच तथा अर्चिष्मान का भी महाकपि द्वारा सम्मानपूर्वक उल्लेख किया गया है। महाकपि अर्चिष्मान को वानरराज ने सीता की खोज में पश्चिम दिशा में जाने वाले दल के साथ भेजा था। इसका अग्रज मारीच भी साथ था।

श्री लक्ष्मण ने अपने अग्रज के आदेश पर वानरराज सुग्रीव को उनकी सीता अनुसन्धान के प्रति प्रतिबद्धता की प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाने के उद्देश्य से अपनी पहली किष्किन्धा–यात्रा में सभी

वानर प्रमुख के भवनों को देखा था। भवनों की भव्यता, कलात्मकता एवं स्थापत्य की श्रेष्ठता दर्शनीय थी। यह नगरी दुर्गों से सुरक्षिता थी (वा.रा. किष्कि. 19.15)। गिरिगह्वर में बसी सुन्दर नगरी किष्किन्धा ध्वज पताकाओं से सुशोभित तथा ह्रष्ट–पुष्ट लोगों से भरी हुई थी– ''ह्रष्टपुष्टजनाकीर्णा पताका–ध्वजशोभिता। बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे (वही, 26.41)। वालिविक्रमपालितां (वही, 13.29)। अथवा ''सुरेशात्मज वीर्यपालिता'' (वही, 13.30)। एवं विंध्याचल तथा मेरु के समान ऊँचे–ऊँचे भवनों वाली, (वही, 33.4–8)। दिव्यमाला तथा दिव्य वस्त्र धारणकर्त्ता देवताओं तथ गन्धर्वों के समान रूपवान कामरूप (कामरूपिणः– इच्छानुसार रूपधारण करनेवाले) वानरों की ''बहुरत्नसमाकीर्णा'' इस नगरी के निवासी–निर्माता वानरों को वन्य पशु वानर मानने वालों की अज्ञता पर तरस आना स्वाभाविक है। द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी क्षिप्रता एवं प्रहारक क्षमता के कारण शत्रुओं में भय उत्पन्न करने वाले जापानी योद्धाओं को अंग्रेज तथा यूरोपियन ''एलोमंकी'' (पीले बन्दर) कहा करते थे। रुसियों को ''रशियनबीयर'' तथा अंग्रेजों को ''जानबुल'' कहा जाता था। अंग्रेज स्वयं को ''लायन'' कहते थे। इनके शब्दार्थ को मान्यता देने पर उत्पन्न होने वाली स्थिति कितनी हास्यास्पद होगी, उसकी कल्पना की जा सकती हे। महाकवि को धन्यवाद है कि उन्होंने परम विदुषी एवं रूपवती राजमहिषी तारा एवं सुग्रीव पत्नी रुमा आदि वानर स्त्रियों को पूंछ युक्त नहीं माना अन्यथा श्री रामभक्त वानरों को 'शाखामृग' का शाब्दिक अर्थ देने वालों को अपने समर्थन में एक अति सशक्त तर्क मिल जाता।

इसी भाँति जटायु को गृधपक्षी मानने वालों की भ्रान्ति के निराकरण के लिए जटायु के ज्योतिष विषयक ज्ञान का उदाहरण ही पर्याप्त हैं। रावण के साथ द्वंद्वयुद्ध में अत्यन्त अहात जटायु मरणासन्न होने पर भी सीता–वियोग में संतप्त दशरथनन्दन श्री राम का सन्ताप सहन नहीं कर पाया। उसने राम को समझाते हुए कहा कि 'हे श्री

राम! रावण जिस बिन्द–मुहुर्त में सीता को ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामी को वापस मिल जाता है :–

''येन याति मुहुर्त्तेन सीतामादाय रावणः।
विप्रणष्टं घनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते!!

– वा.रा. अरण्य. 68–12

उसने पुनः बताया कि :–

बिन्दो नाम मुहुर्तोऽसौ न च कालस्य सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं ह्रत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झषवद् वद्रिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।

– वही, श्लोक 13वाँ

{अर्थात् (हे राम!) वह विन्द नामक मुहुर्त्त था जिसको रावण नहीं जान सका था। जैसे मछली बंसी को पकड़कर शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है वही स्थिति राक्षसेश्वर रावण आपी प्रिया जानकी का हरणकर कर ली है।}

श्री राम को सान्त्वना देने हुए जटायु ने पुनः कहा था :–

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति।
वैदेह्यां रम्यसे क्षिप्रं हत्वा तम् रणमूर्द्धनि।। –वही 68.14

अर्थात् (अतएव) तुम जनकसुता के लिए व्यथा अथवा खेद न करो। युद्ध के मुहाने पर उसका (रावण का) वध कर शीघ्र ही पुनः वैदेही के साथ विहार करोगे।

जटायु के प्रति कृतज्ञ श्री राम ने अपने अनुज के साथ उसकी अन्तिम क्रिया कर उसको अपने पिता की भाँति जलाञ्जलि दी थी।

इसी भाँति गृध प्रजाति के ही गरुड़ राजा की मानवों से अभिन्नता सिद्ध करने का एक ही उदाहरण पर्याप्त है। इन्द्रजित द्वारा

नागपाश में आबद्ध अथवा सर्प–विष बुझे बाणों के प्रहार से मूर्च्छित राघव बन्धुओं के उपचारार्थ विनतानन्दन गरुड़ ने समर भूमि में पदार्पण किया था। गरुड़ के उपचार से श्री राम तथा लक्ष्मण के सारे घाव भर गये तथा उनके शरीर तत्काल ही सुन्दर तथा स्निग्ध कांति से युक्त एवं स्निग्ध हो गये। उनमें तेज, वीर्य, बल, ओज, उत्साह, दृष्टि शक्ति, बुद्धि तथा स्मरण शक्ति आदि महान् गुण पहले से भी दुगुने हो गये। फिर महातेजस्वी गरुड़ ने उन दोनों भाईयों को, जो साक्षात् इन्द्र के समान थे, उठा कर अपने हृदय से लगाया। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर श्री राम ने उनसे पूछा था कि :–

यथा तातं दशरथं यथाजं च पितामहम्।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति।।
को भवान् रुपसम्पन्नो दिव्यवस्त्रागनुलेपनः।
वसानो विरजे वस्त्रे दिव्याभरणभूषिताः।।

– वा. रा. युद्ध. 50, श्लोक 43–44

अर्थात् जैसे पिता दशरथ और पितामह अज के पास जाने से मेरा मन प्रसन्न हो उठता था वैसे ही आपको पाकर मेरा हृदय हर्ष से खिल उठा है। आप अत्यन्त रूपवान् हैं, दिव्य पुष्पों की माला और दिव्य अंगराज से विभूषित हैं। आपने अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण कर रखा है तथा दिव्य आभूषण आप की शोभा बढ़ाते हैं। हम जानना चाहते हैं कि आप कौन हैं?

तमुवाच महातेजा वैनतेयो महाबलः।
पतत्रिराजः प्रीतात्मा हर्षपर्याकुले क्षणम्।।

वा.रा. 50.45

तब महातेजस्वी महाबीर विनतानन्दन, पक्षिराज ने मन ही मन प्रसन्न हो आनन्दाश्रुओं से भरे नेत्रों सहित श्री राम से कहा थाः–

अहं सखो काकुस्थ प्रियः प्राणो बहिश्चरः।
गरुत्मानिह सम्प्राप्तौ युवयोः साह्यकारणात।।

– वा.रा. युद्ध. 50.46

काकुस्थ। मैं आपका प्रिय मित्र गरुड़ हूँ। बाहर बिचरने वाला आपका प्राण हूँ। आप दोनों की सहायता के लिए ही मैं इस समय यहाँ आया हूँ।

इसी भाँति नागों को लेकर भी बहुतों के मन में भ्रम की स्थिति हैं कई लोग 'नाग' को 'सर्प' का पर्यायवाची मान नागों को सर्प मान लेते है। राम कथा में 'सुरसा–प्रसंग' में तुलसी की उक्तियों ने इस भ्रम को और अधिक प्रगाढ़ किया है।

वस्तुतः कश्यप ऋषि एवं उनकी एक पत्नी दक्षकन्या कद्रू की अनेक सन्तानों ने नाग प्रजाति को जन्म दिया। नागों के अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटिक, पद्म, महापद्म, शंखपाल एवं कुलिक नामक आठ कुल अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। महत्त्वक्रम के अनुसार नागों के तीन प्रमुख स्थान क्रमशः नागलोक (महाभा0 उद्योग. 97.1) नागध न्वातीर्थ (सरस्वती नदी का तटवर्ती क्षेत्र जहाँ नागराज वासुकि का राज्याभिषेक हुआ था, एवं नागपुर (गोमती तट स्थित नैमिषारण्य क्षेत्र में स्थित नगर जहाँ पद्मनाभ नामक नाग का निवास था) (महाभा. शांति. 343.29)। वाल्मीकीय रामायण में उत्तर कुरु (4.43.50), महेन्द्रपर्वत (5.1.6), समुद्र (5.1.214), अरिष्टपर्वत (5.56.35) को इनका वास–स्थल बताया गया है। हनुमान के भार से अरिष्ट पर्वत के दब जाने पर नाग वहाँ से हट गये थे (5.56.49)। मन्दाकिनी का तट भी इन से सेवित (7.11.44) था। रावण ने निवात–कवचों की राजधानी मणिमयी पर आक्रमण से पूर्व नागराज वासुकि की राजधानी भोगवती पर आक्रमण कर नागों को पराजित किया था (7.23.5)। विस्तार भय से वाल्मीकिकृत रामायण में नागों की उपस्थिति विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों का उल्लेख मात्र किया जा रहा है :–

हनुमान के समुद्र–लंघन के समय ऋषि–मुनि, देवता तथा गन्धर्व जन के साथ नागों ने भी उनकी प्रशंसा के गीत गाये थे (वा. रा. सुन्दर. 85–86)। हनुमान ने लंका में राक्षसों के शयनागार में सुन्दर नितन्बों वाली चन्द्रमुखी नागकन्याओं को सोते हुए देखा था (वही, श्लोक 21–22)। श्री राम द्वारा कुम्भकर्ण के बध पर सीतापति के इस पराक्रमण को देख कर देवर्षि, महर्षि, भूतगण, गरुड़ गुह्यक, यक्ष एवं गन्धर्वगण के साथ नाग भी परम प्रसन्न हुए थे (वही, युद्ध 67.173)। खर–पुत्र मकराक्ष एवं श्री राम के मध्य हो रहे भीषण–युद्ध को देखने के लिए देव, दानव, गन्धर्व एवं किन्नर जन के अतिरिक्त प्रमुख नागगण भी एकत्र हुए थे (वही. युद्ध. 79.25)। रावणकुमार इन्द्रजित् के साथ होने वाले अन्तिम युद्ध में देवराज इन्द्र के नेतृत्व में ऋषि, पितर, गन्धर्व एवं गरुड़ के साथ मिल कर नाग भी सुमित्रा कुमार लक्ष्मण की सहायता में सन्नद्ध थे :–

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्व गरुड़ोरगाः।
शतक्रतुं पुरस्कृत्यं ररक्षुलक्ष्मणां रणे।।

–वा.रा.युद्धकाण्ड, सर्ग 90, श्लोक 62

श्री राम तथा रावण के मध्य अन्तिम युद्ध में भी नाग गणों की उपस्थिति थे। देव, दानव, यक्ष आदि के साथ नागों ने सारी रात राम–रावण–युद्ध का अवलोकन किया था (वा.रा. युद्ध. 107.65)। शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर का वध हो जाने पर देवों, नागों, ऋषियों, अप्सराओं ने समवेत स्वर में सर्प के समान लवणासुर की मृत्यु पर शत्रुघ्न की भूरि–भूरि प्रशंसा किया था (वा.रा. उत्तर. 69.40)।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वानर, गृध, गरुड़ एवं नाग भी हमारे ही समान दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र, एक मुख, एक नासिका, एक सिर वाले आर्य मानवों से भिन्न प्रजाति के लोग थे। इनमें अधिकांश वनेचर अथवा गुहावासी थे जिनका अपना अलग संसार था। उनका रहन–सहन खान–पान, वस्त्रविन्यास, उनके संस्कार

उनकी संस्कृति हम मानवों से अलग थी। कालान्तर में आर्य मानवों के बढ़ते प्रभाव ने धीरे–धीरे उनको संस्कारित कर आर्य समाज में मिलने को विवश कर दिया। परिणामतः वानर, गृद्ध नाग एवं गरुड़ गन्धर्व, आर्य आदि का नाम मात्र शेष रह गया। आर्यों से दूर रहने के कारण उनसे प्रभावित रहने के पश्चात् भी भील, शबर, पुलिन्द एवं निषाद आर्यों से आवासीय दूरी बनाने के कारण अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुए। यद्यपि उन्होंने अनेक कार्य संस्कारों को अंगीकार किया है। आर्यों ने भी खुले ह्रदय से ग्राह्य संस्कारों को स्वीकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन वनेचर मानव प्रजाति के लोगों के मानवेतर गुणों से प्रभावित होने, उनके प्रति पूर्ण एवं सटक जानकारी के अभाव अथवा उनमें दैवी शक्तियों का समावेश दिखलाने के लिए महाकवि ने उनको मानवेतर प्रजाति बताया है।

• • • •

सन्दर्भ–संकेत

1. ''अङ्गदीया पुरी रम्याप्यङ्गदस्य निवेशिता।

   रमणीया सुगुप्ता च रामेणाक्लिष्ठकर्मण।।8।। वा0रा0 उत्तर0 102–8।

   (क्लेशरहित अर्थात् आनन्ददायक कर्म करने वाले प्रभु श्री राम ने अंगद (श्री लक्ष्मण के ज्येष्ठपुत्र) के लिए अत्यन्त सुन्दर एवं सुरक्षित 'अंगदीया' पुरी को बसाया।)

2. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ0 3।

3. सुतीक्ष्ण मुनि के अनुसार उनके आश्रम से चार योजन दक्षिण में महर्षि अगस्त्य के भाई का आश्रम ''भ्रातुराश्रम'' (वा0रा0 अरण्य0 11.37) हैं अगस्त्य–भ्रात के आश्रम से सुतीक्ष्ण मुनि द्वारा बताये मार्ग से चलते हुए प्रभु श्री राम को महर्षि अगस्त्य का आश्रम दिखलाई दिया। तब उन्होने श्री लक्ष्मण से कहाः–

   ''स्निग्धपत्रा यथा वृक्ष यथा क्षान्ता मृगद्विजाः।

   आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भाकवतात्मनः।।78।।

   अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा।

   आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः।।79।। वा0रा0 अरण्य0 12.78–79

   (वृक्षों के पत्ते जैसा सुना गया है वैसे हीह कोयल तथा चिकने दिखलाई पड़ रहे हैं। यहाँ के पशु–पक्षी शान्त हैं। इससे यह स्पष्ट लगता है कि महर्षि अगस्त्य का आश्रम निकट ही है।)

4. ''अयोध्यापि पुरी रम्या शून्या वर्षगणान् बहून।

   ऋषां प्राप्य राजानं निवासमुपयास्ति।।10।। वा0 रा0 उत्तर0 111.10 ।

   (श्री राम के देहत्याग के पश्चात्) रमणीय अयोध्यापुरी बहुत वर्षों तक जनशून्य रहेगी। राजा द्धषभ (जैन तीर्थंकर) के समय यह पुनः निवास योग्य बन जायेगी।)

5. ''ऋक्षवन्तं गिरिश्रेष्ठमध्यास्ते नर्मदां पिषन्।

   सर्वर्क्षाणामधिषेतिर्धूम्रो नामैष यूथपः।।9।।

   (गिरिश्रेष्ठ ऋक्षवान पर्वत का वासी तथा नर्मदा का जलपान करने वाला ऋक्षों का राजा धूम्र नामक यूथप है।)

6. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ0 173–174।

• • • •

सन्दर्भ–ग्रन्थ (आधार ग्रन्थ) सूची–

(क) मूलग्रन्थ :

अग्निपुराण : झा, तारिणीश– हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1986 ई0 (दोनों भाग)
(2) सं0 उपाध्याय, बलदेव :–
चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, 1966 ई0।

अथर्ववेद :(हिन्दी अनुवाद सहित) विद्यालंकार, जयदेव

अर्थशास्त्र : (कौटिल्य) अनु0– गैरोला, वाचस्पति, वाराणसी, 1962 ई0।

अध्यात्मरामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर, 13वाँ संस्करण, 2020 (संवत्)।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : (कालिदास) : कालिदास ग्रन्थावली, काशी, सं0 2007

अष्टाध्यायी (पाणिनी): (1) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
(2) सं. अनु0– वसु शीलचन्द्र,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–1962 ई0.

आनन्द रामायण (महर्षि वाल्मीकि): हिन्दी अनु0– पाण्डेय, राम तेज, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1986 ई0।

उत्तररामचरितम् (भवभूति) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1978 ई0।

ऐतरेव्य ब्राह्मण : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1920 ई0।

कठसंहिता : स्वाध्याय मण्डल, पूना।

कम्ब रामायण (सात खण्ड) : सं0– शर्मा, गोपाल कृष्ण, मद्रास

कृतिवास रामायण

ऋग्वेद : (हिन्दी अनु0) :त्रिवेदी, राम गोविन्द, प्रयाग, 1954 ई0।
(2) शताधिक वर्षीया हस्तलिपि लेखक के पास।

कालिका पुराण : खेमराज, श्री कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1964 ई0।

कामन्दक नीति : (हिन्दी अनु0 सहित) : वेंकटकेश्वर प्रेस, बम्बई
(2) नीतिसार (कामन्दक): सं0. गणपति शास्त्री, टी0 त्रिवेनद्रम संस्कृत सीरीज– 15 सन् 1912 ई0।

चरकसंहिता : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

छान्दोग्य उपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2013 ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण : सायणाचार्य भाष्य सहित

धनुर्वेद संहिता (वशिष्ठ) : सं0, राय, पूर्णिमा : नन्दनगरी, दिल्ली–110093 प्रथम सं0 1990 ई.।

पद्मपुराण : रविषेण, आचार्य– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1989 ई0।

ब्रह्मपुराण : मोर, मनसुख, 5 क्लाइव रोड, कलकत्ता, 1955 ई0।

ब्रह्माण्ड पुराण : (सं0, अनु0), खेमराम, श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906 ई0 ।

भागवत पुराण : (हिन्दी भाषानुवाद) गीता प्रेस, गोरखपुर।

मत्स्य पुराण : भुवनेश्वीर आश्रम, प्रयाग, सन् 1916–17।

मनुस्मृति : (हिन्दी अनुवाद सहित) शास्त्री, हरगोविन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सं0 2017।

महापुराण : जिनसेन आचार्य– जैन संस्कृत संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् 1980।

महाभारत (व्यासकृत) छः खण्ड– गीता प्रेस, गोररखपुर
यजुर्वेद : (हिन्दी अनुवाद सहित) : विद्यालंकार जयदेव।
रामचरितमानस (तुलसीदास) : गीताप्रेस, गोरखपुर।
वाजसेनीय संहिता (महीधर उवर भष्य), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
वायुपुराण : (सं.) मित्र, राजेन्द्र लाल, कलकत्ता, 1880 ई0।
विष्णु पुराण : (हिन्दी अनु0 सहित) गीता प्रेस, गोरखपुर
(2) स्वामी श्रीधर (सटीक) प्रकाशक– जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता–1882 ई0
स्कन्दपुराण : खेमराज, श्रीकृष्णदास–वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1983।
सुश्रुत–संहिता : चौखम्बा, वाराणसी, 1960 ई0।
हनुमन्नाटक (श्री हनुमद् विरचित) : (सं0) शर्मा, रामस्वरूप, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं0 1989।
हरिवंशपुराण : गीता प्रेस गोरखपुर, सन् 1958 ई0।

ख– सहायक ग्रन्थ :–

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतंजलि कालीन भारत, पटना, सन् 1963 ई0।
अग्रवाल, वा0 श0 : (1) इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, लखनऊ, 1952 ई0।
(2) प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट ग्रन्थमाला–3, अहमदाबाद, 1964।
ओम प्रकाशः फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, दिल्ली–1961 ई0।

पाण्डेय, अजय कुमार : प्राचीन भारतीय शस्त्रास्त्रों का अध्ययन, प्र0सं0 1991 ई0, गोरखपुर।

मुकर्जी, रा0 कु0 : ऐन्श्यन्ट इण्डियन, एजूकेशन, लन्दन– 1940 ई0।

बुल्के, कामिल : रामकथा : उत्पत्ति और विकास, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण– सन् 2007 ई0।

राघव, रांगेय : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1960 ई0।

राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर एवं नगरजीवन, इलाहाबाद, 1965 ई0।

राव, राजवन्त : प्राचीन भारतीय धर्म और राजनीति, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1995 ई0।

राव, विजय बहादुर : उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति, वाराणसी, 1962 ई0।

सरकार, दि0 चं0 : द ज्योग्राफी आफ ऐन्श्यन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया।

विद्यालंकार, अत्रिदेव : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय सं0. सन् 1991 ई0।

शर्मा, रामाश्रय : ए सोश्यिो–पोलिटिकल स्ट्डी आफ द वाल्मीकि रामायण, सं0. 2028।

व्यास, एस0 एन0 : इण्डिया इन दि रामायण एज, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली–1989 ई0।

– सिंह, लल्लन जी : रामायण कालीन युद्धकला, अभिनव प्रकाशन, आगरा 1982–83 ई0।

– सिंह, सर्वदमन : ऐन्श्यन्ट इण्डियन वारफेयर, पुनर्मुद्रण 1997 ई0, दिल्ली

ग– कोश एवं पत्र–पत्रिकायें :–

– अमरकोश (अमरसिंह कृत) : व्याख्या– त्रिपाठी, ब्रह्मानन्द–चौखम्बा, वाराणसी– 1982

– ऐतिहासिक स्थानावली :माथुर, विजयेन्द्र कुमार, राजस्थान हिन्दी साहित्य अकादमी, जयपुर, 1964 ई0।

– जैनपुराणकोश : (सम्पा0) जैन, प्रवीण एवं कोठिया दरबारीलाल जैन विद्या संस्थान, महावीरजी (राज0) 1993 ई0।

– प्राचीन चरित्र कोश :चित्राव, सिद्धेश्वर शास्त्री, भारतीय चरित्रकोश मण्डल, पूना, 1964 ई0।

– भारतीय पुरा–इतिहास कोश (दो भाग) : अरुण : अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली–7

– द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐन्श्यन्ट एण्ड मेडिकल इण्डियाः डे, नन्दलाल, लन्दन–1927 ई0।

– वाल्मीकि रामयण कोश : राय, रामकुमार–चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, सन् 2007 ई0।

– वैदिक इन्डेक्स : मैकडानेल एवं कीर्थ– चौखम्बा, वाराणसी। सन् 1958 (दोनों भाग)

– शब्दकल्पद्रुम्म : राजा राधाकन्त बहादुर (पाँच खण्ड) पुनर्मुद्रण– नाग प्रकाशन दिल्ली

– इण्डिया ऐन्टिक्वेरी

– इण्डियन कल्चर

• • • •